अन्ये त्वेवमजानन्तः श्रुत्वान्येभ्य उपासते ।
तेऽपि चातितरन्त्येव मृत्युं श्रुतिपरायणाः ॥
(गीता १३ । २५)

गीताकी दो निष्ठाएँ

गीतामें दो निष्ठाएँ बतायी गयी हैं—सांख्यनिष्ठा अर्थात् ज्ञानयोग और योगनिष्ठा अर्थात् कर्मयोग—

लोकेऽस्मिन्द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ ।
ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम् ॥
(३ । ३)

'हे अर्जुन ! इस लोकमें दो प्रकारकी निष्ठा मेरे द्वारा पहले कही गयी है । उनमेंसे सांख्ययोगियोंकी निष्ठा तो ज्ञानयोगसे और योगियोंकी निष्ठा कर्मयोगसे होती है ।'

इन्हीं दो निष्ठाओंके विषयमें अर्जुनने भगवान्‌से पूछा कि आप कर्मोंके संन्यास (ज्ञानयोग)की और फिर कर्मयोगकी प्रशंसा करते हैं, तो इन दोनोंमें श्रेयकारक कौन है ? (गीता ५ । १) तो भगवान्‌ने कहा कि ये दोनों ही कल्याण करनेवाले हैं—**'निःश्रेयसकरावुभौ'** (गीता ५ । २) । फिर भगवान्‌ने कहा कि ज्ञानयोग और कर्मयोगको फलमें अलग-अलग कहनेवाले बालक हैं । समझदार पण्डितलोग उनके फलमें भिन्नता नहीं बताते; क्योंकि इन दोनोंमेंसे एकमें भी अच्छी तरहसे स्थित हो जाय अर्थात् अच्छी तरहसे अनुष्ठान कर ले, तो वह दोनोंके फलरूप तत्त्वको प्राप्त कर लेता है । ज्ञानयोगियोंके द्वारा जो स्थान प्राप्त किया जाता है अर्थात् सांख्यनिष्ठाका जो वास्तविक फल है, वही कर्मयोगियोंके द्वारा भी प्राप्त

ॐ श्रीपरमात्मने नमः

श्रीहरिः

गीताका सार



लेखक

स्वामी रामसुखदास

अलावा भी नित्य, नैमित्तिक आदि आवश्यक कर्तव्य-कर्म बाकी रह जाते हैं। अतः यह मत पूर्ण नहीं है; क्योंकि इसमें न तो कर्तृत्वका त्याग बताया है और न स्वरूपमें स्थिति ही बतायी है। परंतु भगवान्‌के मतमें कर्मोंमें कर्तृत्वाभिमान नहीं रहता और स्वरूपमें स्थिति हो जाती है। जैसे, सोलहवें श्लोकमें 'तत्रैवं सति' पदोंसे कर्तृत्वाभिमान-का निषेध करके और 'केवलम्' पदसे स्वरूपमें स्थिति बतायी गयी है।

२—'त्याज्यं दोषवदित्येके'—संन्यासके इस दूसरे मतमें सब कर्मोंको दोषकी तरह छोड़नेकी बात है। परंतु सम्पूर्ण कर्मोंका त्याग कोई कर ही नहीं सकता* और कर्ममात्रका त्याग करनेसे कोई जीवित भी नहीं रह सकता†। इस वास्ते भगवान्‌के मतमें कहा गया है कि यदि कर्तृत्वाभिमान न हो और बुद्धिमें लेप न हो, तो वह न कुछ करता है और न बँधता है अर्थात् मुक्त हो जाता है (१८। १७)।

३—'सर्वकर्मफलत्यागम्'—त्यागके इस पहले मतमें केवल फलका त्याग बताया है। यहाँ फल-त्यागके अन्तर्गत केवल कामनाके त्यागकी ही बात आयी है ‡। ममता-आसक्तिके त्यागकी बात इसके

* न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्। (गीता ३। ५)

† शरीरयात्रापि च ते न प्रसिद्ध्येदकर्मणः॥ (गीता ३। ८)

‡ जहाँ फलके त्यागकी बात कही गयी है, वहाँ फलकी कामनाका त्याग ही समझना चाहिये; क्योंकि फलका त्याग हो ही नहीं सकता। यह नियम है कि प्रत्येक कर्म फलके रूपमें परिणत होता है। जैसे, कोई खेती करता है तो वह अनाजका त्याग कैसे करेगा? व्यापार करता है तो मुनाफेका त्याग कैसे करेगा? जैसे अनाज होना खेतीका फल है, वैसे अनाज न होना भी खेतीका फल है। जैसे मुनाफा होना व्यापारका

कर्म करना राग-पूर्तिके लिये भी होता है और राग-निवृत्तिके लिये भी। कर्मयोगी राग-निवृत्तिके लिये अर्थात् करनेका राग मिटानेके लिये ही सम्पूर्ण कर्तव्य-कर्म करता है—'**आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते**' (गीता ६ । ३), '**न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते**' (गीता ३ । ४)। अपने लिये कर्म करनेसे करनेका राग बढ़ता है। इसलिये कर्मयोगी कोई भी कर्म अपने लिये नहीं करता, प्रत्युत केवल दूसरोंके हितके लिये ही करता है। उसके स्थूलशरीरमें होनेवाली 'क्रिया', सूक्ष्मशरीरमें होनेवाला 'परहित-चिन्तन' तथा कारणशरीरमें होनेवाली 'स्थिरता'—तीनों ही दूसरोंके हितके लिये होती हैं, अपने लिये नहीं। इसलिये उसका करनेका राग सुगमतासे मिट जाता है। परमात्मतत्त्वकी प्राप्तिमें संसारका राग ही बाधक है। इस वास्ते राग मिटनेपर कर्मयोगीको परमात्मतत्त्वकी प्राप्ति अपने-आप हो जाती है*।

'कर्तव्य' शब्दका अर्थ होता है—जिसको हम कर सकते हैं तथा जिसको जरूर करना चाहिये और जिसको करनेसे उद्देश्यक सिद्धि जरूर होती है। उद्देश्य वही कहलाता है, जो नित्यसिद्ध अ अनुत्पन्न है अर्थात् जो अनादि है और जिसका कभी विनाश न होता। इस उद्देश्यकी सिद्धि मनुष्यजन्ममें ही होती है और उ सिद्धिके लिये ही मनुष्यशरीर मिला है, न कि कर्मजन्य परिस्थि सुख-दुःख भोगनेके लिये। कर्मजन्य परिस्थिति वह होती उत्पन्न और नष्ट होती हो। वह परिस्थिति तो मनुष्यके

* तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति। (गीता ४

प्रकाशकीय निवेदन

गीता धर्म्यसंवाद है, कर्त्तव्यशास्त्रकी दिव्य वाणी है । इसकी भाषा यद्यपि सरल है और शैली सरस है, फिर भी विषयकी विशिष्टतासे इसमें क्लिष्टता भी है। अतः स्वाध्याय एवं विशद परिशीलनके बिना सर्वशास्त्रमयी गीताका शास्त्रीय स्वारस्य सुगम नहीं हो पाता। यही कारण है कि गीताके विवेचनमें दक्ष विचक्षणोंमें भी मतैक्य नहीं है, जिससे गीतार्थके जिज्ञासु निःसंदिग्ध बोधसे वञ्चित रह जाते हैं। ऐसी परिस्थितिमें गीता-तत्त्वार्थको सुगमतासे अवगत करनेकी अपेक्षा सुतराम् उदित हो जाती है।

गीताका अठारहवाँ अध्याय उसका सार है। इसमें भगवान्‌द्वारा प्रतिपादित विषयोंका उपसंहार किया गया है। इस अध्यायका मनन-चिन्तन करनेसे गीताका तत्त्व-सार समझमें आ जाता है। वस्तुतः अध्यात्मशास्त्रका सार वेद, वेदोंका सार उपनिषद्, उपनिषदोंका सार गीता और गीताका सार है सर्वगुह्यतम तत्त्व भगवान्‌की प्रपत्ति—शरणागति, जिसका वर्णन इसी अध्यायके ६६वें श्लोकमें है।

प्रस्तुत पुस्तकमें गीता-सारका सुनिपुण विवेचन गीता-तत्त्वार्थके मार्मिक मन्ता एवं भारतप्रसिद्ध व्याख्याता परमश्रद्धेय स्वामीजी श्रीरामसुखदासजी महाराजने सुबोध भाषा एवं सरल-सरस शैलीमें किया है। श्रीमद्भगवद्गीतार्णवमें गोते लगा-लगाकर साधकोपयोगी अमूल्य तत्त्वरत्नोंका अन्वेषण और उनका वितरण ही आपके निष्काम-कर्ममय जीवनका लोकसंग्रही ध्येय है। आप इसका श्रेय गीतामाताकी महती कृपाको ही देते हैं।

आपकी प्रस्तुत पुस्तक अति उपादेय है। आशा है कि, प्रेमी पाठकों, साधकोंके कामकी होगी। इसके अध्ययन, मनन एवं चिन्तनसे वे गीतार्थका अवगमन कर जीवन सफल बनायेंगे।

—प्रकाशक

योगारूढ़' हो जाता है * ।

'सत्त्वसमाविष्टः'—आसक्ति आदिका त्याग होनेसे उसकी अपने स्वरूपमें, चिन्मयतामें स्वतः स्थिति हो जाती है । इस वास्ते उसे **'सत्त्वसमाविष्टः'** कहा गया है । इसीको पाँचवें अध्यायके उन्नीसवें श्लोकमें **'तस्माद्ब्रह्मणि ते स्थिताः'** पदोंसे परमात्मामें स्थित बताया गया है ।

'मेधावी'—जिसके सम्पूर्ण कार्य साङ्गोपाङ्ग होते हैं और कामनाके संकल्पसे रहित होते हैं तथा ज्ञान-अग्निसे जिसने सम्पूर्ण कर्मोंको भस्म कर दिया है, उसे पण्डित भी पण्डित (मेधावी अथवा बुद्धिमान्) कहते हैं † । कारण कि कर्मोंको करते हुए भी कर्मोंसे लिपायमान न होना बड़ी बुद्धिमत्ता है ।

इसी मेधावीको चौथे अध्यायके अठारहवें श्लोकमें **'स बुद्धिमान्मनुष्येषु'** पदोंसे सम्पूर्ण मनुष्योंमें बुद्धिमान् बताया गया है ।

कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः ।
स बुद्धिमान्मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत् ॥
(गीता ४ । १८)

* यदा हि नेन्द्रियार्थेषु न कर्मस्वनुषज्जते ।
सर्वसंकल्पसंन्यासी योगारूढस्तदोच्यते ॥
(गीता ६ । ४)

† यस्य सर्वे समारम्भाः कामसंकल्पवर्जिताः ।
ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः ॥
(गीता ४ । १९)

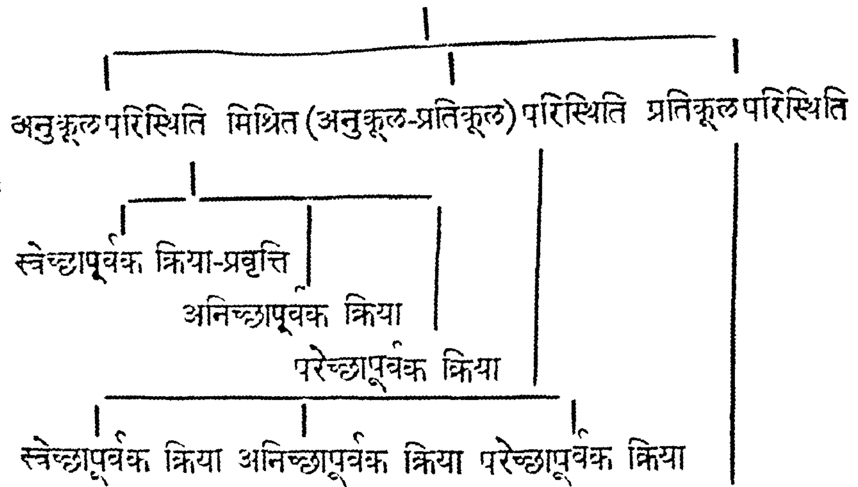
पदोंमें कहा गया है कि जो कर्मफलके त्यागी हैं, उनको कहीं भी अर्थात् यहाँ और मरनेके बाद भी कर्मफल नहीं मिलता। इससे सिद्ध होता है कि अत्यागियोंको मरनेके बाद तो कर्मफल मिलता ही है; पर यहाँ जीते-जी भी कर्मफल मिल सकता है।

'न तु संन्यासिनां क्वचित्'—संन्यासियों (त्यागियों) को कहीं भी अर्थात् इस लोकमें या परलोकमें, इस जन्ममें या मरनेके बाद भी कर्मफल भोगना नहीं पड़ता। हाँ, पूर्वजन्ममें किये हुए ोंके अनुसार इस जन्ममें उनके सामने अनुकूल या प्रतिकूल स्थिति तो आती है, पर वे अपने विवेकके बलसे उन परिस्थितियोंके ोगी नहीं बनते, उनसे सुखी-दुःखी नहीं होते अर्थात् सर्वथा निर्लिप्त रहते हैं।

संन्यासियों अर्थात् त्यागियोंको फल क्यों नहीं भोगना पड़ता? क्योंकि वे अपने लिये कुछ भी नहीं करते। कारण यह कि उनको अच्छी तरहसे यह विवेक हो जाता है कि अपना जो स्वरूप है, उसके लिये किसी भी क्रिया और वस्तुकी आवश्यकता है ही नहीं। अपने लिये पानेकी इच्छासे साधक कुछ भी करता है तो वह अपने व्यक्तित्वको ही कायम रखता है; क्योंकि वह दुनियामात्रके हितसे अपना हित अलग मानता है। जब वह दुनियामात्रके हितसे अपना हित अलग नहीं मानता अर्थात् सबके हितमें ही अपना हित मानता है तो वह स्वतः **'सर्वभूतहिते रताः'** हो जाता है। फिर उसके स्थूलशरीरसे होनेवाली क्रियाएँ, सूक्ष्मशरीरसे होनेवाला परहित-चिन्तन शरीरसे होनेवाली स्थिरता—तीनों ही संसारके मात्र

होनेपर बुरी स्फुरणाएँ सर्वथा मिट जाती हैं । इस वास्ते जीवनमुक्त पुरुषके मनमें अपवित्र बुरे विचार कभी आते ही नहीं । अगर उसके कहलानेवाले शरीरमें प्रारब्धवश व्याधि आदि किसी कारणवश कभी बेहोशी, उन्माद आदि हो जाता है तो उसमें भी वह न तो शास्त्रनिषिद्ध बोलता है और शास्त्रनिषिद्ध कुछ करता ही है; क्योंकि अन्तःकरण शुद्ध हो जानेसे शास्त्रनिषिद्ध बोलना या करना उसके स्वभावमें नहीं रहता ।

प्रारब्ध कर्म



सञ्चितमेंसे जो कर्म फल देनेके लिये सम्मुख होते हैं, उन कर्मोंको प्रारब्ध कर्म कहते हैं * । प्रारब्ध कर्मोंका फल तो अनुकूल

* 'प्रकर्षेण आरब्धः प्रारब्धः' अर्थात् अच्छी तरहसे फल देनेके लिये जिसका आरम्भ हो चुका है, वह प्रारब्ध है ।

(क) शब्द—शब्द दो तरहका होता है—वर्णात्मक और ध्वन्यात्मक। व्याकरण, कोश, साहित्य, उपन्यास, गल्प, कहानी आदि 'वर्णात्मक' शब्द हैं*। खाल, तार और फूँकके तीन बाजे और तालका आधा बाजा—ये साढ़े तीन प्रकारके बाजे 'ध्वन्यात्मक' शब्दको प्रकट करनेवाले हैं†। इन वर्णात्मक और ध्वन्यात्मक शब्दोंको सुननेसे जो सुख मिलता है, वह शब्दका सुख है।

(ख) स्पर्श—स्त्री, पुत्र, मित्र आदिके साथ मिलनेसे तथा ठण्डा, गरम, कोमल आदिसे अर्थात् त्वचाके साथ संयोग होनेसे जो सुख होता है, वह स्पर्शका सुख है।

(ग) रूप—नेत्रोंसे खेल, तमाशा, बायस्कोप, बाजीगरी, वन, पहाड़, सरोवर, मकान आदिकी सुन्दरताको देखकर जो सुख होता है, वह रूपका सुख है।

(घ) रस—मधुर (मीठा), अम्ल (खट्टा), लवण (नमकीन), कटु (कड़वा), तिक्त (तीखा) और कष

* वर्णात्मक शब्दमें भी दस रस होते हैं—शृङ्गार, हास्य, करु रौद्र, वीर, भयानक, वीभत्स, अद्भुत, शान्त और वात्सल्य। ये दस रस चित्त द्रवित होनेमें होते हैं। इन दसों रसोंका उपयोग भग लिये किया जाय तो ये सभी रस कल्याण करनेवाले हो जाते हैं और सुख भोगा जाय तो ये सभी रस पतन करनेवाले हो जाते हैं।

† ढोल, ढोलकी, तबला, पखावज, मृदङ्ग आदि 'खाल'के; सितार, सारङ्गी, मोरचंग आदि 'तार'के; मशक, पेटी (हारमोनियम), बाँसुरी, पूँगी आदि 'फूँक'के और झाँझ, मंजीरा, करताल आदि 'ताल'के बाजे हैं।

जैसे, अनुकूल परिस्थिति आनेपर मनमें अभिमान होता है, छोटोंसे घृणा होती है, अपनेसे अधिक सम्पत्तिवालोंको देखकर उनसे ईर्ष्या होती है, असहिष्णुता होती है, अन्तःकरणमें जलन होती है और मनमें ऐसे दुर्भाव आते हैं कि उनकी सम्पत्ति कैसे नष्ट हो तथा वक्तपर उनको नीचा दिखानेकी चेष्टा भी होती है। इस तरह सुख-सामग्री और धन-सम्पत्ति पासमें रहनेपर भी वह सुखी नहीं हो सकता। परंतु बाहरी सामग्रीको देखकर अन्य लोगोंको यह भ्रम होता है कि वह बड़ा सुखी है। ऐसे ही किसी विरक्त और त्यागी मनुष्यको देखकर भोग-सामग्रीवाले मनुष्यको उसपर दया आती है कि बेचारेके पास धन-सम्पत्ति आदि सामग्री नहीं है, बेचारा बड़ा दुःखी है! परंतु वास्तवमें विरक्तके मनमें बड़ी शान्ति और बड़ी प्रसन्नता रहती है। वह शान्ति और प्रसन्नता धनके कारण किसी धनीमें नहीं रह सकती। इस वास्ते धनका होनामात्र सुख नहीं है और धनका अभावमात्र दुःख नहीं है। सुख-नाम हृदयकी शान्ति और प्रसन्नताका है और दुःख-नाम हृदयकी जलन और सन्तापका है।

पुण्य और पापका फल भोगनेमें एक नियम नहीं है। पुण्य तो निष्कामभावसे भगवान्‌के अर्पण करनेसे खत्म हो सकता है, परंतु पाप भगवान्‌के अर्पण करनेसे खत्म नहीं होता। पापका फल तो भोगना ही पड़ता है; क्योंकि भगवान्‌की आज्ञाके विरुद्ध किया हुआ काम भगवान्‌के अर्पण कैसे हो सकता है? और अर्पण करनेवाला भी भगवान्‌के विरुद्ध कर्मोंको भगवान्‌के अर्पण कैसे

प्रारब्ध-सम्बन्धी अन्य बातें इस प्रकार हैं—

(१) बोध हो जानेपर भी ज्ञानीका प्रारब्ध रहता है—यह कथन केवल अज्ञानियोंको समझानेमात्रके लिये है। कारण कि अनुकूल या प्रतिकूल घटनाका घट जाना ही प्रारब्ध है। प्राणीको सुखी या दुःखी करना प्रारब्धका काम नहीं है, प्रत्युत अज्ञानका काम है। अज्ञान मिटनेपर मनुष्य सुखी-दुःखी नहीं होता। उसे केवल अनुकूलता-प्रतिकूलताका ज्ञान होता है। ज्ञान होना दोषी नहीं है। प्रत्युत सुख-दुःखरूप विकार होना दोषी है। इस वास्ते वास्तवमें ज्ञानीका प्रारब्ध नहीं होता।

(२) जैसा प्रारब्ध होता है, वैसी बुद्धि बन जाती है। जैसे, एक ही बाजारमें एक व्यापारीने माल बिक्री कर दिया और एक व्यापारीने माल खरीद लिया। बादमें जब बाजार-भाव तेज हो जाता है तो बिक्री करनेवाले व्यापारीको नुकसान होता है तथा खरीदनेवाले व्यापारीको नफा होता है; और जब बाजार-भाव मन्दा हो जाता है तो बिक्री करनेवाले व्यापारीको नफा होता है तथा खरीदनेवाले व्यापारीको नुकसान होता है। तो खरीदने और बेचनेकी बुद्धि प्रारब्धसे बनती है अर्थात् नफा या नुकसानका जैसा प्रारब्ध होता है, उसीके अनुसार पहले बुद्धि बन जाती है, जिससे प्रारब्धके अनुसार फल भुगताया जा सके। परन्तु खरीदने और बेचनेकी क्रिया न्याययुक्त की जाय अथवा अन्याययुक्त की जाय—इसमें मनुष्य स्वतन्त्र है; क्योंकि यह क्रियमाण (नया कर्म) है, प्रारब्ध नहीं।

(५) जान करके जो आत्महत्या कर लेता है, उसे 'अकाल-मृत्यु' कहते हैं। आत्महत्या करनेवालेको मनुष्यकी हत्याका पाप लगता है। यह नया पाप-कर्म है, प्रारब्ध नहीं।

दुर्घटना आदिसे जो मृत्यु हो जाती है, वह 'आकस्मिक-मृत्यु' है। स्वाभाविक मृत्युकी तरह आकस्मिकमृत्यु भी प्रारब्धके अनुसार (आयु पूरी होनेपर) होती है।

(६) एक आदमीने दूसरे आदमीको मार दिया तो यह उसने पिछले जन्मके वैरका बदला लिया और मरनेवालेने पुराने कर्मोंका फल पाया, फिर मारनेवालेका क्या दोष ?

मारनेवालेका दोष है। दण्ड देना शासकका काम है, सर्वसाधारणका नहीं। एक आदमीको दस बजे फाँसी मिलनी है। एक-दूसरे आदमीने उस (फाँसीकी सजा पानेवाले) आदमीको जल्लादोंके हाथोंसे छुड़ा लिया और ठीक दस बजे उसे कत्ल कर दिया ! ऐसी हालतमें उस कत्ल करनेवाले आदमीको भी फाँसी होगी कि यह आज्ञा तो राज्यने जल्लादोंको दी थी, पर तुम्हें किसने आज्ञा दी थी ?

मारनेवालेको यह याद नहीं है कि मैं पिछले जन्मका बदला ले रहा हूँ, फिर भी मारता है तो यह उसका दोष है। दूसरेको मारनेका अधिकार किसीको भी नहीं है। मरना कोई भी नहीं चाहता। दूसरेको मारना अपने विवेकका अनादर है। मनुष्यमात्रको विवेकशक्ति प्राप्त है और उस विवेकके अनुसार अच्छे या बुरे कार्य

'सांख्ये कृतान्ते प्रोक्तानि सिद्धये सर्वकर्मणाम्'—कर्म चाहे शास्त्रविहित हों, चाहे शास्त्रनिषिद्ध हों, चाहे शारीरिक हों, चाहे मानसिक हों, चाहे वाचिक हों, चाहे स्थूल हों और चाहे सूक्ष्म हों—इन सम्पूर्ण कर्मोंकी सिद्धिके लिये पाँच हेतु कहे गये हैं। जब पुरुषका इन कर्मोंमें कर्तृत्व रहता है तो कर्मसिद्धि और कर्म-संग्रह दोनों होते हैं और जब पुरुषका इन कर्मोंके होनेमें कर्तृत्व नहीं रहता तो कर्मसिद्धि तो होती है, पर कर्मसंग्रह नहीं होता, प्रत्युत केवल क्रियामात्र होती है। जैसे संसारमात्रमें परिवर्तन होता है अर्थात् नदियाँ बहती हैं, वायु चलती है, वृक्ष बढ़ते हैं आदि-आदि क्रियाएँ होती रहती हैं, परंतु इन क्रियाओंसे कर्मसंग्रह नहीं होता अर्थात् ये क्रियाएँ पाप-पुण्यजनक अथवा बन्धनकारक नहीं होतीं। तात्पर्य यह हुआ कि कर्तृत्वाभिमानसे ही कर्मसिद्धि और कर्मसंग्रह होता है। कर्तृत्वाभिमान मिटनेपर क्रियामात्रमें अधिष्ठान, करण, चेष्टा और दैव—ये चार हेतु ही होते हैं (१८ । १४)।

यहाँ सांख्यसिद्धान्तका वर्णन हो रहा है। सांख्यसिद्धान्तमें विवेक-विचारकी प्रधानता होती है, फिर भगवान्‌ने **'सर्वकर्मणां सिद्धये'** वाली कर्मोंकी बात यहाँ क्यों छेड़ी? क्योंकि अर्जुनके सामने युद्धका प्रसङ्ग है। क्षत्रिय होनेके नाते युद्ध उनका कर्तव्य-कर्म है। इस वास्ते कर्मयोगसे अथवा सांख्ययोगसे ऐसे कर्म करने चाहिये, जिससे कर्म करते हुए भी कर्मोंसे सर्वथा निर्लिप्त रहें—यह बात भगवान्‌को कहनी है। अर्जुनने सांख्यका तत्त्व पूछा है, इस वास्ते भगवान् सांख्यसिद्धान्तसे कर्म करनेकी बात कहना प्रारम्भ करते हैं।

ॐ श्रीपरमात्मने नमः

अथाष्टादशोऽध्यायः

अर्जुन उवाच

संन्यासस्य महाबाहो तत्त्वमिच्छामि वेदितुम् ।
त्यागस्य च हृषीकेश पृथक्केशिनिषूदन ॥ १ ॥

श्रीभगवानुवाच

काम्यानां कर्मणां न्यासं संन्यासं कवयो विदुः ।
सर्वकर्मफलत्यागं प्राहुस्त्यागं विचक्षणाः ॥ २ ॥
त्याज्यं दोषवदित्येके कर्म प्राहुर्मनीषिणः ।
यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यमिति चापरे ॥ ३ ॥
निश्चयं शृणु मे तत्र त्यागे भरतसत्तम ।
त्यागो हि पुरुषव्याघ्र त्रिविधः सम्प्रकीर्तितः
यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत्
यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम्
एतान्यपि तु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा फलानि च
कर्तव्यानीति मे पार्थ निश्चितं मतमुत्तमम्
नियतस्य तु संन्यासः कर्मणो नोपपद्यते
मोहात्तस्य परित्यागस्तामसः परिकीर्तितः

शरीर आदिको अपना न समझे और अपने लिये कोई कर्म न करे तो वे बहुत जल्दी शुद्ध हो जायँगे; अतः चाहे कर्मयोगकी दृष्टिसे इनको शुद्ध करके इनसे सम्बन्ध तोड़ ले, चाहे सांख्ययोगकी दृष्टिसे प्रबल विवेकके द्वारा इनसे सम्बन्ध तोड़ ले तो वास्तविक तत्त्वकी प्राप्ति हो जायगी। इस तरह दोनों ही साधनोंसे प्रकृति और प्रकृतिके कार्यके साथ अपने माने हुए सम्बन्धका विच्छेद हो जाता है।

जिस समष्टि-शक्तिसे संसारमात्रकी क्रियाएँ होती हैं, उसी समष्टि-शक्तिसे व्यष्टि शरीरकी क्रियाएँ भी स्वाभाविक होती हैं। विवेकको महत्त्व न देनेके कारण स्वयं उन क्रियाओंमेंसे खाना-पीना, उठना-बैठना, सोना-जगना आदि जिन क्रियाओंका कर्ता अपनेको मान लेता है, वहीं कर्मसंग्रह होता है अर्थात् वे क्रियाएँ बाँधनेवाली हो जाती हैं। परंतु जहाँ स्वयं अपनेको कर्ता नहीं मानता, वहाँ कर्मसंग्रह नहीं होता। वहाँ तो केवल क्रियामात्र होती है। इस वास्ते वे क्रियाएँ फलोत्पादक अर्थात् बाँधनेवाली नहीं होतीं। जैसे, बचपनसे जवान होना, श्वासका आना-जाना, आँखोंका खोलना-मींचना, भोजनका पाचन होना तथा रस आदि बन जाना आदि क्रियाएँ बिना कर्तृत्वाभिमानके प्रकृतिके द्वारा स्वतः स्वाभाविक हो[ती] हैं और उनका कोई कर्मसंग्रह अर्थात् पाप-पुण्य नहीं होता। [ऐसे] ही कर्तृत्वाभिमान न रहनेपर सभी क्रियाएँ प्रकृतिके द्वारा ही [होती] हैं:—ऐसा स्पष्ट अनुभव हो जाता है।

दुःखमित्येव यत्कर्म कायक्लेशभयात्त्यजेत् ।
स कृत्वा राजसं त्यागं नैव त्यागफलं लभेत् ॥ ८ ॥
कार्यमित्येव यत्कर्म नियतं क्रियतेऽर्जुन ।
सङ्गं त्यक्त्वा फलं चैव स त्यागः सात्त्विको मतः ॥ ९ ॥
न द्वेष्ट्यकुशलं कर्म कुशले नानुषज्जते ।
त्यागी सत्त्वसमाविष्टो मेधावी छिन्नसंशयः ॥ १० ॥
न हि देहभृता शक्यं त्यक्तुं कर्माण्यशेषतः ।
यस्तु कर्मफलत्यागी स त्यागीत्यभिधीयते ॥ ११ ॥
अनिष्टमिष्टं मिश्रं च त्रिविधं कर्मणः फलम् ।
भवत्यत्यागिनां प्रेत्य न तु संन्यासिनां क्वचित् ॥ १२ ॥
पञ्चैतानि महाबाहो कारणानि निबोध मे ।
सांख्ये कृतान्ते प्रोक्तानि सिद्धये सर्वकर्मणाम् ॥ १३ ॥
अधिष्ठानं तथा कर्ता करणं च पृथग्विधम् ।
विविधाश्च पृथक्चेष्टा दैवं चैवात्र पञ्चमम् ॥ १४ ॥
शरीरवाङ्मनोभिर्यत्कर्म प्रारभते नरः ।
न्याय्यं वा विपरीतं वा पञ्चैते तस्य हेतवः ॥ १५ ॥
तत्रैवं सति कर्तारमात्मानं केवलं तु यः ।
पश्यत्यकृतबुद्धित्वान्न स पश्यति दुर्मतिः ॥ १६ ॥
यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते ।
हत्वापि स इमाँल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते ॥ १७ ॥

'केवलम्' पद कर्मयोग और सांख्ययोग—दोनोंमें ही आया है। प्रकृति और पुरुषके विवेकको लेकर कर्मयोग और सांख्ययोग चलते हैं। कर्मयोगमें सब क्रियाएँ शरीर, मन, बुद्धि और इन्द्रियोंके द्वारा ही होती हैं, पर उनके साथ सम्बन्ध नहीं जुड़ता अर्थात् उनमें ममता नहीं होती। ममता न होनेसे शरीर, मन आदिकी संसारके साथ जो एकता है, वह एकता अनुभवमें आ जाती है। एकताका अनुभव होते ही स्वरूपमें स्वतःसिद्ध स्थितिका अनुभव हो जाता है। इस वास्ते कर्मयोगमें 'केवल' पद शरीर, मन, बुद्धि और इन्द्रियोंके साथ दिया गया है—'कायेन मनसा बुद्ध्या केवलैरिन्द्रियैरपि' (गीता ५। ११)।

सांख्ययोगमें विवेक-विचारकी प्रधानता है। जितने भी कर्म होते हैं, वे सब पाँच हेतुओंसे ही होते हैं, अपने स्वरूपसे नहीं। परंतु अहंकारसे मोहित अन्तःकरणवाला अपनेको कर्ता मान लेता है। विवेकसे मोह मिट जाता है। मोह मिटनेसे वह अपनेको कर्ता कैसे मान सकता है? अर्थात् उसे अपने शुद्ध स्वरूपका अनुभव हो जाता है। इस वास्ते सांख्ययोगमें 'केवल' पद स्वरूपके साथ दिया गया है—'केवलम् आत्मानम्'।

अब इसमें एक बात विशेष ध्यान देनेकी है कि कर्मयो[ग]में 'केवल' शब्द शरीर, मन आदिके साथ रहनेसे शरीर, मन, आदिके साथ 'अहं' भी संसारकी सेवामें लग जायगा और ज्यों-का-त्यों रह जायगा, और सांख्ययोगमें स्वरूपके साथ ' रहनेसे 'मैं निर्लेप हूँ; मैं शुद्ध-बुद्ध-मुक्त हूँ' इस प्रकार सू[क्ष्म]

ज्ञानं ज्ञेयं परिज्ञाता त्रिविधा कर्मचोदना ।
करणं कर्म कर्तेति त्रिविधः कर्मसंग्रहः ॥१८॥
ज्ञानं कर्म च कर्ता च त्रिधैव गुणभेदतः ।
प्रोच्यते गुणसंख्याने यथावच्छृणु तान्यपि ॥१९॥
सर्वभूतेषु येनैकं भावमव्ययमीक्षते ।
अविभक्तं विभक्तेषु तज्ज्ञानं विद्धि सात्त्विकम् ॥२०॥
पृथक्त्वेन तु यज्ज्ञानं नानाभावान्पृथग्विधान् ।
वेत्ति सर्वेषु भूतेषु तज्ज्ञानं विद्धि राजसम् ॥२१॥
यत्तु कृत्स्नवदेकस्मिन्कार्ये सक्तमहैतुकम् ।
अतत्त्वार्थवदल्पं च तत्तामसमुदाहृतम् ॥२२॥
नियतं सङ्गरहितमरागद्वेषतः कृतम् ।
अफलप्रेप्सुना कर्म यत्तत्सात्त्विकमुच्यते ॥२३॥
यत्तु कामेप्सुना कर्म साहंकारेण वा पुनः ।
क्रियते बहुलायासं तद्राजसमुदाहृतम् ॥२४॥
अनुबन्धं क्षयं हिंसामनवेक्ष्य च पौरुषम् ।
मोहादारभ्यते कर्म यत्तत्तामसमुच्यते ॥२५॥
मुक्तसङ्गोऽनहंवादी धृत्युत्साहसमन्वितः ।
सिद्ध्यसिद्ध्योर्निर्विकारः कर्ता सात्त्विक उच्यते ॥२६॥
रागी कर्मफलप्रेप्सुर्लुब्धो हिंसात्मकोऽशुचिः ।
हर्षशोकान्वितः कर्ता राजसः परिकीर्तितः ॥२७॥

'अमुक चीज चाहिये, अमुक चीज नहीं चाहिये'; 'अमुक घटना होनी चाहिये, अमुक घटना नहीं होनी चाहिये'—ऐसा बुद्धिमें लेप (द्वन्द्वमोह) नहीं रहता। अहंकृतभाव और बुद्धिमें लेप न रहनेसे उसके कर्तृत्व और भोक्तृत्व—दोनों नष्ट हो जाते हैं। नष्ट क्या हो जाते हैं। अपनेमें कर्तृत्व और भोक्तृत्व—ये दोनों ही नहीं हैं, इसका वास्तविक अनुभव हो जाता है।

प्रकृतिका कार्य स्वतः-स्वाभाविक ही चल रहा है, परिवर्तित हो रहा है और अपना स्वरूप केवल उसका प्रकाशक है—ऐसा समझकर जो अपने स्वरूपमें स्थित रहता है, उसमें 'मैं करता हूँ' ऐसा अहंकृतभाव नहीं होता; क्योंकि अहंकृतभाव प्रकृतिके कार्य शरीरको स्वीकार करनेसे ही होता है। अहंकृतभाव सर्वथा मिटनेपर उसकी बुद्धिमें 'फल मेरेको मिले' ऐसा लेप भी नहीं होता अर्थात् फलकी कामना नहीं होती।

'हत्वापि स इमाँल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते'—वह इन सम्पूर्ण लोकोंको एक साथ मार डाले तो भी वह मारता नहीं; क्योंकि उसमें कर्तृत्व नहीं है, और वह बँधता भी नहीं; क्योंकि उसमें भोक्तृत्व नहीं है। तात्पर्य यह कि उसका न क्रियाओंके साथ सम्बन्ध है और न फलके साथ सम्बन्ध है।

वास्तवमें प्रकृति ही क्रिया और फलमें परिणत होती है। पर इस वास्तविकताका अनुभव न होनेसे ही पुरुष कर्ता और भो बनता है। कारण कि जब अहंकारपूर्वक क्रिया होती है, तब व करण और कर्म—तीनों मिलते हैं और तभी कर्मसंग्रह होता

अयुक्तः प्राकृतः स्तब्धः शठोऽनैष्कृतिकोऽलसः ।
विषादी दीर्घसूत्री च कर्ता तामस उच्यते ॥ २८ ॥
बुद्धेर्भेदं धृतेश्चैव गुणतस्त्रिविधं शृणु ।
प्रोच्यमानमशेषेण पृथक्त्वेन धनंजय ॥ २९ ॥
प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च कार्याकार्ये भयाभये ।
बन्धं मोक्षं च या वेत्ति बुद्धिः सा पार्थ सात्त्विकी ॥ ३० ॥
यया धर्ममधर्मं च कार्यं चाकार्यमेव च ।
अयथावत्प्रजानाति बुद्धिः सा पार्थ राजसी ॥ ३१ ॥
अधर्मं धर्ममिति या मन्यते तमसावृता ।
सर्वार्थान्विपरीतांश्च बुद्धिः सा पार्थ तामसी ॥ ३२ ॥
धृत्या यया धारयते मनःप्राणेन्द्रियक्रियाः ।
योगेनाव्यभिचारिण्या धृतिः सा पार्थ सात्त्विकी ॥ ३३ ॥
यया तु धर्मकामार्थान्धृत्या धारयतेऽर्जुन ।
प्रसङ्गेन फलाकाङ्क्षी धृतिः सा पार्थ राजसी ॥ ३४ ॥
यया स्वप्नं भयं शोकं विषादं मदमेव च ।
न विमुञ्चति दुर्मेधा धृतिः सा पार्थ तामसी ॥ ३५ ॥
सुखं त्विदानीं त्रिविधं शृणु मे भरतर्षभ ।
अभ्यासाद्रमते यत्र दुःखान्तं च निगच्छति ॥ ३६ ॥
यत्तदग्रे विषमिव परिणामेऽमृतोपमम् ।
तत्सुखं सात्त्विकं प्रोक्तमात्मबुद्धिप्रसादजम् ॥ ३७ ॥
विषयेन्द्रियसंयोगाद्यत्तदग्रेऽमृतोपमम् ।
परिणामे विषमिव तत्सुखं राजसं स्मृतम् ॥ ३८ ॥

रहता है।' तात्पर्य यह है कि कर्मोंमें साङ्गोपाङ्ग प्रवृत्त होनेपर और जिस समय कर्मोंमें प्रवृत्ति नहीं है, उस समय भी स्वरूपकी निर्विकल्पता ज्यों-की-त्यों रहती है अर्थात् क्रिया करनेसे अथवा क्रिया न करनेसे स्वरूपमें कुछ भी फर्क नहीं पड़ता। कारण कि क्रिया-विभाग प्रकृतिमें है, स्वरूपमें नहीं।

वास्तवमें यह अहंभाव (व्यक्तित्व) ही मनुष्यमें भिन्नता करनेवाला है। अहंभाव न रहनेसे परमात्माके साथ भिन्नताका कोई कारण ही नहीं है। फिर तो केवल सबका आश्रय, प्रकाशक सामान्य चेतन रहता है। वह न तो क्रियाका कर्ता बनता है और न फलका भोक्ता ही बनता है। क्रियाओंका कर्ता और फलका भोक्ता तो पहले भी नहीं था। केवल नाशवान् शरीरके साथ सम्बन्ध मानकर जिस अहंभावको स्वीकार किया है, उसी अहंभावसे उसमें कर्तापन और भोक्तापन आया है।

'अहं' दो प्रकारका होता है—अहंस्फूर्ति और अहंकृति। गाढ़ नींदसे उठते ही सबसे पहले मनुष्यको अपने होनेपन (सत्तामात्र) का भान होता है, इसको 'अहंस्फूर्ति' कहते हैं। इसके बाद वह अपनेमें 'मैं अमुक नाम, वर्ण, आश्रम आदिका हूँ'—ऐसा आरोप करता है, यही असत्का सम्बन्ध है। असत्के सम्बन्धसे अर्थात् शरीरके साथ तादात्म्य माननेसे शरीरकी क्रियाको लेकर 'मैं करता हूँ'—ऐसा भाव उत्पन्न होता है, इसको 'अहंकृति' कहते हैं।

'अहं' को लेकर ही अपनेमें परिच्छिन्नता आती है। इस वास्ते अहंस्फूर्तिमें भी परिच्छिन्नता-(व्यक्तित्व-) का दोष रहता है;

यदग्रे चानुबन्धे च सुखं मोहनमात्मनः ।
निद्रालस्यप्रमादोत्थं तत्तामसमुदाहृतम् ॥३९॥
न तदस्ति पृथिव्यां वा दिवि देवेषु वा पुनः ।
सत्त्वं प्रकृतिजैर्मुक्तं यदेभिः स्यात्त्रिभिर्गुणैः ॥४०॥
ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्राणां च परंतप ।
कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभावप्रभवैर्गुणैः ॥४१॥
शमो दमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च ।
ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम् ॥४२॥
शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम् ।
दानमीश्वरभावश्च क्षात्रं कर्म स्वभावजम् ॥४३॥
कृषिगौरक्ष्यवाणिज्यं वैश्यकर्मस्वभावजम् ।
परिचर्यात्मकं कर्म शूद्रस्यापि स्वभावजम् ॥४४॥
स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः ।
स्वकर्मनिरतः सिद्धिं यथा विन्दति तच्छृणु ॥४५॥
यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम् ।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः ॥४६॥
श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात् ।
स्वभावनियतं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम् ॥४७॥
सहजं कर्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजेत् ।
सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः ॥४८॥
असक्तबुद्धिः सर्वत्र जितात्मा विगतस्पृहः ।
नैष्कर्म्यसिद्धिं परमां संन्यासेनाधिगच्छति ॥४९॥

भगवान्‌को यहाँ खास बात यह बतानी है कि कर्म-संग्रह कैसे होता है ? अर्थात् कर्म बाँधनेवाला कैसे होता है ? कर्म बननेके तीन हेतु बताते हुए भगवान्‌का लक्ष्य मूल हेतु 'कर्ता' बतानेमें है; क्योंकि कर्मसंग्रहका खास सम्बन्ध कर्तासे है। कर्तापन न हो तो कर्म-संग्रह नहीं होता, केवल क्रियामात्र होती है।

कर्म-संग्रहमें 'करण' हेतु नहीं है; क्योंकि करण कर्ताके अधीन होता है। कर्ता जैसा कर्म करना चाहता है, वैसा ही कर्म होता है, इसलिये 'कर्म' भी कर्मसंग्रहमें खास हेतु नहीं है। सांख्यसिद्धान्तके अनुसार खास बाँधनेवाला है—अहंकृत-भाव और इसीसे कर्मसंग्रह होता है। अहंकृतभाव न रहनेसे कर्मसंग्रह नहीं होता अर्थात् कर्म फलजनक नहीं होता। इस मूलका ज्ञान करानेके लिये ही भगवान्‌ने करण और कर्मको पहले रखकर कर्ताको कर्मसंग्रहके पासमें रखा है, जिससे यह ख्यालमें आ जाय कि बाँधनेवाला 'कर्ता' ही है।

सम्बन्ध—

गुणातीत होनेके उद्देश्यसे अब अगले श्लोकसे त्रिगुणात्मक पदार्थोंका प्रकरण आरम्भ करते हैं।

श्लोक—

ज्ञानं कर्म च कर्ता च त्रिधैव गुणभेदतः।
प्रोच्यते गुणसंख्याने यथावच्छृणु तान्यपि ॥ १९ ॥

'ज्ञानं कर्म च कर्ता च त्रिधैव गुणभेदतः'—पिछले श्लोकमें भगवान्‌ने किसी कर्मकी प्रेरणा होनेमें तीन हेतु बताये तथा तीन ही हेतु किसी कर्मके बननेमें बताये। इस प्रकार कर्मसंग्रह होनेतकमें

सिद्धिं प्राप्तो यथा ब्रह्म तथाप्नोति निबोध मे ।
समासेनैव कौन्तेय निष्ठा ज्ञानस्य या परा ॥५०॥
बुद्ध्या विशुद्धया युक्तो धृत्यात्मानं नियम्य च ।
शब्दादीन्विषयांस्त्यक्त्वा रागद्वेषौ व्युदस्य च ॥५१॥
विविक्तसेवी लघ्वाशी यतवाक्कायमानसः ।
ध्यानयोगपरो नित्यं वैराग्यं समुपाश्रितः ॥५२॥
अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं परिग्रहम् ।
विमुच्य निर्ममः शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥५३॥
ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति ।
समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम् ॥५४॥
भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः ।
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम् ॥५५॥
सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयः ।
मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम् ॥५६॥
चेतसा सर्वकर्माणि मयि संन्यस्य मत्परः ।
बुद्धियोगमुपाश्रित्य मच्चित्तः सततं भव ॥५७॥
मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात्तरिष्यसि ।
अथ चेत्त्वमहंकारान्न श्रोष्यसि विनङ्क्ष्यसि ॥५८॥
यदहंकारमाश्रित्य न योत्स्य इति मन्यसे ।
मिथ्यैष व्यवसायस्ते प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति ॥५९॥
स्वभावजेन कौन्तेय निबद्धः स्वेन कर्मणा ।
कर्तुं नेच्छसि यन्मोहात्करिष्यस्यवशोऽपि तत् ॥६०॥

सम्बन्ध—

अब सात्त्विक ज्ञानका वर्णन करते हैं ।

श्लोक—

सर्वभूतेषु येनैकं भावमव्ययमीक्षते ।
अविभक्तं विभक्तेषु तज्ज्ञानं विद्धि सात्त्विकम् ॥ २० ॥

व्याख्या—

'सर्वभूतेषु येनैकं भावमव्ययमीक्षते'—जिस ज्ञानके द्वारा साधक स्थावर-जङ्गम आदि सम्पूर्ण विभक्त प्राणियोंमें एक अविभक्त अविनाशी भाव-(सत्ता-) को देखता है, वह ज्ञान 'सात्त्विक' है । व्यक्ति, वस्तु आदिमें जो 'है'-पन दीखता है, वह उन व्यक्ति, वस्तु आदिका नहीं है, प्रत्युत सबमें परिपूर्ण परमात्माका ही है । उन व्यक्ति, वस्तु आदिकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं है; क्योंकि उनमें प्रतिक्षण परिवर्तन हो रहा है । कोई भी व्यक्ति, वस्तु आदि ऐसी नहीं है, जिसमें परिवर्तन न होता हो; परंतु अपनी अज्ञता-(बेसमझी-) से उनकी सत्ता दीखती है ।

जब अज्ञता मिट जाती है, ज्ञान हो जाता है तो साधककी दृष्टि उस अविनाशी तत्त्वकी तरफ ही जाती है, जिसकी सत्तासे यह सब सत्तावान् हो रहा है ।

'अविभक्तं विभक्तेषु'—ज्ञान होनेपर साधककी दृष्टि परिवर्तनशील वस्तुओंको भेदकर परिवर्तनरहित तत्त्वकी ओर ही जाती है* । फिर वह विभक्त अर्थात् अलग-अलग वस्तु, व्यक्ति, परिस्थिति,

---

* समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम् ।
विनश्यत्स्वविनश्यन्तं यः पश्यति स पश्यति ॥ (गीता-१३ । २७)
'जो पुरुष नष्ट होते हुए सम्पूर्ण चराचर भूतोंमें परमेश्वरको नाशरहित और समभावसे स्थित देखता है, वही यथार्थ देखता है ।'

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति ।
भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया ॥ ६१ ॥
तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत ।
तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम् ॥ ६२ ॥
इति ते ज्ञानमाख्यातं गुह्याद् गुह्यतरं मया ।
विमृश्यैतदशेषेण यथेच्छसि तथा कुरु ॥ ६३ ॥
सर्वगुह्यतमं भूयः शृणु मे परमं वचः ।
इष्टोऽसि मे दृढमिति ततो वक्ष्यामि ते हितम् ॥ ६४ ॥
मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु ।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे ॥ ६५ ॥
सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥ ६६ ॥
इदं ते नातपस्काय नाभक्ताय कदाचन ।
न चाशुश्रूषवे वाच्यं न च मां योऽभ्यसूयति ॥ ६७ ॥
य इमं परमं गुह्यं मद्भक्तेष्वभिधास्यति ।
भक्तिं मयि परां कृत्वा मामेवैष्यत्यसंशयः ॥ ६८ ॥
न च तस्मान्मनुष्येषु कश्चिन्मे प्रियकृत्तमः ।
भविता न च मे तस्मादन्यः प्रियतरो भुवि ॥ ६९ ॥
अध्येष्यते च य इमं धर्म्यं संवादमावयोः ।
ज्ञानयज्ञेन तेनाहमिष्टः स्यामिति मे मतिः ॥ ७० ॥
श्रद्धावाननसूयश्च शृणुयादपि यो नरः ।
सोऽपि मुक्तः शुभाँल्लोकान्प्राप्नुयात्पुण्यकर्मणाम् ॥ ७१ ॥

सर्वदेशीय और असीम है तथा 'मैं' एकदेशीय और सीमित है। उस प्रकाशमें जैसे 'मैं' का भान होता है, वैसे ही 'तू', 'यह' और 'वह' का भी भान होता है। वह प्रकाश किसीका भी विषय नहीं है। वास्तवमें वह प्रकाश निर्गुण ही है; परंतु व्यक्ति-विशेषमें रहनेवाला होनेसे (वृत्तियोंके सम्बन्धसे) उसे 'सात्त्विक ज्ञान' कहते हैं।

इस सात्त्विक ज्ञानको दूसरे ढंगसे इस प्रकार समझना चाहिये—'मैं', 'तू', 'यह' और 'वह'—ये चारों ही किसी प्रकाशमें काम करते हैं। इन चारोंके अन्तर्गत सम्पूर्ण प्राणी आ जाते हैं, जो विभक्त हैं और इनका जो प्रकाशक है, वह अविभक्त (विभाग-रहित) है।

बोलनेवाला 'मैं', उसके सामने सुननेवाला 'तू' और पासवाला 'यह' तथा दूरवाला 'वह' कहा जाता है अर्थात् बोलनेवाला अपनेको 'मैं' कहता है, सामनेवालेको 'तू' कहता है, पासवालेको 'यह' कहता है और दूरवालेको 'वह' कहता है। जो 'तू' बना हुआ था, वह 'मैं' हो जाय तो 'मैं' बना हुआ 'तू' हो जायगा और 'यह' तथा 'वह' वही रहेंगे। इसी प्रकार 'यह' कहलानेवाला अगर 'मैं' बन जाय तो 'तू' कहलानेवाला 'यह' बन जायगा और 'मैं' कहलानेवाला 'तू' बन जायगा। 'वह' परोक्ष होनेसे अपनी जगह ही रहा। अब 'वह' कहलानेवाला 'मैं' बन जायगा तो उसकी

कच्चिदेतच्छ्रुतं पार्थ त्वयैकाग्रेण चेतसा।
कच्चिदज्ञानसंमोहः प्रनष्टस्ते धनंजय ॥७२॥

अर्जुन उवाच

नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत।
स्थितोऽस्मि गतसन्देहः करिष्ये वचनं तव ॥७३॥

संजय उवाच

इत्यहं वासुदेवस्य पार्थस्य च महात्मनः।
संवादमिममश्रौषमद्भुतं रोमहर्षणम् ॥७४॥
व्यासप्रसादाच्छ्रुतवानेतद्गुह्यमहं परम्।
योगं योगेश्वरात्कृष्णात्साक्षात्कथयतः स्वयम् ॥७५॥
राजन्संस्मृत्य संस्मृत्य संवादमिममद्भुतम्।
केशवार्जुनयोः पुण्यं हृष्यामि च मुहुर्मुहुः ॥७६॥
तच्च संस्मृत्य संस्मृत्य रूपमत्यद्भुतं हरेः।
विस्मयो मे महान्राजन्हृष्यामि च पुनः पुनः ॥७७॥
यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः।
तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम ॥७८॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे मोक्षसंन्यासयोगो नामाष्टादशोऽध्यायः ॥ १८ ॥

दूसरा कौन है; इत्यादि ऐसी मान्यता मूढ़ताके कारण ही होती है, इस वास्ते भगवान्‌ने कहा है—'**इत्यज्ञानविमोहिताः**' (१६ । १५)

'**अहैतुकम्**'—तामस पुरुषकी मान्यता युक्ति और शास्त्रप्रमाणसे विरुद्ध होती है । यह शरीर हरदम बदल रहा है, शरीरादि वस्तुमात्र अभावमें परिवर्तित हो रही है, दृश्यमात्र अदृश्य हो रहा है और इनमें तू सदा ज्यों-का-त्यों रहता है तो यह शरीर और तू एक कैसे हो सकते हैं ?—इस प्रकारकी युक्तियोंको वह स्वीकार नहीं करता ।

'**अतत्त्वार्थवदल्पं च**'—यह 'शरीर' और 'मैं', दोनों अलग-अलग हैं—इस वास्तविक ज्ञान (विवेक) से वह रहित है । उसकी समझ अत्यन्त तुच्छ है अर्थात् तुच्छताकी प्राप्ति करानेवाली है । इस वास्ते इसको 'ज्ञान' कहनेमें भगवान्‌को संकोच हुआ है । कारण कि तामस पुरुषमें मूढ़ताकी प्रधानता होती है । मूढ़ता और ज्ञानका आपसमें विरोध है । इस वास्ते भगवान्‌ने 'ज्ञान' पद न देकर 'यत्' और 'तत्' पदसे ही काम चलाया है ।

'**तत्तामसमुदाहृतम्**'—युक्तिरहित, अल्प और अत्यन्त तुच्छ समझको ही महत्त्व देना 'तामस' कहा गया है ।

जब तामस समझ 'ज्ञान' है ही नहीं और भगवान्‌को भी इसको 'ज्ञान' कहनेमें संकोच हुआ है तो फिर इसका वर्णन ही क्यों किया गया ? कारण कि भगवान्‌ने उन्नीसवें श्लोकमें ज्ञानके त्रिविध भेद कहनेका उपक्रम किया है, इस वास्ते सात्त्विक और राजस-ज्ञानका वर्णन करनेके बाद तामस समझको भी कहनेकी आवश्यकता थी ।

॥ ॐ श्रीपरमात्मने नमः ॥

प्राक्कथन

यस्य श्रीकरुणार्णवस्य करुणालेशेन बालो ध्रुवः
स्वेष्टं प्राप्य समार्यधाम समगाद्रङ्कोऽप्यविन्दच्छ्रियम् ।
याता मुक्तिमजामिलादिपतिताः शैलोऽपि पूज्योऽभवत्
तं श्रीमाधवमाश्रितेष्टदमहं नित्यं शरण्यं भजे ॥

'जिन करुणासिन्धु भगवान्‌की करुणाके लेशमात्रसे बालक ध्रुवने इष्ट वस्तुको प्राप्त करके श्रेष्ठ पुरुषोंके लोकको प्राप्त किया, दरिद्री सुदामाने लक्ष्मीको प्राप्त किया, अजामिल आदि पापियोंने मुक्तिको प्राप्त किया और गोवर्धन पर्वत भी पूज्य बन गया (इस तरह बालक, दरिद्री, पापी और पत्थरका भी उद्धार हो गया) उन शरणागत भक्तोंको इष्ट पदार्थ देनेवाले शरण्य भगवान् माधवको मैं नित्य भजता हूँ ।'

गीताकी महिमा

श्रीमद्भगवद्गीताकी महिमा अगाध और असीम है । यह भगवद्गीता-ग्रन्थ प्रस्थानत्रयमें माना जाता है । प्रस्थानत्रयका अर्थ है कि परमात्मतत्त्वकी प्राप्तिमें जितने मार्ग हैं, उनको बतानेवाले उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र और भगवद्गीता—ये तीन हैं । शङ्कराचार्य, रामानुजाचार्य, वल्लभाचार्य, निम्बार्काचार्य आदि जितने आचार्य हुए हैं, उन्होंने अपने मतको सिद्ध करनेके लिये इन तीनोंके ऊपर भाष्य लिखे हैं; इसी कारण जनताने उनके मतोंको स्वीकार किया है ।

तू भगवान्‌के ध्यानमें रचा हुआ होता तो मुझे पहचान लेता ? कौन आया, कैसे आया, मनुष्य था कि पशु-पक्षी था, क्या था, क्या नहीं था, कौन ऊपर आया, कौन नीचे आया, किसने पैर रखा—इधर तेरा ख्याल ही क्यों जाता ? तात्पर्य है कि एक भगवान्‌को छोड़कर किसीकी तरफ ध्यान ही कैसे जाय ? दूसरी बातोंका पता ही कैसे लगे ? जबतक दूसरी बातोंका पता लगता है, तबतक वह शरण कहाँ हुआ ?

कौरव-पाण्डव जब लड़के थे तो वे अस्त्र-शस्त्र सीख रहे थे। सीखकर जब तैयार हो गये तो उनकी परीक्षा ली गयी। एक वृक्षपर एक बनावटी चिड़िया बैठा दी गयी और सबसे कहा गया कि उस चिड़ियाके कण्ठपर तीर मारकर दिखाओ। एक-एक करके सभी आने लगे। गुरुजी पहले सबसे अलग-अलग पूछते कि बताओ, तुम्हें वहाँ क्या दीख रहा है ? तो कोई कहता कि हमें तो वृक्ष दीखता है; कोई कहता कि हमें तो टहनी दीखती है; कोई कहत कि हमें तो चिड़िया दीखती है, चोंच भी दीखती है, पंख दीखते हैं। ऐसा कहनेवालोंको वहाँसे हटा दिया गया। जब अर्जु की बारी आयी तो उनसे पूछा गया कि तुमको क्या दीखता तो अर्जुनने कहा कि मेरेको तो केवल कण्ठ ही दीखता है कुछ भी नहीं दीखता। तब अर्जुनसे बाण मारनेके लिये गया। अर्जुनने अपने बाणसे उस चिड़ियाका कण्ठ वेध क्योंकि उसकी लक्ष्यपर दृष्टि ठीक थी। अगर चिड़िया दीख वृक्ष, टहनी आदि दीखते हैं तो लक्ष्य कहाँ सँधा है ? अ

प्रस्थानत्रयमें वेदोंका शिरोभाग 'उपनिषद्' कहलाता है। दार्शनिकोंका अन्तिम तत्त्व 'ब्रह्मसूत्र' (उत्तरमीमांसा) कहलाता है। भगवद्गीता इन दोनोंके समकक्ष कहलाती है, जो कि महाभारतरूप इतिहास-ग्रन्थमें सम्मिलित है। उपनिषदोंके मंत्र हैं, ब्रह्मसूत्रके सूत्र हैं और भगवद्गीताके श्लोक हैं। परंतु भगवद्गीताके श्लोक भगवान्‌की वाणी होनेसे मन्त्ररूप हैं और सरल होनेपर भी तात्पर्य गम्भीर होनेसे सूत्ररूप हैं। इस प्रकार भगवद्गीता उपनिषद् और ब्रह्मसूत्रके समकक्ष है। दूसरी बात, उपनिषद् अधिकारी पुरुषोंके कामकी चीज है, ब्रह्मसूत्र विद्वानोंके कामकी चीज है, परंतु गीता सभीके कामकी चीज है। इसको विद्वत्ताके बिना भी सब समझ सकते हैं।

भगवद्गीता एक अलौकिक, विचित्र ग्रन्थ है। इसमें साधकके लिये उपयोगी पूरी सामग्री मिलती है, चाहे वह किसी भी देशका, किसी भी वेषका, किसी भी वर्णका, किसी भी आश्रमका, किसी भी सम्प्रदायका, किसी भी समुदायका कोई व्यक्ति क्यों न हो। कारण इसका यह है कि इसमें किसी समुदाय-विशेषकी निन्दा या प्रशंसा नहीं है, प्रत्युत इसमें वास्तविक तत्त्वकी ही प्रशंसा है।

वास्तविक तत्त्व क्या है? वास्तविक तत्त्व वह है, जो सम्पूर्ण परिवर्तनशील प्रकृति और प्राकृत पदार्थोंसे सर्वथा अतीत और नित्य-निरन्तर एकरस-एकरूप रहनेवाला है। जो जहाँ है और जैसा है, वास्तविक तत्त्व वहाँ वैसा ही पूर्णरूपसे विद्यमान है। परंतु परिवर्तनशीलके रागके कारण उसका अनुभव नहीं होता।

संजयने पिछले श्लोकमें भगवान् कृष्ण और अर्जुनके संवादको 'अद्भुत' बताया और यहाँ भगवान्के विराट्‌रूपको 'अत्यन्त अद्भुत' बताते हैं। इसका तात्पर्य है कि संवादको तो अब भी पढ़ सकते हैं, उसका विचार कर सकते हैं, पर उस विराट्‌रूपके दर्शन अब नहीं हो सकते। इस वास्ते वह रूप अत्यन्त अद्भुत है।

ग्यारहवें अध्यायके नवें श्लोकमें संजयने भगवान्‌को **'महायोगेश्वरः'** कहा है। यहाँ **'विस्मयो मे महान्'** पदोंसे कहते हैं कि ऐसे महायोगेश्वर भगवान्‌के रूपको याद करनेसे महान् विस्मय होगा ही। दूसरी बात, अर्जुनको तो भगवान्‌ने कृपासे द्रवित होकर विश्वरूप दिखाया, पर मेरेको तो व्यासजीकी कृपासे देखनेको मिल गया।

अर्जुनने जब यह कहा कि महाराज! मैं आपके विराट्‌रूपको देख सकता हूँ कि नहीं? तो भगवान्‌ने अर्जुनको अपना रूप दिखाया। भगवान्‌ने कहा कि मेरे आश्चर्यमय रूपोंको तू मेरे शरीरके एक देशमें देख—**'इहैकस्थं……मम देहे'** (११।७)। एक देशमें देखनेका अर्थ हुआ कि तू जहाँ दृष्टि लगायेगा, वहीं तुम्हारेको अनन्त ब्रह्माण्ड दीखेंगे। भगवान्‌के शरीरमें सब बातें वर्तमान थीं अर्थात् जो बातें भूतकालमें बीत गयी हैं और जो भविष्यमें बीतनेवाली हैं, सब बातें भगवान्‌के शरीरमें वर्तमान थीं। इस वास्ते भगव **'यच्चान्यद्द्रष्टुमिच्छसि'** (११।७) पदसे अर्जुनको यह कहा कि तेरे मनमें यह जो जाननेकी इच्छा है कि जीतेगा? किस पक्षमें क्या होगा? कौन मरेगा? वह स शरीरमें देख ले। इस प्रकार भगवान्‌ने चार बार 'पश्य

सर्वथा राग-रहित होनेपर उसका स्वतः अनुभव हो जाता है। इस वास्तविक तत्त्वका अधिकारी वही है, जो परिवर्तनशील सुखमें कभी बँधता नहीं, अटकता नहीं। अर्जुन अपने लिये कर्तव्यका निर्णय तो नहीं कर सके, पर 'राज्य मिलनेसे सुख हो जायगा'—ऐसा वहम उनको नहीं था। हरेकके जीवनमें ऐसी हलचल आती ही है, फिर भी वह अपनी पुरानी चाल यानी सुखकी आसक्ति नहीं छोड़ता—यही उससे गलती होती है।

गीताकी भाषा सरल है और भाव बड़े गम्भीर हैं। साधनोंका वर्णन करनेमें, विस्तारपूर्वक समझानेमें, एक-एक साधनको कई बार कहनेमें संकोच नहीं किया गया है, फिर भी ग्रन्थका कलेवर नहीं बढ़ा है। ऐसा संक्षेपमें विस्तारपूर्वक यथार्थ और पूरी बात बतानेवाला कोई ग्रन्थ नहीं दीखता। मनुष्य हरेक परिस्थितिमें परमात्मतत्त्वको प्राप्त कर सकता है; युद्ध-जैसी घोर परिस्थितिमें भी अपना कल्याण कर सकता है—व्यवहारमात्रमें ऐसी परमार्थकी कला गीतामें सिखायी गयी है। इस वास्ते इसके जोड़ेका दूसरा कोई ग्रन्थ देखनेमें नहीं आता।

गीताका मन लगाकर पाठ करनेमात्रसे शान्ति मिलती है। इसकी विधि यह है कि गीताके पूरे श्लोक अर्थसहित कण्ठस्थ कर ले, फिर एकान्तमें बैठकर गीताके अन्तिम श्लोक—'यत्र योगेश्वरः कृष्णः…' (१८।७८)—यहाँसे लेकर गीताके पहले श्लोक 'धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे ……' (१ । १)—यहाँतक बिना पुस्तकके उलटा पाठ

गीताकी प्रचलित प्रतिके अनुसार अठारह अध्यायोंके सम्पूर्ण श्लोक जोड़नेपर ५७४ श्लोक भगवान् श्रीकृष्णके, ८४ अर्जुनके, ४१ संजयके और एक श्लोक धृतराष्ट्रका है, जिनका कुल योग ७०० होता है। इन सात सौ श्लोकोंमें ६४४ श्लोक बत्तीस अक्षरोंके हैं, एक श्लोक (११ । १) तैंतीस अक्षरोंका है, ५१ श्लोक चौवालीस अक्षरोंके हैं, तीन श्लोक (२ । २९, ८ । १० अ

—तियोंमें पाये जाते हैं और दूसरे, गीताका गहराईसे विचार करनेपर लोकोंके अनुसार गीता-परिमाणकी संगति ठीक-ठीक बैठ जाती है।

महाभारतकी जिन प्रतियोंमें हमें गीता-परिमाणबोधक उपर्युक्त मिले हैं, उनका परिचय इस प्रकार है—

(१) गीताप्रेस, गोरखपुरसे प्रकाशित—
पृ० २८१३

(२) सनातनधर्म प्रेस, मुरादाबादसे प्रकाशित—
श्रीरामस्वरूपकृत हिन्दी टीका, पृ० १८४

(३) महाभारत प्रकाशक मण्डल, मालीवाड़ा, दिल्लीसे प्रकाशित—
श्रीगंगाप्रसाद शास्त्रीकृत हिन्दी टीका, पृ० ३८७

(४) स्वाध्याय मण्डलद्वारा प्रकाशित—
श्रीपाद दामोदर सातवलेकरकृत हिन्दी टीका, पृ० २२१

(५) श्रीद्वारकाप्रसाद शर्माद्वारा किया महाभारतका हिन्दी अनुवादमात्र, पृ० १४६

(६) महाभारतकी नीलकण्ठी टीका—
मूलमें गीता-परिमाणबोधक श्लोक दिये हैं; किंतु उ टीका न करके 'गीता सुगीता कर्तव्या' इत्यादयः र पञ्च श्लोकाः गौडैर्न पठ्यन्ते' ऐसा लिखा है।

करता चला जाय तो बड़ी शान्ति मिलती है। कोई भी करके देख सकता है।

गीता एक प्रासादिक ग्रन्थ है। इसका आश्रय लेकर पाठ करनेमात्रसे बड़े विचित्र, अलौकिक और शान्तिदायक भाव स्फुरित होते हैं। गीताका प्रतिदिन एक या अनेक बार पाठ किया जाय तो उससे गीताके विशेष अर्थ स्फुरित होते हैं। मनमें कोई शङ्का होती है तो पाठ करते-करते उसका समाधान हो जाता है। इस वास्ते सब भाई-बहनोंको गीताके भावोंको हृदयङ्गम करना चाहिये और उसके अनुसार अपना जीवन बनाना चाहिये।

गीताका तात्पर्य

गीता किसी वादको लेकर नहीं चली है अर्थात् द्वैत, अद्वैत, विशिष्टाद्वैत, द्वैताद्वैत, विशुद्धाद्वैत, अचिन्त्यभेदाभेद आदि किसी वादको, किसी एक सम्प्रदायके किसी एक सिद्धान्तको लेकर नहीं चली है। गीतामें खास लक्ष्य यह रखा गया है कि मनुष्यमात्रका प्रत्येक परिस्थितिमें कल्याण हो जाय, वह किसी भी परिस्थितिमें परमात्मप्राप्तिसे वञ्चित न रहे, क्योंकि मनुष्य-मात्रका जन्म केवल अपने कल्याणके लिये ही हुआ है। संसारमें ऐसी कोई भी परिस्थिति नहीं है, जिसमें मनुष्यका कल्याण न हो सकता हो। कारण कि ...त्मा प्रत्येक परिस्थितिमें समानरूपसे विद्यमान हैं। इस वास्ते ...कके सामने कोई भी और कैसी भी परिस्थिति आये, उसका ...ल सदुपयोग करना है। सदुपयोग करनेका अर्थ है—दुःखदायी ...रिस्थिति आनेपर सुखकी इच्छाका त्याग करना और सुखदायी

होंगे तो 'श्रीकृष्णार्जुन-संवाद' ही नहीं बन पायेगा। अतः 'अर्जुन उवाच' तो भगवत्प्रेरित ही है और शङ्कामात्र अर्जुनकी है।

लोकसंग्राहक श्रीभगवान्

अठारहवें अध्यायके ७२वें श्लोकमें भगवान् स्वयं ही प्रश्न कर रहे हैं एवं ७३वें श्लोकमें लोकसंग्रहके लिये अर्जुनके माध्यमसे स्वयं ही उत्तर दे रहे हैं।

भगवान् और संत-महात्माओंकी वाणीमें कई जगह ऐसा पाया जाता है कि वे स्वयं ही साधक बनकर प्रश्न करते हैं एवं गुरु बनकर उत्तर भी देते हैं। उदाहरणार्थ, अनुगीता (महाभारत)में स्वयं श्रीभगवान्ने अर्जुनके प्रति यह रहस्य प्रकट किया है—

अहं गुरुर्महाबाहो मनः शिष्यं च विद्धि मे।
त्वत्प्रीत्या गुह्यमेतच्च कथितं ते धनञ्जय॥
(महा० आश्वमेधिक० ५१।४६)

'महाबाहो! मैं ही गुरु हूँ और मेरे मनको ही शिष्य समझो। धनञ्जय! तुम्हारे स्नेहवश मैंने इस रहस्यका वर्णन किया है।'

श्रीशङ्कराचार्यजी महाराजकी वाणीमें भी ऐसा आता है कि वे स्वयं ही शिष्य बनकर प्रश्न करते हैं और स्वयं ही गुरु बनकर उत्तर देते हैं—

अपारसंसारसमुद्रमध्ये सम्मज्जतो मे शरणं किमस्ति।
गुरो कृपालो कृपया वदैतद्विश्वेशपादाम्बुजदीर्घनौका॥
(प्रश्नोत्तरी १)

परिस्थिति आनेपर सुखभोगका तथा 'वह बनी रहे' ऐसी इच्छाका त्याग करना और उसे दूसरोंकी सेवामें लगाना। इस प्रकार सदुपयोग करनेसे मनुष्य दुःखदायी और सुखदायी दोनों परिस्थितियोंसे ऊँचा उठ जाता है अर्थात् उसका कल्याण हो जाता है।

एक स्वयं परमात्मा हैं और एक परमात्माकी विलक्षण शक्ति प्रकृति है। ये दोनों अनादि हैं। सृष्टिसे पूर्व परमात्मामें **'बहु स्यां प्रजायेयेति'** (छान्दोग्य० ६। २। ३)—ऐसा संकल्प हुआ। इस संकल्पसे सृष्टि पैदा हो गयी अर्थात् एक ही परमात्मा प्रेमवृद्धिके लिये स्वयं ही श्रीकृष्ण और श्रीजी—इन दो रूपोंमें प्रकट हो गये। उन दोनोंने परस्पर खेलनेके लिये एक खेल रचा। उस खेलके लिये प्रभुके संकल्पसे अनन्त जीवोंकी सृष्टि हुई (जो कि अनादिकालसे थे)। खेल खेलते हुए उन जीवोंमें श्रीजीका तो भगवान्की तरफ ही आकर्षण रहा, खेलमें उनकी भूल नहीं हुई तो श्रीजी और भगवान्में प्रेमवृद्धिकी लीला हुई। दूसरे जितने जीव थे, उन सबने संयोगजन्य सुखके लिये प्रकृति और प्रकृतिके पदार्थोंके साथ अपना सम्बन्ध मान लिया, जिससे वे जन्म-मरणके चक्करमें पड़ गये। अब अगर वे जीव प्रकृतिके पदार्थोंसे विमुख होकर परमात्माके सम्मुख हो जायँ, तो उनका जन्म-मरणरूप दुःख सदाके लिये छूट जाय। जीव उन पदार्थोंसे विमुख हो करके परमात्माके सम्मुख हो जायँ—इसीके लिये भगवद्गीताका अवतार हुआ है।

उस माने हुए सम्बन्धको तोड़कर 'योग' अर्थात् भगवान्के साथ स्वतःसिद्ध नित्य-सम्बन्धको पहचाननेके लिये गीताने तीन उपाय बताये हैं—कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोग। प्राकृत पदार्थोंके

करते हैं। परंतु भगवान् सर्वज्ञ होनेसे जानते हैं कि अभी अर्जुनका मोह नष्ट नहीं हुआ है। इसलिये अर्जुनकी बातको स्वीकार न करके अपना उपदेश चालू रखते हैं एवं उन्हें जनानेके लिये ग्यारहवें अध्यायके ही ४९वें श्लोकमें कहते हैं—'**मा ते व्यथा मा च विमूढभावः**' अर्थात् मोहके सर्वथा चले जानेपर व्याकुलता और विमूढ़भाव पैदा ही नहीं होते; किंतु भैया अर्जुन! तुझे व्याकुलता और विमूढ़भाव दोनों ही हो रहे हैं; अतः तू देख ले कि अभी तेरा मोह सर्वथा नष्ट नहीं हुआ है।

उपर्युक्त विवेचनसे यह स्पष्ट प्रतीत हो जाता है कि अर्जुनकी स्वीकृतिके बिना भी सर्वज्ञ भगवान् (१८। ६६ के बाद) यह जान जाते हैं कि उसका मोह सर्वथा नष्ट हो गया है, और अब यह मेरे साधर्म्यको प्राप्त हो गया है। परन्तु लोकसंग्रह करनेके लिये ७२वें श्लोकमें प्रश्न करते हैं एवं ७३वें श्लोकमें अर्जुनके माध्यमसे स्वयं ही उत्तर देते हैं, जिससे लोगोंको यह मालूम हो जाय कि गीताको एकाग्रतापूर्वक सुननेमात्रसे मोहका सर्वथा नाश हो जाता है और तत्त्वकी प्राप्ति हो जाती है। अतः भगवत्-साधर्म्य-प्राप्त अर्जुनका यह (१८। ७३) श्लोक भगवान्‌का ही मानना चाहिये। वे लोकसंग्रहके लिये ही अर्जुनसे यह श्लोक कहलवाते हैं।

भगवत्स्वरूप अर्जुन

जिस प्रकार भगवत्-शरणागतिके बाद अर्जुनके 'भगवत्' होनेसे श्लोकरूप 'अर्जुन उवाच' भगवान्‌के ही श्लोक माने ग

सम्बन्ध तोड़ना 'कर्मयोग' है, प्रकृतिसे सम्बन्ध-विच्छेद करके अपने शुद्ध स्वरूपमें स्थित होना 'ज्ञानयोग' है और संसारसे सम्बन्ध-विच्छेद करके केवल परमात्माके साथ अपना सम्बन्ध स्वीकार करना 'भक्तियोग' है।

कर्मयोग

इसमें दो शब्द हैं—कर्म और योग। इसमें एक कर्मविज्ञान है और दूसरा योगविज्ञान है। कर्म केवल संसारके लिये ही है, अपने लिये बिल्कुल नहीं—ऐसा अनुभव हो जाना कर्मविज्ञान है और भगवान्‌के साथ हमारा नित्ययोग (कभी वियुक्त न होनेवाला नित्य अटल सम्बन्ध) है—ऐसा अनुभव हो जाना योगविज्ञान है। कर्मविज्ञानका पूर्णतया अनुभव होनेपर योगविज्ञान प्रकट हो जाता है।

जबतक प्राणी अपने लिये कुछ भी करता है, तबतक वह कर्मविज्ञानसे सर्वथा दूर ही रहता है। कारण कि अपने लिये करनेसे प्रकृति और प्रकृतिजन्य पदार्थोंके साथ सम्बन्ध बना रहता है। जबतक कर्मविज्ञानसे दूर रहता है, तबतक योगविज्ञानका आरम्भ ही नहीं होता। स्थूल, सूक्ष्म और कारण-शरीरसे होनेवाला कर्ममात्र जब केवल संसारके हितके लिये ही होने लगता है, तब कर्मविज्ञान समाप्त होकर योगविज्ञान शुरू हो जाता है। जब कर्मविज्ञान और योगविज्ञान—दोनों वास्तविकतापर पहुँच जाते हैं, तब प्राणी कृतकृत्य हो जाता है अर्थात् जब करनेका राग और पानेका लालच सर्वथा मिट जाते हैं, तब स्वाभाविक ही न जीनेकी इच्छा रहती है और न मरनेका भय ही रहता है। यही कर्मयोगकी पूर्णता है।

जब गुरुका शिष्यमें शक्तिपात होता है तो शिष्य गुरुका ही स्वरूप हो जाता है, मानो शिष्यमें गुरुका अवतार हो जाता है। 'अद्वैतामृतवल्लरी' नामक वेदान्त-ग्रन्थमें चार प्रकारसे शक्तिपात होनेकी बात आयी है—(१) **स्पर्शसे**; जैसे मुर्गी अपने अण्डेपर बैठी रहती है और इस प्रकार उसके स्पर्श यानी सम्बन्धसे अण्डा पक जाता है, (२) **शब्दसे**; जैसे कुररी आकाशमें शब्द करती हुई घूमती रहती है और इस प्रकार उसके शब्दसे अण्डा पक जाता है, (३) **दृष्टिसे**; जैसे मछली थोड़ी-थोड़ी देरमें अपने अण्डेको देखती रहती है, जिससे अण्डा पक जाता है, (४) **स्मरणसे**; जैसे कछवी रेतीके भीतर अण्डा देती है, पर खुद पानीके भीतर रहती हुई उस अण्डेका निरन्तर स्मरण करती रहती है, जिससे अण्डा पक जाता है *। भगवान्‌की तो स्फुरणामात्रसे ही जीवका कल्याण हो जाता है, पर गीताको देखनेसे पता चलता है कि भगवान्‌का अर्जुनमें चारों ही प्रकारसे शक्तिपात हुआ है। भगवान् और अर्जुनका सम्बन्ध ही स्पर्शसे होनेवाला शक्तिपात है। दूसरे अध्यायके सातवें

---

* उदयपुरमें पिचोला नामक एक प्रसिद्ध सरोवर है। एक बार एक सन्त वहाँ गये और वहाँके नाविकोंसे उन्होंने कछवीके याद करनेमात्रसे अण्डोंका पोषण होनेकी सत्यताका पता किया। नाविकोंने इस बातकी पुष्टि की। वहाँ रेतीमें एक कछवीके अण्डे दबे पड़े थे, जिसका पता नाविकोंको था। नाविकोंने पानीमें अपना जाल फैलाया। जब उस जालमें वह कछवी फँस गयी तो उन सन्तने जाकर देखा कि उसके अण्डे गल गये थे। इससे पता चलता है कि जालमें फँसनेसे जब घबराहटमें कछवीका स्मरण छूट गया तो उसके अण्डे गल गये।

कर्मयोगकी दृष्टिसे कर्तव्यमात्र केवल कर्तव्य-पालनके लिये ही करना है अर्थात् कर्ममात्र केवल संसारकी सेवाके लिये ही करना है। कारण कि मन, बुद्धि, इन्द्रियाँ, प्राण, शरीर, वस्तु, व्यक्ति, पदार्थ, क्रियाकी संसारके साथ एकता है। इनके साथ अपना किञ्चिन्मात्र भी सम्बन्ध नहीं है। चाहे स्थूलशरीर और पदार्थोंके द्वारा कर्म हो, चाहे सूक्ष्मशरीरके द्वारा हितचिन्तन और विचार हो, चाहे कारणशरीरके द्वारा एकाग्रता और निर्विकल्प समाधि हो—ये सब-की-सब क्रियाएँ संसारकी हैं। इस वास्ते करनामात्र संसारके लिये ही है। करनामात्र संसारके लिये होनेसे योग अपने लिये होता है अर्थात् संसारसे जो संयोग मान रखा है (वह सम्बन्ध चाहे स्थूल-शरीरसे हो, चाहे सूक्ष्म-शरीरसे हो और चाहे कारणशरीरसे हो), उससे सर्वथा भिन्न अपने स्वरूपके साथ अपने स्वतःसिद्ध नित्ययोगका अनुभव हो जाता है—

तं विद्याद् दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम्।

(गीता ६ । २३)

ज्ञानयोग

जो कुछ क्रिया और पदार्थ हैं, वे केवल प्रकृतिके ही हैं। उनके साथ स्वरूपका किञ्चिन्मात्र भी सम्बन्ध न हुआ, न है, न होगा और न हो ही सकता है; क्योंकि अपना स्वरूप नित्य-निरन्तर एकरूप रहनेवाला है और प्रकृति तथा प्रकृतिका कार्य निरन्तर क्रियाशील है। प्रकृतिकी क्रियाशीलता सर्ग और महासर्गमें तो प्रत्यक्ष है, पर प्रलय और महाप्रलयमें भी इसकी क्रियाशीलता मिटती नहीं, सूक्ष्मरूपसे चलती ही रहती है। सर्ग और महासर्गका आरम्भ—समय

अब यह शङ्का रह जाती है कि भगवान् **'नष्टो मोहः…'** आदि पद स्वयंके प्रति कैसे बोल गये ? इसके समाधानमें यह कहना है कि उन्हें लोगोंमें यह बतलाना था कि गीताके एकाग्रतापूर्वक श्रवण, पठन, मनन आदिसे साधककी स्वतः ऐसी स्थिति हो जाती है; किन्तु इसमें वह अपने साधन, श्रवण, पठन, मनन आदिको नहीं, प्रत्युत भगवत्कृपाको ही हेतु माने। साधनाकी ऊँची अवस्थामें भी अभिमानवश कहीं साधक अटक न जाय, यह तत्त्व लोगोंमें प्रकट करनेके लिये अर्जुनके माध्यमसे यह स्वीकार किया गया।

साधारणरूपमें विचार करें तो भी इस श्लोकके **'नष्टो मोहः…… करिष्ये वचनं तव'** पद भगवत्-साधर्म्यप्राप्त भगवत्स्वरूप पुरुषके ही हो सकते हैं, न कि साधकके। साधनाकी ऊँची-से-ऊँची अवस्थामें भी साधकमें अभिमान और स्वार्थका कुछ-न-कुछ अंश रहता ही है, तभी तो वह साधक कहलाता है। अतः वह अपने प्रति उपर्युक्त पदोंका प्रयोग कैसे कर सकता है ? ये पद तो पूर्णावस्थामें ही कहे जा सकते हैं।

जबतक मनुष्य अपने उद्योगसे अपना कल्याण मानता है और जबतक उसे बोध नहीं होता, तबतक उसमें अहंभाव पाया जाता है। अहंभावका सर्वथा नाश होनेपर उसे भगवान्‌से अपनी अभिन्नताका अनुभव हो जाता है। उसे पता लग जाता है कि वास्तवमें मैंने कुछ किया ही नहीं, सभी काम भगवत्कृपासे ही हुए हैं। जब भगवान्‌ने अर्जुनसे प्रश्न किया कि 'तूने एकाग्रतासे गीता सुनी या नहीं ?' तो अर्जुनने उत्तर दिया—**'नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा**

बीतनेपर प्रकृति प्रलय और महाप्रलयकी तरफ जाती है तथा प्रलय और महाप्रलयका आधा समय बीतनेपर प्रकृति सर्ग और महासर्गकी तरफ जाती है। इस परिवर्तनशील प्रकृतिके एक क्षुद्र अंश शरीरको अपना मान लेना ही बन्धन है और अपना न मानकर परिवर्तनरहि स्वतःसिद्ध स्वरूपमें स्थित रहना ही मुक्ति है।

भगवान्‌ने गीतामें कहा है—

न त्वेवाहं जातु नासं न त्वं नेमे जनाधिपाः।
न चैव न भविष्यामः सर्वे वयमतः परम्॥
(२। १२)

'तू, मैं और ये राजालोग—हम सब स्वयं पहले नहीं थे, यह बात नहीं अर्थात् जरूर थे, और इसके बाद शरीर आदि दृश्यमात्र मिटनेपर हम सब तत्त्वसे नहीं रहेंगे, यह बात भी नहीं अर्थात् जरूर रहेंगे।'

भाव यह हुआ कि चेतन तत्त्वकी नित्यता, निर्विकारिता स्वतः सिद्ध है और शरीर तथा संसारकी अनित्यता, विकारिता प्रत्य देखनेमें आती है। इस वास्ते अपना स्वरूप विकारी नहीं सकता। कारण कि अगर यह विकारी और परिवर्तनशील होता शरीर और संसारके विकार और परिवर्तनको कौन जानता विकार और परिवर्तनको स्पष्टरीतिसे जानता है, वह खुद ि और परिवर्तनशील कैसे हो सकता है?

यह प्रत्यक्ष देखनेमें आता है कि देश, काल, वस्तु, परिस्थिति, घटना आदि जो कुछ भी प्राकृत सामग्री है, वे

दूसरी बात यह है कि अध्यायके आरम्भमें कौन बोल रहा है, यह बतानेके लिये 'उवाच' देना आवश्यक ही हो जाता है। अतः श्रीभगवान्‌के वचन चालू रहते हुए भी अध्यायके प्रारम्भमें पुनः **'श्रीभगवानुवाच'** श्लोक देकर परिमाणमें उन्हें श्रीभगवान्‌के ही श्लोक माना है।

तीसरी बात, अध्यायके अन्तमें पुष्पिकारूप 'इति' लगा देनेसे नये ग्रन्थके समान ही अगला अध्याय प्रारम्भ होता है। अतः अध्यायके आरम्भमें **'श्रीभगवानुवाच'** पुनः देना आवश्यक होनेसे ही श्रीव्यासजी महाराजने इसे पुनरुक्ति नहीं समझा। महर्षि वेदव्यासके माने हुए नियमोंको इधर-उधर करनेका किसीको भी अधिकार नहीं है।

श्रीभगवान्‌के ६२० श्लोक

इस प्रकार गीताकी प्रचलित प्रतिके अनुसार भगवान्‌के व ५७४ श्लोकोंके साथ **'श्रीभगवानुवाच'** रूप मन्त्र २८ बार (भगवत्-शरणागतिके बाद भगवत्प्रेरित **'अर्जुन उवाच'** रूप मन्त्र बार तथा भगवत्स्वरूप **'अर्जुन उवाच'**—सहित एक (१८ । ७३) और मिला देनेपर श्रीभगवान्‌के ६२० श्लो जाते हैं। अतः महाभारतोक्त गीता-परिमाणका यह वचन ! हो जाता है—

'षट्शतानि सविंशानि श्लोकानां प्राह केशवः।

हमारे साथ नहीं थी, आगे भी हमारे साथ रहेगी नहीं और अभी वर्तमानमें भी उसका प्रतिक्षण वियोग होता चला जा रहा है। तात्पर्य है कि भावरूपसे दीखनेवाला मात्र संसार (वह समष्टि हो या व्यष्टि) अभावमें जा रहा है। जो अभावरूपसे था और अभावमें जा रहा है, उसकी स्वतन्त्र सत्ता कैसे हो सकती है? सत्ता तो केवल सत्य-तत्त्वकी ही है, जो सबका आश्रय तथा प्रकाशक है। उसीसे परिवर्तनशील पदार्थ सत्ता पा रहे हैं।

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।
(गीता २। १६)

'असत्‌की तो सत्ता नहीं होती और सत्‌का कभी अभाव नहीं होता।'

ऐसी अपनी स्वतःसिद्ध सत्यरूप सत्ताका, जो कि असत्यरूप सत्तासे सर्वथा निर्लिप्त है, साक्षात् ठीक अनुभव कर लेना ही ज्ञानयोगकी पूर्णता है।

भक्तियोग

जब कर्मयोग और ज्ञानयोग—ये दोनों एक होकर पूर्ण हो जाते हैं, तो करना और जानना बाकी कुछ नहीं रहता तथा सङ्ग और परतन्त्रताका लेश भी नहीं रहता। पर इस असङ्गता और स्वतन्त्रतामें भी सन्तुष्ट न होनेसे भगवत्तत्त्वकी तरफ स्वतः आकर्षण होता है—यह भक्तियोग है अर्थात् अपने-आपको और उस असङ्गता तथा स्वतन्त्रताको प्रभु-चरणोंमें सर्वथा समर्पित कर देना भक्तियोग है। इसको भगवन्निष्ठा, भगवत्प्रेम आदि भी कहते हैं।

आरती

जय भगवद्गीते, जय भगवद्गीते ।
हरि-हिय-कमल-विहारिणि सुन्दर सुपुनीते ॥
कर्म-सुमर्म-प्रकाशिनि कामासक्तिहरा ।
तत्त्वज्ञान-विकाशिनि विद्या ब्रह्म परा ॥ जय०
निश्चल-भक्ति-विधायिनि निर्मल मलहारी ।
शरण-रहस्य-प्रदायिनि सब विधि सुखकारी ॥ जय०
राग-द्वेष-विदारिणि कारिणि मोद सदा ।
भव-भय-हारिणि तारिणि परमानन्दप्रदा ॥ जय०
आसुर-भाव-विनाशिनि नाशिनि तम-रजनी ।
दैवी सद्गुणदायिनि हरि-रसिका सजनी ॥ जय०
समता, त्याग सिखावनि, हरि-मुखकी बानी ।
सकल शास्त्रकी स्वामिनि, श्रुतियोंकी रानी ॥ जय०
दया-सुधा बरसावनि मातु ! कृपा कीजै ।
हरिपद-प्रेम दान कर अपनो कर लीजै ॥ जय०



इसमें भोग और बन्धनका सर्वथा त्याग है [भोगका त्याग कर्मयोग है और बन्धनका त्याग ज्ञानयोग है] ।

भक्ति नाम प्रेमका है और वह प्रेम अपनेपनसे होता है । वह असली अपनापन सांसारिक पदार्थोंसे माने हुए नकली अपनेपनके त्यागसे प्रकट होता है; क्योंकि माने हुए अपनेपनसे ही वह ढका हुआ है ।

यह जीवात्मा स्वयं परमात्माका अंश होनेसे स्वतः परमात्माका ही है (१५ । ७) और शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, प्राण आदि जो कुछ सामग्री हमारेको मिली हैं, वह सब प्रकृतिकी है और प्रकृति परमात्माकी है (गीता ७ । ४) । इस वास्ते अपने-आपको और मिली हुई सम्पूर्ण सामग्रीको परमात्माके ही समर्पित कर देना है । ऐसा करनेसे परमात्मतत्त्वसे जो स्वतःसिद्ध प्रेम है, वह जाग्रत् हो जाता है, जिससे कुछ भी पाना बाकी नहीं रहता ।

अगर यह भक्तियोग आरम्भसे ही किया जाय तो कर्मयोग और ज्ञानयोग स्वतः ही सिद्ध हो जाते हैं; क्योंकि ये तीनों ही योग आपसमें एकता रखते हैं ।

अधिकारी

जो अत्यन्त विरक्त हैं, वे 'ज्ञानयोग' के अधिकारी होते हैं; जो न अत्यन्त विरक्त हैं और न अत्यन्त आसक्त हैं, वे 'भक्तियोग'के अधिकारी होते हैं, और जिनके ज्ञान और भक्तिके संस्कार बहुत कम हैं तथा जो भोगों और कर्मोंमें आसक्तिवाले हैं, पर उस आसक्तिसे छूटकर अपना कल्याण करना चाहते हैं, वे 'कर्मयोग'के अधिकारी होते हैं । इन तीनों साधनोंमेंसे जो एकका

अधिकारी होता है, उसके साथ दूसरे दोन साधन भी रहते हैं अर्थात् एक साधन मुख्य रहता है और दूसरे साधन गौण रहते हैं। जैसे, जो 'ज्ञानयोग'का अधिकारी होता है, उसके भीतर भी ऐसी श्रद्धा और विश्वास रहता है कि कोई तत्त्व है, तभी वह उसकी खोज करता है—यह भक्तियोग हुआ, और उस खोजमें संसारसे विमुख होना पड़ता है—यह कर्मयोग हुआ। जो 'भक्तियोग'का अधिकारी होता है, वह भगवान्‌के सम्मुख होकर उसके प्रेमको प्राप्त करना चाहता है, जिसके लिये वह संसारसे विमुख होता है—यह कर्मयोग हुआ, और संसारसे निर्लिप्त होकर चलता है—यह ज्ञानयोग हुआ। जो 'कर्मयोग'का अधिकारी होता है, उसका नित्य-तत्त्वपर विश्वास होता है—यह भक्तियोग हुआ, और मैं तत्त्वकी प्राप्ति करनेवाला हूँ—ऐसे अपनेको संसारसे अलग मानता है—यह ज्ञानयोग हुआ। इस प्रकार तीनोंमें तीनों आ जाते हैं। परंतु एक समयमें एक व्यक्तिके द्वारा तीनोंका एक साथ अनुष्ठान नहीं होता। इस वास्ते मुख्यतासे एक योगका ही अनुष्ठान होता है और उसकी पूर्णता होनेपर कृतकृत्यता, ज्ञातज्ञातव्यता और प्राप्त-प्राप्तव्यता—तीनों स्वतः हो जाती हैं।

जो पुरुष कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोग—इनको नहीं समझ सकते, वे जीवन्मुक्त, तत्त्वज्ञ, भगवत्प्रेमी महापुरुषोंकी आज्ञाके परायण हो जाते हैं अर्थात् जो वे कहें, उस काममें श्रद्धा-भक्ति एवं तत्परतापूर्वक लग जाते हैं, तो वे भी मृत्युसे तर जाते हैं—

किया जाता है। इस रीतिसे जो सांख्य और योगको परिणाममें एक देखता है, वही यथार्थरूपसे देखता है (गीता ५ । ४-५)। यद्यपि इनमें किसी योगके लिये किसी योगकी पराधीनता नहीं है, फिर भी ज्ञानयोगके लिये कर्मयोग आवश्यक है। बिना कर्मयोगके सांख्यनिष्ठा प्राप्त होनी कठिन है; पर कर्मयोगी जल्दी ही स्वतन्त्रतापूर्वक ब्रह्मको प्राप्त कर लेता है (गीता ५ । ६)।

जैसे लोकमें दो तरहकी निष्ठाएँ हैं—**'लोकेऽस्मिन्द्विविधा निष्ठा'**, ऐसे ही लोकमें दो तरहके पुरुष हैं—**'द्वाविमौ पुरुषौ लोके'** (गीता १५ । १६)। वे हैं—क्षर (नाशवान्) और अक्षर (अविनाशी)। चाहे क्षरको क्षरमें लगा दे, जो कर्मयोग है, और चाहे अक्षरमें स्थित होकर क्षरका त्याग कर दे, जो ज्ञानयोग है। परंतु क्षर और अक्षर—इन दोनोंसे उत्तम पुरुष (परमात्मा) विलक्षण है—**'उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः'** (गीता १५ । १७)। वह क्षरसे तो सदा-सर्वथा अलग रहनेवाला है और अक्षर (जीवात्मा) से भी उत्तम है। लोक और वेदमें वह उत्तम पुरुष ही 'पुरुषोत्तम' नामसे प्रसिद्ध है (गीता १५ । १८)। ऐसे परमात्माके सर्वथा सर्वभावसे शरण हो जाना 'भगवन्निष्ठा' अर्थात् भक्तियोग है।

सांख्यनिष्ठा और योगनिष्ठा—ये दोनों निष्ठाएँ लौकिक हैं; क्योंकि ये दोनों साधकोंकी निष्ठाएँ हैं। क्षरकी प्रधानतासे कर्मयोग चलता है और अक्षरकी प्रधानतासे ज्ञानयोग चलता है। परन्तु भगवन्निष्ठा अलौकिक है, लौकिक नहीं है; क्योंकि यह साधककी निष्ठा नहीं है। इस वास्ते उत्तम पुरुष—परमात्माकी प्रधानतासे भक्तियोग चलता है। तात्पर्य

यह है कि भगवन्निष्ठा सांख्य और योग—दोनों निष्ठाओंसे अलग है; क्योंकि यह निष्ठा मनुष्योंकी अपनी नहीं है और साधन-साध्य भी नहीं है, प्रत्युत केवल भगवान् और उनकी कृपापर निर्भर है ।

अठारहवाँ अध्याय गीताका सार क्यों ?

यह अठारहवाँ अध्याय पूरी गीताका साररूप है । इसमें भगवान्‌द्वारा पहले कहे हुए विषयोंका उपसंहार किया गया है, जिसमें तीन बातें विशेषतासे मालूम देती हैं—(१) पहले अध्यायोंमें जो विषय संक्षेपसे कहा गया है, उसका यहाँ विस्तारसे उपसंहार किया गया है तथा (२) पहले अध्यायोंमें जो विषय विस्तारसे कहा गया है, उसका यहाँ संक्षेपसे उपसंहार किया गया है और (३) पहले अध्यायोंमें कहे हुए विषयोंको ही यहाँ प्रकारान्तरसे अर्थात् कुछ दूसरे ही प्रकारसे कहा गया है ।

भगवान्‌के उपदेशमें मुख्यतासे दो निष्ठाओंका ही वर्णन हुआ है, जिनका भगवान्‌ने **'एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धिर्योगे त्विमां शृणु'** (२ । ३९) पदोंसे संक्षेपरूपसे और **'लोकेऽस्मिन्द्विविधा निष्ठा···ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम्'** (३ । ३) पदोंसे स्पष्टरूपसे वर्णन किया है । उन्हीं दो निष्ठाओंको तत्त्वसे जाननेके लिये अर्जुनने अठारहवें अध्यायके आरम्भमें प्रश्न किया । इस वास्ते उन्हीं दो निष्ठाओंमें आये हुए विषयोंका इस अठारहवें अध्यायमें संक्षेपसे, विस्तारसे अथवा प्रकारान्तरसे उपसंहार किया गया है ।

जिस भगवद्भक्तिका सातवेंसे बारहवें अध्यायतक विशेषतासे वर्णन हुआ है, वह भगवान्‌के अपने हृदयकी बात है और दोनों निष्ठाओंसे विलक्षण है। वह सांख्यनिष्ठा या योगनिष्ठा नहीं है, प्रत्युत भगवन्निष्ठा है, जिसमें केवल भगवत्परायणता है। इसी भगवन्निष्ठाके वर्णनमें भगवान्‌ने अपने उपदेशका उपसंहार किया है।

दूसरे अध्यायके उन्तालीसवें श्लोकसे लेकर अध्यायकी समाप्तितक कर्मप्रधान कर्मयोगका वर्णन हुआ है। फिर तीसरे अध्यायमें भी प्रधानतासे उसीका वर्णन हुआ है। दूसरे अध्यायके इकसठवें श्लोकमें 'मत्परः' पद भगवान्‌की परायणताके लिये आया है, उसीको तीसरे अध्यायके तीसवें श्लोकमें थोड़ा विस्तारसे कह दिया। इस प्रकार कर्मप्रधान कर्मयोगमें उपासनाका भी थोड़ा साथ हुआ है। चौथे अध्यायमें भगवान्‌ने कर्मयोगकी परम्परा बताते हुए अपने जन्मों और कर्मोंका तत्त्व बताया और अपने कर्मोंको आदर्श बताते हुए कर्मयोगका वर्णन किया। फिर पाँचवें अध्यायमें उसी कर्मयोग और सांख्ययोगकी बारी-बारीसे (एक बार कर्मयोगकी और एक बार सांख्ययोगकी) चर्चा की और अन्तमें भक्तिका विवेचन करते हुए अध्यायकी समाप्ति की। इस प्रकार दूसरे अध्यायसे पाँचवें अध्यायकी समाप्तितक कर्मप्रधान कर्मयोगका वर्णन हुआ है, उसीको अठारहवें अध्यायके चौथेसे बारहवें श्लोकतक प्रकारान्तरसे कहा गया है।

पाँचवें अध्यायके तेरहवेंसे सोलहवें श्लोकतक और तेरहवें अध्यायके उन्नीसवेंसे चौंतीसवें श्लोकतक विचार-प्रधान सांख्ययोगका

इस व्याख्याका प्रयोजन

अनेक सन्त-महापुरुषोंके सङ्ग और वचनोंसे हमें गीताके वोंको समझनेमें बहुत मदद मिली है। गीताके मार्मिक भावोंका पनेको बोध हो जाय तथा और कोई मनन करे तो उसको भी ाभ हो जाय, इससे गीताकी व्याख्या करनेकी प्रवृत्ति हुई है। व्याख्या करनेसे हमें बहुत आध्यात्मिक लाभ हुआ है और गीताके विषयका बहुत स्पष्ट बोध भी हुआ है। इतना ही नहीं, इस व्याख्याके लिखनेमें गीताका अभ्यास और मनन करनेवाले जिन सज्जनोंसे हमें अमूल्य सहायता मिली है और इस कार्यमें जिनकी प्रेरणा रही है, उनको भी दृष्ट अथवा अदृष्टरूपसे आध्यात्मिक लाभ हुआ है। दूसरे भाई-बहन भी यदि इसका मनन करेंगे तो उनको भी आध्यात्मिक लाभ अवश्य होगा—ऐसी मेरी व्यक्तिगत धारणा है। और क्या होगा, क्या नहीं होगा—इसको भगवान् जानें; परंतु गीताका मनन-विचार करनेसे लाभ होता है—इसमें हमें कभी किञ्चिन्मात्र भी सन्देह नहीं है।

विनीत—

स्वामी रामसुखदास

॥ ॐ श्रीपरमात्मने नमः ॥

गीताका सार

[श्रीमद्भगवद्गीताके अठारहवें अध्यायकी व्याख्या]

नारायणं नमस्कृत्य नरं चैव नरोत्तमम् ।
देवीं सरस्वतीं व्यासं ततो जयमुदीरयेत् ॥
वसुदेवसुतं देवं कंसचाणूरमर्दनम् ।
देवकीपरमानन्दं कृष्णं वन्दे जगद्गुरुम् ॥

अथाष्टादशोऽध्यायः

सम्बन्ध—

श्रीभगवान्‌ने दूसरे अध्यायके उन्तालीसवें श्लोकमें 'एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धिर्योगे त्विमां शृणु ।' पदोंसे जिस सांख्ययोग और कर्मयोगकी बात कही है, उसीको तीसरे अध्यायके तीसरे श्लोकमें सांख्यनिष्ठा और योगनिष्ठाके नामसे कहा है । उन दोनों निष्ठाओंके तत्त्वको अलग-अलग रूपसे ठीक जाननेकी इच्छा अर्जुनके मनमें थी । परंतु जिस प्रकार भगवान्‌को सातवेंसे पंद्रहवें अध्यायतक दैवी-सम्पत्ति और आसुरी-सम्पत्तिको कहनेका अवसर प्राप्त नहीं हुआ, उसी प्रकार अर्जुनको भी तीसरेसे सत्रहवें अध्यायतक उन दोनों निष्ठाओंके विषयमें अपनी जिज्ञासा प्रकट करनेका अवसर प्राप्त नहीं हुआ । सत्रहवें अध्यायके बाद अब अवसर प्राप्त होनेपर अर्जुन भगवान्‌के सामने अपनी जिज्ञासा प्रकट करते है ।*

* तीसरे अध्यायके तीसरे श्लोकमें दो निष्ठाओं [illegible] भगवान्‌ने [illegible]
चौथे अध्यायके पहले श्लोकमें बताया कि मैंने इस अ[illegible]

कहा था। इसपर अर्जुनने प्रश्न किया कि आपका जन्म तो अभीका है, फिर आपने सृष्टिके आदिमें सूर्यको कैसे उपदेश दिया ? उत्तरमें भगवान्‌ने अपने अवतार और कर्मयोगके तत्त्वका वर्णन किया। चौथे अध्यायके ही चौंतीसवें श्लोकमें भगवान्‌ने अर्जुनको ज्ञान प्राप्त करनेकी आज्ञा दी—'तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया' और बयालीसवें श्लोकमें योगमें स्थित होनेकी आज्ञा दी—'छित्त्वैनं संशयं योगमातिष्ठोत्तिष्ठ भारत ॥' इन दो अलग-अलग आज्ञाओंके कारण अर्जुनने पाँचवें अध्यायके आरम्भमें दोनोंमें अपने लिये एक निश्चित कल्याणकारक साधन पूछा। उसके उत्तरमें भगवान्‌ने पूरा पाँचवाँ अध्याय कहकर अपनी ओरसे ही छठा अध्याय आरम्भ किया।

छठे अध्यायके तैंतीसवें-चौंतीसवें श्लोकोंमें अर्जुनने मनकी चञ्चलताके विषयमें प्रश्न किया। उसका भगवान्‌ने बहुत संक्षेपसे उत्तर दिया। फिर अर्जुनने सैंतीसवेंसे उन्तालीसवें श्लोकतक योगभ्रष्ट पुरुषकी गतिके विषयमें प्रश्न किया। उसका उत्तर देते हुए भगवान्‌ने छठा अध्याय समाप्त किया। छठे अध्यायके अन्तिम श्लोकमें भगवान्‌ने अपने भक्तको सम्पूर्ण योगियोंमें परम श्रेष्ठ बताया। उसीको लेकर भगवान्‌ने सातवाँ अध्याय आरम्भ किया और उसमें भक्तिका विशेष वर्णन किया।

सातवें अध्यायके अन्तमें आये हुए ब्रह्म, अध्यात्म आदिको लेकर अर्जुनने आठवें अध्यायके आरम्भमें सात प्रश्न किये। उनमेंसे छः प्रश्नों-का उत्तर संक्षेपसे देकर अन्तकालीन गति विषयक सातवें प्रश्नके उत्तरमें भगवान्‌ने विस्तारपूर्वक आठवाँ अध्याय कहा। फिर सातवें अध्याय-में जो विषय छूट गया था, उसी विषयका वर्णन नवें अध्यायमें तथा दसवें अध्यायमें ग्यारहवें श्लोकतक किया। दसवें अध्यायके नवें, दसवें और ग्यारहवें श्लोकमें भक्त और उनपर कृपाकी बात सुनकर अर्जुन बहुत प्रसन्न हुए और प्रभावित भी हुए। अतः अर्जुनने बारहवेंसे अठारहवें श्लोकतक भगवान्‌की स्तुति की और अपनी विभूतियोंको विस्तारसे कहनेके

लिये प्रार्थना की। अपनी मुख्य-मुख्य विभूतियोंको कहते हुए भगवान्ने दसवें अध्यायके अन्तमें कहा कि 'हे अर्जुन ! तेरेको बहुत जाननेकी क्या जरूरत है ? मैं सम्पूर्ण संसारको अपने एक अंशमें व्याप्त करके स्थित हूँ।' इसी बातको लेकर ग्यारहवें अध्यायके आरम्भमें अर्जुनने भगवान्से अपना विश्वरूप दिखानेके लिये प्रार्थना की। अपना विश्वरूप दिखाकर भगवान्ने ग्यारहवें अध्यायके अन्तमें कहा कि अनन्य भक्तिसे मेरा दर्शन, ज्ञान और मेरेमें प्रवेश—ये तीनों हो जाते हैं।

ग्यारहवें अध्यायके अन्तमें भगवान्ने भक्तिकी महिमा कही और उससे पहले (४ । ३४—३७; ५ । १७—२६; ६ । २४—२९ और ८ । ११—१३) निर्गुण-तत्त्वकी उपासनाकी महिमा कही। उन दोनोंमें कौन श्रेष्ठ है ?—इस बातको अर्जुनने बारहवें अध्यायके आरम्भमें पूछा। उत्तरमें भगवान्ने बारहवें अध्यायमें भक्तिकी और तेरहवें-चौदहवें अध्यायोंमें निर्गुण-साधनाकी बात कही। चौदहवें अध्यायके इक्कीसवें श्लोकमें अर्जुनने गुणातीतके लक्षण, आचरण और गुणातीत होनेका उपाय पूछा तो भगवान्ने गुणातीतके लक्षण और आचरण बताकर अपनी अव्यभिचारिणी भक्तिको गुणातीत होनेका उपाय बताया। उसी (अव्यभिचारिणी भक्ति-) के वर्णनमें भगवान्ने पंद्रहवाँ अध्याय कहा। पंद्रहवें अध्यायके अन्तमें 'स सर्वविद् भजति मां सर्वभावेन भारत' पदोंसे यह बात कही कि दैवी-सम्पत्तिवाले पुरुष मेरा भजन करते हैं, और अर्थान्तरसे आसुरी-सम्पत्तिवाले पुरुष मेरा भजन नहीं करते। इससे पहले भी सातवें अध्यायके पंद्रहवें श्लोकमें और नवें अध्यायके बारहवें-तेरहवें श्लोकमें संकेतरूपसे दैवी और आसुरी-सम्पत्तिका वर्णन हुआ था। अतः दैवी और आसुरी-सम्पत्तिका विस्तारसे वर्णन करनेके लिये सोलहवें अध्यायका आरम्भ हुआ।

श्लोक—

अर्जुन उवाच

संन्यासस्य महाबाहो तत्त्वमिच्छामि वेदितुम् ।
त्यागस्य च हृषीकेश पृथक्केशिनिषूदन ॥ १ ॥ *

सोलहवें अध्यायके उपान्त्य श्लोकको लेकर अर्जुनने सत्रहवें अध्यायके आरम्भमें निष्ठाके विषयमें प्रश्न किया। उत्तरमें भगवान्‌ने तीन प्रकारकी श्रद्धाका वर्णन करते हुए अध्यायको पूरा कर दिया। सत्रहवें अध्यायके बाद अब अर्जुन तीसरे अध्यायके तीसरे श्लोकमें कही दो निष्ठाओंके तत्त्वको अलग-अलग स्पष्ट जाननेके लिये भगवान्‌के सामने अपनी जिज्ञासा प्रकट करते हैं।

* अर्जुनके इन दोनों प्रश्नोंके उत्तरमें भगवान्‌ने जो-जो बातें कही हैं, उनके आधारपर अर्जुनके मनमें आये अन्य प्रश्नोंका भी अनुमान लगाया जा सकता है, जो इस प्रकार है—

(क) संन्यासस्य महाबाहो तत्त्वमिच्छामि वेदितुम्—

(१) संन्यास किसको कहते हैं ?—

किसी भी कर्मके साथ कर्तापनका भाव न रहना और बुद्धिका कहीं भी लिप्त न होना संन्यास कहलाता है (१८ । १७)।

(२) संन्यासके अवान्तर भेद कितने हैं ?—

विवेक-विचारप्रधान सांख्ययोग (१८ । १३–४०) और ध्यान-प्रधान सांख्ययोग (१८ । ४९–५५)।

(३) उसका साधक कैसा होना चाहिये ?—

सात्त्विक होना चाहिये (१८ । २६)।

(४) उसकी साधन-प्रणाली कैसी होनी चाहिये ?—

विचार-प्रधान सांख्ययोग (१८ । १३–१७) और ध्यान-प्रधान सांख्ययोग (१८ । ५१–५३)।

(५) उसकी साधन-सामग्री कैसी होती है ?—

सात्त्विक बुद्धि और सात्त्विक धृति (१८ । ५१)।

(६) संन्यासीके भाव कैसे होते हैं ?—

वह सम्पूर्ण विभक्त प्राणियोंमें विभागरहित एक परमात्मतत्त्वको देखता है (१८ । २०) ।

(७) संन्यासीके आचरण कैसे होते हैं ?—

कर्तृत्वाभिमान और राग-द्वेषसे रहित होकर कर्म करना (१८ । २३) ।

(८) संन्यासका फल क्या होता है ?—

न करता है और न बँधता है (१८ । १७), तथा तत्त्वमें प्रविष्ट हो जाता है (१८ । ५५) ।

(ख) त्यागस्य च हृषीकेश पृथक्केशिनिषूदन—

(१) त्याग किसे कहते हैं ?—

फल और आसक्तिका त्याग करके कर्तव्य-कर्म करना (१८ । ६) ।

(२) त्यागके कितने भेद हैं ?—

कर्मप्रधान कर्मयोग (१८ । ४–१२) और भक्ति-मिश्रित कर्मयोग (१८ । ४१–४८) ।

(३) त्यागी कैसा होना चाहिये ?—

न तो अकुशल कर्मसे द्वेष करता है और न कुशल कर्ममें आसक्त ही होता है (१८ । १०) ।

(४) त्यागका साधन कैसा होना चाहिये ?—

कर्मप्रधान कर्मयोगमें फल और आसक्तिका त्याग (१८ । ९) । तथा भक्तिमिश्रित कर्मयोगमें (पदार्थोंमें अपनेपनका त्याग करके) कर्मोंद्वारा परमात्माका पूजन करना (१८ । ४६) ।

(५) त्यागीके आचरण कैसे होने चाहिये ?—

अपने-अपने कर्मोंमें अभिरति (तत्परता) हो (१८ । ४५) ।

(६) त्यागीके भाव कैसे होने चाहिये ?—

कर्मप्रधान कर्मयोगमें तो कर्तव्यमात्र करना है (१८ । ९) और भक्तिमिश्रित कर्मयोगमें अपने लिये कुछ भी न करके सम्पूर्ण कर्मोंके सर्वव्यापक भगवान्‌का पूजन करना है (१८ । ४६) ।

श्लोक—

अर्जुन उवाच

संन्यासस्य महाबाहो तत्त्वमिच्छामि वेदितुम् ।
त्यागस्य च हृषीकेश पृथक्केशिनिषूदन ॥ १ ॥ *

सोलहवें अध्यायके उपान्त्य श्लोकको लेकर अर्जुनने सत्रहवें अध्यायके आरम्भमें निष्ठाके विषयमें प्रश्न किया । उत्तरमें भगवान्ने तीन प्रकारकी श्रद्धाका वर्णन करते हुए अध्यायको पूरा कर दिया । सत्रहवें अध्यायके बाद अब अर्जुन तीसरे अध्यायके तीसरे श्लोकमें कही दो निष्ठाओंके तत्त्वको अलग-अलग स्पष्ट जाननेके लिये भगवान्के सामने अपनी जिज्ञासा प्रकट करते हैं ।

* अर्जुनके इन दोनों प्रश्नोंके उत्तरमें भगवान्ने जो-जो बातें कही हैं, उनके आधारपर अर्जुनके मनमें आये अन्य प्रश्नोंका भी अनुमान लगाया जा सकता है, जो इस प्रकार है—

(क) संन्यासस्य महाबाहो तत्त्वमिच्छामि वेदितुम्—

(१) संन्यास किसको कहते हैं ?—

किसी भी कर्मके साथ कर्तापनका भाव न रहना और बुद्धिका कहीं भी लिप्त न होना संन्यास कहलाता है (१८ । १७) ।

(२) संन्यासके अवान्तर भेद कितने हैं ?—

विवेक-विचारप्रधान सांख्ययोग (१८ । १३–४०) और ध्यान-प्रधान सांख्ययोग (१८ । ४९–५५) ।

(३) उसका साधक कैसा होना चाहिये ?—

सात्त्विक होना चाहिये (१८ । २६) ।

(४) उसकी साधन-प्रणाली कैसी होनी चाहिये ?—

विचार-प्रधान सांख्ययोग (१८ । १३–१७) और ध्यान-प्रधान सांख्ययोग (१८ । ५१–५३) ।

(५) उसकी साधन-सामग्री कैसी होती है ?—

सात्त्विक बुद्धि और सात्त्विक धृति (१८ । ५१) ।

(६) संन्यासीके भाव कैसे होते हैं ?—

यह सम्पूर्ण विभक्त प्राणियोंमें विभागरहित एक परमात्मतत्त्वको देखता है (१८ । २०) ।

(७) संन्यासीके आचरण कैसे होते हैं ?—

कर्तृत्वाभिमान और राग-द्वेषसे रहित होकर कर्म करना (१८ । २३) ।

(८) संन्यासका फल क्या होता है ?—

न करता है और न बँधता है (१८ । १७), तथा तत्त्वमें प्रविष्ट हो जाता है (१८ । ५५) ।

(ख) त्यागस्य च हृषीकेश पृथक्केशिनिषूदन—

(१) त्याग किसे कहते हैं ?—

फल और आसक्तिका त्याग करके कर्तव्य-कर्म करना (१८ । ६) ।

(२) त्यागके कितने भेद हैं ?—

कर्मप्रधान कर्मयोग (१८ । ४–१२) और भक्ति-मिश्रित कर्मयोग (१८ । ४१–४८) ।

(३) त्यागी कैसा होना चाहिये ?—

न तो अकुशल कर्मसे द्वेष करता है और न कुशल कर्ममें आसक्त ही होता है (१८ । १०) ।

(४) त्यागका साधन कैसा होना चाहिये ?—

कर्मप्रधान कर्मयोगमें फल और आसक्तिका त्याग (१८ । ९) । तथा भक्तिमिश्रित कर्मयोगमें (पदार्थोंमें अपनेपनका त्याग करके) कर्मोंद्वारा परमात्माका पूजन करना (१८ । ४६) ।

(५) त्यागीके आचरण कैसे होने चाहिये ?—

अपने-अपने कर्मोंमें अभिरति (तत्परता) हो (१८ । ४५) ।

(६) त्यागीके भाव कैसे होने चाहिये ?—

कर्मप्रधान कर्मयोगमें तो कर्तव्यमात्र करना है (१८ । ९) और भक्तिमिश्रित कर्मयोगमें अपने लिये कुछ भी न करके सम्पूर्ण कर्मोंके द्वारा सर्वव्यापक भगवान्‌का पूजन करना है (१८ । ४६) ।

व्याख्या—

प्रश्न प्रायः दो प्रकारसे हुआ करता है—(१) अपने आचरणमें लानेके लिये और (२) सिद्धान्तको समझनेके लिये। जो केवल पढ़ाई करनेके लिये (सीखनेके लिये) सिद्धान्तको समझते हैं, वे केवल पुस्तकोंके विद्वान् बन सकते हैं और नयी पुस्तक भी बना सकते हैं, पर अपना कल्याण नहीं कर सकते।* अपना कल्याण तो वे ही कर सकते हैं, जो सिद्धान्तको समझकर उसके अनुसार अपना जीवन बनानेके लिये तत्पर हो जाते हैं।

यहाँ अर्जुनका प्रश्न भी केवल सिद्धान्तको जाननेके लिये ही नहीं है, प्रत्युत सिद्धान्तको जानकर उसके अनुसार अपना जीवन बनानेके लिये है। अर्जुन प्रश्न करते हैं कि हे महाबाहो! मैं संन्यासका तत्त्व जानना चाहता हूँ और हे हृषीकेश! हे केशिनिषूदन! मैं त्यागका भी तत्त्व जानना चाहता हूँ। तात्पर्य यह कि संन्यास और त्याग दोनोंका तत्त्व अलग-अलग जानना चाहता हूँ।

---

(७) त्यागका फल क्या होता है?—

परमात्माकी प्राप्ति (१८ । ४६)।

(८) संन्यास और त्यागका आपसमें क्या भेद है?—

कर्म करते हुए भी कर्तृत्वाभिमान न होना 'संन्यास' है (१८ । १७) और कर्म करते हुए भी उनसे निर्लिप्त रहना अर्थात् अपने लिये कुछ न करना 'त्याग' है (१८ । १० ११)।

* असत्‌को असत् जाननेपर भी तबतक सत्‌की प्राप्ति नहीं होती, जबतक मनुष्य सत्‌की प्राप्तिको ही अपने जीवनका सर्वोपरि लक्ष्य नहीं बना लेता।

'एषा तेऽभिहिता सांख्ये' (गीता २ । ३९) में आये 'सांख्य' पदको ही यहाँ 'संन्यास' पदसे कहा गया है । भगवान्‌ने भी सांख्य और संन्यासको पर्यायवाची माना है; जैसे—पाँचवें अध्यायके दूसरे श्लोकमें 'संन्यासः', चौथे श्लोकमें 'सांख्ययोगौ', पाँचवें श्लोकमें 'यत्सांख्यैः' और छठे श्लोकमें 'संन्यासस्तु' पदोंका एक ही अर्थमें प्रयोग हुआ है । इस वास्ते यहाँ अर्जुनने सांख्यको ही संन्यास कहा है ।

इसी प्रकार 'बुद्धियोगे त्विमां शृणु', (गीता २ । ३९) में आये 'योग' पदको ही यहाँ 'त्याग' पदसे कहा गया है । भगवान्‌ने भी योग और त्यागको पर्यायवाची माना है; जैसे—दूसरे अध्यायके अड़तालीसवें श्लोकमें 'सङ्गं त्यक्त्वा' तथा इक्यावनवें श्लोकमें 'फलं त्यक्त्वा,' तीसरे अध्यायके तीसरे श्लोकमें 'कर्मयोगेन योगिनाम्', चौथे अध्यायके बीसवें श्लोकमें 'त्यक्त्वा कर्मफलासङ्गम्', पाँचवें अध्यायके चौथे श्लोकमें 'योगौ', पाँचवें श्लोकमें 'तद्योगैरपि गम्यते', ग्यारहवें श्लोकमें 'सङ्गं त्यक्त्वा' तथा बारहवें श्लोकमें 'कर्मफलं त्यक्त्वा', बारहवें अध्यायके बारहवें श्लोकमें 'त्यागात्' पदोंका एक ही अर्थमें प्रयोग हुआ है । इस वास्ते यहाँ अर्जुनने योगको ही त्याग कहा है ।

अच्छी तरहसे [illegible] संन्यासः । [illegible] (छोड़ देने) [illegible] विच्छेद [illegible] है

कर्म और फलकी आसक्तिको छोड़नेका नाम 'त्याग' है।
छठे अध्यायके चौथे श्लोकमें आया है कि जो कर्म और फलमें आसक्त नहीं होता, वह योगारूढ़ हो जाता है*।

यहाँ 'महाबाहो' सम्बोधन सामर्थ्यका सूचक है। अर्जुनद्वारा इस सम्बोधनका प्रयोग करनेका भाव यह है कि आप सम्पूर्ण विषयोंको कहनेमें समर्थ हैं, इस वास्ते मेरे प्रश्नका उत्तर आप इस प्रकार दें, जिससे मैं विषयको सरलतासे समझ सकूँ।

'हृषीकेश' सम्बोधन अन्तर्यामीका वाचक है। इसके प्रयोगमें अर्जुनका भाव यह है कि मैं संन्यास और त्यागका तत्त्व जानना चाहता हूँ, इस वास्ते इस विषयमें जो-जो आवश्यक बातें हों, उनको आप (मेरे पूछे बिना भी) कह दें।

'केशिनिषूदन' सम्बोधन विघ्नोंको दूर करनेवालेका सूच[क] है। इसके प्रयोगमें अर्जुनका भाव यह है कि जिस प्रकार आ[प] अपने भक्तोंके सम्पूर्ण विघ्नोंको दूर कर देते हैं, उसी प्रकार मेरे सम्पूर्ण विघ्नों अर्थात् शङ्काओं और संशयोंको दूर कर दें।

सम्बन्ध—

अर्जुनकी जिज्ञासाके उत्तरमें पहले भगवान् दूसरे और [तीसरे] श्लोकमें अन्य दार्शनिक विद्वानोंके चार मत बताते हैं।

---

* यदा हि नेन्द्रियार्थेषु न कर्मस्वनुषज्जते।
सर्वसंकल्पसंन्यासी योगारूढस्तदोच्यते॥

श्लोक—

श्रीभगवानुवाच

काम्यानां कर्मणां न्यासं संन्यासं कवयो विदुः ।
सर्वकर्मफलत्यागं प्राहुस्त्यागं विचक्षणाः ॥ २ ॥
त्याज्यं दोषवदित्येके कर्म प्राहुर्मनीषिणः ।
यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यमिति चापरे ॥ ३ ॥

व्याख्या—

दार्शनिक विद्वानोंके चार मत हैं—

१—काम्यानां कर्मणां न्यासं संन्यासं कवयो विदुः—कई विद्वान् कहते हैं कि काम्य कर्मोंके त्यागका नाम 'संन्यास' है अर्थात् इष्टकी प्राप्ति और अनिष्टकी निवृत्तिके लिये जो कर्म किये जाते हैं, उनका त्याग करनेका नाम 'संन्यास' है ।

२—सर्वकर्मफलत्यागं प्राहुस्त्यागं विचक्षणाः—कई विद्वान् कहते हैं कि सम्पूर्ण कर्मोंके फलकी इच्छाका त्याग करनेका नाम 'त्याग' है अर्थात् फल न चाहकर कर्तव्य-कर्मोंको करते रहनेका नाम 'त्याग' है ।

३—त्याज्यं दोष*वदित्येके कर्म प्राहुर्मनीषिणः—कई विद्वान् कहते हैं कि सम्पूर्ण कर्मोंको दोषकी तरह छोड़ देना चाहिये ।

---

* 'दोषवत्' पद व्याकरणके 'वति' और 'मतुप्' दोनों प्रत्ययोंसे बनता है; परंतु दोनोंका अर्थ दो तरहका होता है । 'वति' प्रत्यय करनेसे यहाँ 'दोषवत्' पदका अर्थ होता है—कर्मोंको दोषकी तरह छोड़ देना चाहिये, और 'मतुप्' प्रत्यय करनेसे 'दोषवत्' पदका अर्थ होता है—दोषवाले कर्म छोड़ देने चाहिये । परंतु यहाँ 'वति' प्रत्ययका ही अर्थ लेना चाहिये, 'मतुप्' प्रत्ययका नहीं; क्योंकि 'मतुप्' प्रत्ययका अर्थ

श्लोक—

श्रीभगवानुवाच

काम्यानां कर्मणां न्यासं संन्यासं कवयो विदुः।
सर्वकर्मफलत्यागं प्राहुस्त्यागं विचक्षणाः॥ २॥
त्याज्यं दोषवदित्येके कर्म प्राहुर्मनीषिणः।
यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यमिति चापरे॥ ३॥

व्याख्या—

दार्शनिक विद्वानोंके चार मत हैं—

१—**काम्यानां कर्मणां न्यासं संन्यासं कवयो विदुः**—कई विद्वान् कहते हैं कि काम्य कर्मोंके त्यागका नाम 'संन्यास' है अर्थात् इष्टकी प्राप्ति और अनिष्टकी निवृत्तिके लिये जो कर्म किये जाते हैं, उनका त्याग करनेका नाम 'संन्यास' है।

२—**सर्वकर्मफलत्यागं प्राहुस्त्यागं विचक्षणाः**—कई विद्वान् कहते हैं कि सम्पूर्ण कर्मोंके फलकी इच्छाका त्याग करनेका नाम 'त्याग' है अर्थात् फल न चाहकर कर्तव्य-कर्मोंको करते रहनेका नाम 'त्याग' है।

३—**त्याज्यं दोष*वदित्येके कर्म प्राहुर्मनीषिणः**—कई विद्वान् कहते हैं कि सम्पूर्ण कर्मोंको दोषकी तरह छोड़ देना चाहिये।

* 'दोषवत्' पद व्याकरणके 'वति' और 'मतुप्' दोनों प्रत्ययोंसे बनता है; परंतु दोनोंका अर्थ दो तरहका होता है। 'वति' प्रत्यय करनेसे यहाँ 'दोषवत्' पदका अर्थ होता है—कर्मोंको दोषकी तरह छोड़ देना चाहिये, और 'मतुप्' प्रत्यय करनेसे 'दोषवत्' पदका अर्थ होता है—दोषवाले कर्म छोड़ देने चाहिये। परंतु यहाँ 'वति' प्रत्ययका ही अर्थ लेना चाहिये, 'मतुप्' प्रत्ययका नहीं; क्योंकि 'मतुप्' प्रत्ययका अर्थ

अन्तर्गत नहीं ले सकते; क्योंकि ऐसा लेनेपर दार्शनिकों और भगवान्‌के मतोंमें कोई अन्तर नहीं रहेगा। भगवान्‌के मतमें कर्मकी आसक्ति और फलकी आसक्ति-दोनोंके त्यागकी ही बात आयी है—'सङ्गं त्यक्त्वा फलानि च' (गीता १८ । ६)।

४—'यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यम्'—त्याग अर्थात् कर्मयोगके इस दूसरे मतमें यज्ञ, दान और तपरूप कर्मोंका त्याग न करनेकी बात है। परंतु इन तीनोंके अलावा वर्ण, आश्रम, परिस्थिति आदिको लेकर जितने कर्म आते हैं, उनको करने अथवा न करनेके विषयमें कुछ नहीं कहा गया है, यह इसमें अधूरापन है। भगवान्‌के मतमें इन कर्मोंका केवल त्याग ही नहीं करना चाहिये, प्रत्युत इनको न करते हों, तो जरूर करना चाहिये; क्योंकि इनमेंसे प्रत्येक कर्म मनीषियोंको पवित्र करनेवाला है। साथ ही भगवान्‌ने 'चैव' पदसे यज्ञ, दान और तपके साथ-साथ तीर्थ, व्रत आदिका भी ग्रहण किया है (गीता १८ । ५)।

सम्बन्ध—

पहले दो श्लोकोंमें दार्शनिक विद्वानोंके चार मत बतानेके बाद अब भगवान् अगले तीन श्लोकोंमें पहले त्यागके विषयमें अपना मत बताते हैं।

है, वैसे ही घाटा होना भी व्यापारका फल है। इसी वास्ते भगवान्‌ने सिद्धि और असिद्धि दोनोंमें सम रहनेको योग अर्थात् समता कहा है 'सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते' (गीता २ । ४८)। क्योंकि सिद्धि और असिद्धि दोनों कर्मका फल है। सिद्धि और असिद्धिमें सम रहनेका तात्पर्य है—कर्मफलमें ममता-आसक्ति न करना अथवा कर्मफलसे अपना सम्बन्ध न जोड़ना।

अन्तर्गत नहीं ले सकते; क्योंकि ऐसा लेनेपर दार्शनिकों और भगवान्के मतोंमें कोई अन्तर नहीं रहेगा। भगवान्के मतमें कर्मकी आसक्ति और फलकी आसक्ति-दोनोंके त्यागकी ही बात आयी है—'सङ्गं त्यक्त्वा फलानि च' (गीता १८ । ६)।

४—'यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यम्'—त्याग अर्थात् कर्मयोगके इस दूसरे मतमें यज्ञ, दान और तपरूप कर्मोंका त्याग न करनेकी बात है। परंतु इन तीनोंके अलावा वर्ण, आश्रम, परिस्थिति आदिको लेकर जितने कर्म आते हैं, उनको करने अथवा न करनेके विषयमें कुछ नहीं कहा गया है, यह इसमें अधूरापन है। भगवान्के मतमें इन कर्मोंका केवल त्याग ही नहीं करना चाहिये, प्रत्युत इनको न करते हों, तो जरूर करना चाहिये; क्योंकि इनमेंसे प्रत्येक कर्म मनीषियोंको पवित्र करनेवाला है। साथ ही भगवान्ने 'चैव' पदसे यज्ञ, दान और तपके साथ-साथ तीर्थ, व्रत आदिका भी महत्त्व किया है (गीता १८ । ५)।

सम्बन्ध—

पहले दो श्लोकोंमें दार्शनिक विद्वानोंके चार मत बताकर बाद अब भगवान् अगले तीन श्लोकोंमें पहले त्यागके विषयमें अपना मत बताते हैं।

है, वैसे ही घाटा होना भी व्यापारका फल है। इसी वास्ते भगवान्ने सिद्धि और असिद्धि दोनोंमें सम रहनेको योग अर्थात् समता कहा है 'सिद्ध्य-सिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते' (गीता २ । ४८)। कर्मके सिद्धि और असिद्धि दोनों कर्मका फल है। सिद्धि और असिद्धिमें सम रहनेका तात्पर्य है—कर्मफलमें ममता-आसक्ति न रखना अर्थात् कर्मफलसे अपना सम्बन्ध न जोड़ना।

श्लोक—

निश्चयं शृणु मे तत्र त्यागे भरतसत्तम।
त्यागो हि पुरुषव्याघ्र त्रिविधः संप्रकीर्तितः ॥ ४ ॥*

व्याख्या—

'निश्चयं शृणु मे तत्र त्यागे भरतसत्तम'—हे भरतवंशियोंमें श्रेष्ठ अर्जुन! अब मैं संन्यास और त्याग—दोनोंमेंसे पहले त्यागके विषयमें मेरा मत कहता हूँ, उसको तुम सुनो†।

* इस श्लोकके पूर्वार्द्धकी व्याख्याके रूपमें भगवान्‌ने पाँचवें और छठे श्लोकमें अपना मत बताया, और उत्तरार्द्धकी व्याख्याके रूपमें सातवेंसे नवें श्लोकतक तीन प्रकारके त्यागका वर्णन किया है।

† इस अठारहवें अध्यायमें सांख्ययोग और कर्मयोग - दोनों योग दो-दो प्रकारसे आये हैं --विचारप्रधान सांख्ययोग और ध्यानप्रधान सांख्ययोग तथा कर्मप्रधान कर्मयोग और भक्तिमिश्रित कर्मयोग। अर्जुनकी जिज्ञासाके अनुसार पहले नम्बरमें विचारप्रधान सांख्ययोग, दूसरे नम्बरमें कर्मप्रधान कर्मयोग, तीसरे नम्बरमें ध्यानप्रधान सांख्ययोग, चौथे नम्बरमें भक्तिमिश्रित कर्मयोग और पाँचवें नम्बरमें शरणागति (भक्तियोग) का वर्णन करना चाहिये था। परन्तु भगवान्‌ने ऐसा क्रम न देकर पहले नम्बरमें कर्मप्रधान कर्मयोग (१८ । ४-१२), दूसरे नम्बरमें विचारप्रधान सांख्ययोग (१८ । १३-४०), तीसरे नम्बरमें भक्तिमिश्रित कर्मयोग (१८ । ४१-४८) और चौथे नम्बरमें ध्यानप्रधान सांख्ययोग (१८ । ४९-५५) का वर्णन करके फिर पाँचवें नम्बरमें शरणागति (१८ । ५६-६६)का वर्णन किया है। इसका कारण यह है कि भगवान् सांख्ययोगकी अपेक्षा भक्तियोगकी विशेष महिमा कहना चाहते हैं कि सांख्ययोगमें सम्पूर्ण कर्मोंका त्याग करके एकान्तमें ध्यान करनेसे जो तत्त्व प्राप्त होता है, वही तत्त्व भक्तियोगमें भगवान्‌का आश्रय लेकर सदा सब काम करते हुए भी प्राप्त हो जाता है (१८ । ५६)।

'त्यागो हि पुरुषव्याघ्र त्रिविधः संप्रकीर्तितः'—हे पुरुषव्याघ्र ! त्याग तीन तरहका कहा गया है—सात्त्विक, राजस और तामस। वास्तवमें भगवान्‌के मतमें सात्त्विक त्याग ही 'त्याग' है; परंतु उसके साथ राजसी और तामसी त्यागका भी वर्णन करनेका तात्पर्य यह है कि उनके बिना भगवान्‌के अभीष्ट सात्त्विक त्यागकी श्रेष्ठता स्पष्ट नहीं होती; क्योंकि परीक्षा या तुलना करके किसी भी वस्तुकी श्रेष्ठता सिद्ध करनेके लिये दूसरी वस्तुएँ सामने रखनी ही पड़ती हैं।

तीन प्रकारका त्याग बतानेका तात्पर्य यह भी है कि साधक सात्त्विक त्यागको ग्रहण करे और राजस तथा तामस त्यागका त्याग करे।

श्लोक—

यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत्।
यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम्॥ ५॥

यदि भगवान् अर्जुनके प्रश्नक्रमके अनुसार उत्तर देते तो भक्तिमिश्रित कर्मयोगके बाद ही भक्तियोगका वर्णन आता, जिससे भगवान् उपर्युक्त प्रकारसे भक्तियोगकी जो विशेष महिमा कहना चाहते थे, वह स्पष्ट नहीं हो पाती। इसी वास्ते भगवान्‌ने व्यतिक्रम करके ध्यानप्रधान सांख्ययोगके बाद ही भक्तियोगका वर्णन किया है।

दूसरी बात, जिस प्रकार शरीर और शरीरीका विवेक सभी योगियोंके लिये परम आवश्यक होनेके कारण भगवान्‌ने उसका वर्णन गीतामें सबसे पहले (२। ११–३० में) किया है, उसी प्रकार फलकी कामना और कर्मकी आसक्तिका त्याग सभी योगियोंके लिये अत्यन्त आवश्यक होनेके कारण यहाँ भगवान् 'त्याग' का वर्णन सबसे पहले आरम्भ करते हैं।

व्याख्या—

'यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यम्'—यज्ञ, दान और तपरूप कर्मोंका त्याग नहीं करना चाहिये। यहाँ भगवान्‌ने दूसरोंके मत (१८ । ३) को ठीक बतलाया है। भगवान् कठोर शब्दोंसे किसीके मतका खण्डन नहीं करते। आदर देनेके लिये भगवान् दूसरेके मतका वास्तविक अंश ले लेते हैं और उसमें अपना मत भी शामिल कर देते हैं। यहाँ भगवान्‌ने दूसरेके मतके अनुसार कहा कि यज्ञ, दान और तपरूप कर्म छोड़ने नहीं चाहिये। इसके साथ भगवान्‌ने अपना मत बताया कि इतना ही नहीं, प्रत्युत उनको न करते हों तो जरूर करना चाहिये—**'कार्यमेव तत्'**। कारण कि यज्ञ, दान और तप—तीनों कर्म मनीषियोंको पवित्र करनेवाले हैं।

'चैव'—पदका तात्पर्य है कि नित्य, नैमित्तिक, जीविका-सम्बन्धी, शरीर-सम्बन्धी आदि जितने भी कर्तव्य-कर्म हैं, उनको भी जरूर करना चाहिये; क्योंकि वे भी मनीषियोंको पवित्र करनेवाले हैं।

'मनीषिणाम्'—जो पुरुष समत्वबुद्धिसे युक्त होकर कर्मजन्य फलका त्याग कर देते हैं, वे मनीषी हैं—**'कर्मजं बुद्धियुक्ता हि फलं त्यक्त्वा मनीषिणः'** (गीता २ । ५१)। ऐसे मनीषियोंको वे यज्ञादि कर्म पवित्र करते हैं। परन्तु जो वास्तवमें मनीषी नहीं हैं, जिनकी इन्द्रियाँ वशमें नहीं हैं, अर्थात अपने सुखभोगके लिये ही जो यज्ञ, दानादि कर्म करते हैं, उनको वे कर्म पवित्र नहीं करते, प्रत्युत वे कर्म बन्धनकारक हो जाते हैं।

इस श्लोकके पूर्वार्द्धमें 'यज्ञदानतपःकर्म'—ऐसा समासयुक्त पद दिया है और उत्तरार्द्धमें 'यज्ञो दानं तपः'—ऐसे अलग-अलग पद दिये हैं, इसका क्या तात्पर्य है? इसका तात्पर्य यह है कि भगवान्‌ने समासयुक्त पदसे यह बताया है कि यज्ञ, दान और तपको त्यागना नहीं चाहिये, प्रत्युत जरूर करना चाहिये, और अलग-अलग पदोंसे यह बताया है कि इनमेंसे एक-एक कर्म भी मनीषीको पवित्र करनेवाला है।

श्लोक—

एतान्यपि तु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा फलानि च।
कर्तव्यानीति मे पार्थ निश्चितं मतमुत्तमम्॥ ६॥

व्याख्या—

'एतान्यपि तु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा फलानि'—यहाँ 'एतानि' पदसे पूर्वश्लोकमें कहे यज्ञ, दान और तपरूप कर्मोंको तथा 'अपि' पदसे शास्त्रविहित पठन-पाठन, खेती-व्यापार आदि जीविका-सम्बन्धी कर्म; शास्त्रकी मर्यादाके अनुसार खाना-पीना, उठना-बैठना, सोना-जागना आदि शारीरिक कर्म, और परिस्थितिके अनुसार सामने आये अवश्य कर्तव्य-कर्म—इन सभी कर्मोंको लेना चाहिये। इन समस्त कर्मोंको आसक्ति और फलेच्छाका त्याग करके जरूर करना चाहिये। अपनी कामना, ममता और आसक्तिका त्याग करके कर्मोंको केवल प्राणिमात्रके हितके लिये करनेसे कर्मोंका प्रवाह संसारके लिये और योग अपने लिये हो जाता है। परंतु कर्मोंको अपने लिये करनेसे कर्म बन्धनकारक हो जाते हैं—अपने व्यक्तित्वको नष्ट नहीं होने देते।

गीतामें कहीं सङ्ग (आसक्ति) के त्यागकी बात आती है और कहीं कर्मोंके फलके त्यागकी बात आती है । इस श्लोकमें सङ्ग और फल—दोनोंके त्यागकी बात आयी है । इसका तात्पर्य यह है कि गीतामें जहाँ सङ्गके त्यागकी बात कही है, वहाँ उसके साथ फलके त्यागकी बात भी समझ लेनी चाहिये और जहाँ फलके त्यागकी बात कही है, वहाँ उसके साथ सङ्गके त्यागकी बात भी समझ लेनी चाहिये । यहाँ अर्जुनने त्यागके तत्त्वकी बात पूछी है; अतः भगवान्‌ने त्यागका यह तत्त्व बतलाया है कि सङ्ग (आसक्ति) और फल दोनोंका ही त्याग करना चाहिये, जिससे साधकको यह जानकारी स्पष्ट हो जाय कि आसक्ति न तो कर्ममें रहनी चाहिये और न फलमें रहनी चाहिये । आसक्ति न रहनेसे मन, बुद्धि, इन्द्रियाँ, शरीर आदि कर्म करनेके औजारों (करणों) में तथा प्राप्त वस्तुओंमें ममता नहीं रहती (गीता ५ । ११) ।

सङ्ग (आसक्ति या सम्बन्ध) सूक्ष्म होता है और फलेच्छा स्थूल होती है । सङ्ग या आसक्तिकी सूक्ष्मता वहाँतक है, जहाँ चेतन-स्वरूपने नाशवान्‌के साथ सम्बन्ध जोड़ा है । वहींसे आसक्ति पैदा होती है, जिससे जन्म-मरण आदि सब अनर्थ होते हैं—**'कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु'** (गीता १३ । २१) आसक्तिको त्यागनेसे नाशवान्‌के साथ जोड़े हुए सम्बन्धका विच्छे[द] हो जाता है और स्वतःस्वाभाविक रहनेवाली असङ्गताका अनु[भव] हो जाता है ।

इस विषयमें एक और बात समझनेकी है कि कई दार्शनिक इस नाशवान् संसारको असत् मानते हैं; क्योंकि यह पहले भी नहीं था और पीछे भी नहीं रहेगा, इसलिये वर्तमानमें भी यह नहीं है; जैसे-स्वप्न । कई दार्शनिकोंका यह मत है कि संसार परिवर्तनशील है, हरदम बदलता रहता है, कभी एक रूप नहीं रहता; जैसे—अपना शरीर । कई यह मानते हैं कि परिवर्तनशील होनेपर भी संसारका कभी अभाव नहीं होता, प्रत्युत तत्त्वसे सदा रहता है; जैसे जल (जल ही बर्फ, बादल, भाप और परमाणुरूपसे हो जाता है, पर स्वरूपसे वह मिटता नहीं) । इस तरह अनेक मतभेद हैं; किन्तु नाशवान् जड़का अपने अविनाशी चेतन स्वरूपके साथ कोई सम्बन्ध नहीं है, इसमें किसी भी दार्शनिकका मतभेद नहीं है । 'सङ्गं त्यक्त्वा' पदोंसे भगवान्ने उसी सम्बन्धका त्याग कहा है ।

प्रकृति सत् है या असत् है अथवा सत्-असतसे विलक्षण है ? अनादि सान्त है या अनादि अनन्त है ?—इस झगड़ेमें पड़कर साधकको अपना अमूल्य समय खर्च नहीं करना चाहिये, प्रत्युत इस प्रकृतिसे तथा प्रकृतिके कार्य संसारसे अपना सम्बन्ध-विच्छेद करना चाहिये, जो कि स्वतः हो ही रहा है । स्वतः होनेवाले सम्बन्ध-विच्छेदका केवल अनुभव करना है कि शरीर तो प्रतिक्षण बदलता ही रहता है और स्वयं निर्विकाररूपसे सदा ज्यों-का-त्यों रहता है ।

अब प्रश्न यह होता है कि फल क्या है ? प्रारब्ध-कर्मके अनुसार अभी हमें जो परिस्थिति, वस्तु, देश, काल आदि प्राप्त

गीतामें कहीं सङ्ग (आसक्ति) के त्यागकी बात आती है और कहीं कर्मोंके फलके त्यागकी बात आती है। इस श्लोकमें सङ्ग और फल—दोनोंके त्यागकी बात आयी है। इसका तात्पर्य यह है कि गीतामें जहाँ सङ्गके त्यागकी बात कही है, वहाँ उसके साथ फलके त्यागकी बात भी समझ लेनी चाहिये और जहाँ फलके त्यागकी बात कही है, वहाँ उसके साथ सङ्गके त्यागकी बात भी समझ लेनी चाहिये। यहाँ अर्जुनने त्यागके तत्त्वकी बात पूछी है; अतः भगवान्‌ने त्यागका यह तत्त्व बतलाया है कि सङ्ग (आसक्ति) और फल दोनोंका ही त्याग करना चाहिये, जिससे साधकको यह जानकारी स्पष्ट हो जाय कि आसक्ति न तो कर्ममें रहनी चाहिये और न फलमें रहनी चाहिये। आसक्ति न रहनेसे मन, बुद्धि, इन्द्रियाँ, शरीर आदि कर्म करनेके औजारों (करणों) में तथा प्राप्त वस्तुओंमें ममता नहीं रहती (गीता ५। ११)।

सङ्ग (आसक्ति या सम्बन्ध) सूक्ष्म होता है और फलेच्छा स्थूल होती है। सङ्ग या आसक्तिकी सूक्ष्मता वहाँतक है, जहाँ चेतन-स्वरूपने नाशवान्‌के साथ सम्बन्ध जोड़ा है। वहींसे आसक्ति पैदा होती है, जिससे जन्म-मरण आदि सब अनर्थ होते हैं—**'कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु'** (गीता १३। २१)। आसक्तिको त्यागनेसे नाशवान्‌के साथ जोड़े हुए सम्बन्धका विच्छेद हो जाता है और स्वतःस्वाभाविक रहनेवाली असङ्गताका अनुभव हो जाता है।

इस विषयमें एक और बात समझनेकी है कि कई दार्शनिक इस नाशवान् संसारको असत् मानते हैं; क्योंकि यह पहले भी नहीं था और पीछे भी नहीं रहेगा, इसलिये वर्तमानमें भी यह नहीं है; जैसे—स्वप्न । कई दार्शनिकोंका यह मत है कि संसार परिवर्तनशील है, हरदम बदलता रहता है, कभी एक रूप नहीं रहता; जैसे—अपना शरीर । कई यह मानते हैं कि परिवर्तनशील होनेपर भी संसारका कभी अभाव नहीं होता, प्रत्युत तत्त्वसे सदा रहता है; जैसे जल (जल ही बर्फ, बादल, भाप और परमाणुरूपसे हो जाता है, पर स्वरूपसे वह मिटता नहीं) । इस तरह अनेक मतभेद हैं; किन्तु नाशवान् जड़का अपने अविनाशी चेतन स्वरूपके साथ कोई सम्बन्ध नहीं है, इसमें किसी भी दार्शनिकका मतभेद नहीं है । 'सङ्गं त्यक्त्वा' पदोंसे भगवान्‌ने उसी सम्बन्धका त्याग कहा है ।

प्रकृति सत् है या असत् है अथवा सत्-असतसे विलक्षण है ! अनादि सान्त है या अनादि अनन्त है !—इस झगड़ेमें पड़कर साधकको अपना अमूल्य समय खर्च नहीं करना चाहिये, प्रत्युत इस प्रकृतिसे तथा प्रकृतिके कार्य संसारसे अपना सम्बन्ध-विच्छेद करना चाहिये, जो कि स्वतः हो ही रहा है । स्वतः होनेवाले सम्बन्ध-विच्छेदका केवल अनुभव करना है कि शरीर तो प्रतिक्षण बदलता ही रहता है और स्वयं निर्विकाररूपसे सदा ज्यों-का-त्यों रहता है ।

अब प्रश्न यह होता है कि फल क्या है ? प्रारब्ध-कर्मके अनुसार अभी हमें जो परिस्थिति, वस्तु, देश, काल आदि

वह सब कर्मोंका प्राप्त 'फल' है, और भविष्यमें जो परिस्थिति, वस्तु आदि प्राप्त होनेवाली है, वह सब कर्मोंका 'अप्राप्त फल' है। प्राप्त तथा अप्राप्त फलमें आसक्ति रहनेके कारण ही प्राप्तमें ममता और अप्राप्तकी कामना होती है। इसलिये भगवान्‌ने **'त्यक्त्वा फलानि च'*** कहकर फलका त्याग करनेकी बात कही है।

कर्मफलका त्याग क्यों करना चाहिये? क्योंकि कर्मफल हमारे साथ रहनेवाला है ही नहीं। कारण यह है कि जिन कर्मोंसे फल बनता है, उन कर्मोंका आरम्भ और अन्त होता है; अतः उनका फल भी प्राप्त और नष्ट होनेवाला ही है। इस वास्ते कर्मफलका त्याग करना है। फलके त्यागमें फलकी आसक्तिका, कामनाका ही त्याग करना है। वास्तवमें आसक्ति हमारे स्वरूपमें है नहीं, केवल मानी हुई है।

दूसरी बात, जो अपना स्वरूप होता है, उसका त्याग नहीं होता; जैसे—प्रज्वलित अग्नि उष्णता और प्रकाशका त्याग नहीं कर सकती। जो चीज अपनी नहीं होती, उसका भी त्याग नहीं होता; जैसे—संसारमें अनेक वस्तुएँ पड़ी हैं; परंतु उनका हम त्याग करें—ऐसा कहना भी नहीं बनता; क्योंकि वे वस्तुएँ हमारी हैं ही नहीं। इस वास्ते त्याग उसीका होता है, जो वास्तवमें अपना नहीं है और

---

* यहाँ 'फलानि' शब्दमें बहुवचन देनेका तात्पर्य यह है कि सकामभावसे कर्म करनेवालोंमें बहुत-से फलोंकी इच्छा होती है— 'बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम्' (गीता २।४१)। वे इस लोकमें सुख-आराम, मान-सम्मान, यश-प्रतिष्ठा आदि चाहते हैं और परलोकमें स्वर्ग आदिकी प्राप्ति चाहते हैं। भगवान्‌के मतमें इन सभी फलोंकी इच्छाओंका त्याग है।

अपना मान लिया है। ऐसे ही प्रकृति और प्रकृतिके कार्य शरीर आदि हमारे नहीं हैं, फिर भी उनको हम अपना मानते हैं, तो इस अपनेपनकी मान्यताका ही त्याग करना है। त्यागसे तत्काल शान्ति मिलती है—'त्यागाच्छान्तिरनन्तरम्' (गीता १२।१२)।

'कर्तव्यानि'—मनुष्यके सामने कर्तव्यरूपसे जो कर्म आ जाय, उसको फल और आसक्तिका त्याग करके सावधानीके साथ तत्परतापूर्वक करना चाहिये। कर्मयोगमें विधि-निषेधको लेकर अमुक काम करना है और अमुक काम नहीं करना है—ऐसा विचार तो करना ही है; परंतु अमुक काम बड़ा है और अमुक काम छोटा है—ऐसा विचार नहीं करना है। कारण कि जहाँ कर्म और उसके फलसे अपना कोई सम्बन्ध ही नहीं है, वहाँ यह कर्म बड़ा है, यह कर्म छोटा है, इस कर्मका फल बड़ा है, इस कर्मका फल छोटा है—ऐसा विचार हो ही नहीं सकता। कर्मका बड़ा या छोटा होना फलकी इच्छाके कारण ही दीखता है, जब कि कर्मयोगमें फलेच्छाका त्याग होता है।

कर्मयोगसे कर्तापन मिट जाता है। कारण कि कर्मयोगी नाटकके स्वाँगकी तरह अपने कर्तव्यका पालन करनेमात्रके लिये ही सम्पूर्ण कर्म करता है, इस वास्ते कर्मकी समाप्तिके साथ-साथ उसका कर्तापन भी समाप्त हो जाता है। यह नियम है कि मनुष्य जिस उद्देश्यसे कर्म करता है, कर्म पूरा होते ही कर्तापन उस उद्देश्यमें विलीन हो जाता है। जैसे, बद्रीनारायणका उद्देश्य रखकर यात्रा करनेवाला मनुष्य जब बद्रीनारायण पहुँच जाता है, तब 'मैं यात्री हूँ और मुझे बद्रीनारायण जाना है' यह कर्तापन नहीं रहता।

पशु-पक्षी, कीट-पतङ्ग, वृक्ष-लता, नारकीय-स्वर्गीय आदि सभी योनियोंके प्राणियोंको भी मिलती है, जहाँ कर्तव्यका कोई प्रश्न ही नहीं है और जहाँ उद्देश्यकी पूर्तिका अधिकार भी नहीं है।

सम्बन्ध—

इसी अध्यायके चौथे श्लोकमें भगवान्‌ने तीन प्रकारके त्यागकी बात कही थी। अब आगे श्लोकोंमें उसी त्रिविध त्यागका वर्णन करते हैं।

श्लोक—

नियतस्य तु संन्यासः कर्मणो नोपपद्यते।
मोहात्तस्य परित्यागस्तामसः परिकीर्तितः॥ ७॥

व्याख्या—

तीन तरहके त्यागका वर्णन भगवान् इस वास्ते करते हैं कि अर्जुन कर्मोंका स्वरूपसे त्याग करना चाहता था—**'श्रेयो भोक्तुं भैक्ष्यमपीह लोके'** (गीता २। ५); अतः त्रिविध त्याग बताकर अर्जुनको चेत कराना था, और आगेके लिये मनुष्यमात्रको यह बताना था कि नियत कर्मोंका स्वरूपसे त्याग करना गीताको मान्य (अभीष्ट) नहीं है। गीता तो सात्त्विक त्यागको ही वास्तवमें त्याग मानती है। सात्त्विक त्यागसे संसारके सम्बन्धका सर्वथा विच्छेद हो जाता है।

दूसरी बात, सत्रहवें अध्यायमें भी भगवान् गुणोंके अनुसार श्रद्धा, आहार आदिके तीन-तीन भेद कहकर आये हैं और आगे भी संन्यासके प्रकरणमें ज्ञान, कर्म आदिके तीन-तीन भेद कहे हैं, इस वास्ते यहाँ भी अर्जुनद्वारा त्यागका तत्त्व पूछनेपर भगवान्‌ने त्यागके तीन भेद कहे हैं।

'नियतस्य तु संन्यासः कर्मणो नोपपद्यते'—पिछले (छठे) श्लोकमें भगवान्ने त्यागके विषयमें अपना जो निश्चित उत्तम मत बताया है, उससे यह तामस त्याग बिल्कुल ही विपरीत है और सर्वथा निकृष्ट है, यह बतानेके लिये यहाँ 'तु' पद आया है ।

नियत कर्मोंका त्याग करना कभी भी उचित नहीं है; क्योंकि वे तो अवश्यकर्तव्य हैं । नियत कर्मोंका त्याग करनेका तात्पर्य है—बलिवैश्वदेव आदि यज्ञ करना, कोई अतिथि आ जाय तो गृहस्थ-धर्मके अनुसार उसको अन्न, जल आदि देना, विशेष पर्वमें या श्राद्ध-तर्पणके दिन ब्राह्मणोंको भोजन कराना और दक्षिणा देना, अपने वर्ण-आश्रमके अनुसार प्रातः और सायंकालमें सन्ध्या करना आदि कर्मोंको न मानना और न करना ।

'मोहात्तस्य परित्यागस्तामसः परिकीर्तितः'—ऐसे नियत कर्मोंको मूढ़तासे अर्थात् बिना विवेक-विचारके छोड़ देना तामस त्याग कहा जाता है । सत्सङ्ग, सभा, समिति आदिमें जाना आवश्यक था, पर आलस्यमें पड़े रहे, आराम करने लग गये अथवा सो गये; घरमें माता-पिता बीमार हैं, उनके लिये वैद्यको बुलाने या ओषधि लानेके लिये जा रहे हैं, रास्तेमें कहींपर लोग ताश-चौपड़ आदि खेल रहे थे, उनको देखकर खुद भी खेलमें लग गये और वैद्यको बुलाना या ओषधि लाना भूल गये; कोर्टमें मुकदमा चल रहा है, उसमें हाजिर होनेके समय हँसी-दिल्लगी, खेल-तमाशा आदिमें लग गये और समय बीत गया; शरीरके लिये शौच-स्नान आदि जो आवश्यक कर्तव्य हैं, उनको आलस्य और प्रमादके कारण छोड़ दिया—यह सब तामस त्यागके उदाहरण हैं ।

विहित कर्म और नियत कर्ममें क्या अन्तर है? शास्त्रोंने जिन कर्मोंको करनेकी आज्ञा दी है, वे सभी विहित कर्म कहलाते हैं। उन सम्पूर्ण विहित कर्मोंका पालन एक व्यक्ति कर ही नहीं सकता; क्योंकि शास्त्रोंमें सम्पूर्ण वारों तथा तिथियोंके व्रतका विधान आता है। यदि एक ही मनुष्य सब वारोंमें या सब तिथियोंमें व्रत करेगा तो फिर वह भोजन कब करेगा? इससे यह सिद्ध हुआ कि मनुष्यके लिये सभी विहित कर्म लागू नहीं होते। परंतु उन विहित कर्मोंमें भी वर्ण, आश्रम और परिस्थितिके अनुसार जिसके लिये जो कर्तव्य आवश्यक होता है, उसके लिये वह नियत कर्म कहलाता है। जैसे ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र—चारों वर्णोंमें जिस-जिस वर्णके लिये जीविका और शरीर-निर्वाह-सम्बन्धी जितने भी नियम हैं, उस-उस वर्णके लिये वे सभी 'नियत कर्म' हैं।

नियत कर्मोंका मोहपूर्वक त्याग करनेसे वह त्याग 'तामस' हो जाता है तथा सुख और आरामके लिये त्याग करनेसे वह त्याग 'राजस' हो जाता है। सुखेच्छा, फलेच्छा तथा आसक्तिका त्याग करके नियत कर्मोंको करनेसे वह त्याग 'सात्त्विक' हो जाता है। तात्पर्य यह है कि मोहमें उलझ जाना तामस पुरुषका स्वभाव है, सुख-आराममें उलझ जाना राजस पुरुषका स्वभाव है और इन दोनोंसे रहित होकर सावधानीपूर्वक निष्कामभावसे कर्तव्य-कर्म करना सात्त्विक पुरुषका स्वभाव है। इस सात्त्विक स्वभाव अथवा सात्त्विक त्यागसे ही कर्म और कर्मफलसे सम्बन्ध-विच्छेद होता है, राजस और तामस त्यागसे नहीं; क्योंकि राजस और तामस त्याग वास्तवमें त्याग है ही नहीं।

लोग सामान्य रीतिसे स्वरूपसे कर्मोंको छोड़ देनेको ही त्याग मानते हैं; क्योंकि उन्हें प्रत्यक्षमें वही त्याग दीखता है। कौन व्यक्ति कौन-सा काम किस भावसे कर रहा है, इसका उन्हें पता नहीं लगता। परंतु भगवान् भीतरकी कामना-ममता-आसक्तिके त्यागको ही त्याग मानते हैं; क्योंकि ये ही जन्म-मरणके कारण हैं—'कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु (गीता १३। २१)।

यदि बाहरके त्यागको ही असली त्याग माना जाय तो सभी मरनेवालोंका कल्याण हो जाना चाहिये; क्योंकि उनकी तो सम्पूर्ण वस्तुएँ छूट जाती हैं; और तो क्या, अपना कहलानेवाला शरीर भी छूट जाता है और उनको वे वस्तुएँ प्रायः यादतक नहीं रहतीं! इस वास्ते भीतरका त्याग ही असली त्याग है। भीतरका त्याग होनेसे बाहरसे वस्तुएँ अपने पास रहें या न रहें, मनुष्य उनसे बँधता नहीं।

श्लोक—

दुःखमित्येव यत्कर्म कायक्लेशभयात्त्यजेत्।
स कृत्वा राजसं त्यागं नैव त्यागफलं लभेत्॥ ८॥

व्याख्या—

'दुःखमित्येव यत्कर्म'—यज्ञ, दान आदि शास्त्रीय नियत कर्मोंको करनेमें केवल दुःख ही भोगना पड़ता है, और उनमें है ही क्या? क्योंकि उन कर्मोंको करनेके लिये अनेक नियमोंमें बँधना पड़ता है और खर्चा भी करना पड़ता है—इस प्रकार राजस पुरुषको उन कर्मोंमें केवल दुःख-ही-दुःख दीखता है। दुःख दीखनेका कारण यह है कि उनका परलोकपर, शास्त्रोंपर, शास्त्रविहित कर्मोंपर और उन कर्मोंके परिणामपर श्रद्धा-विश्वास नहीं है।

'कायक्लेशभयात्त्यजेत्'—राजस पुरुषको शास्त्रमर्यादा और लोकमर्यादाके अनुसार चलनेसे शरीरमें क्लेश अर्थात् परिश्रमका अनुभव होता है *। राजस पुरुषको अपने वर्ण, आश्रम आदिके धर्मका पालन करनेमें और माता-पिता, गुरु, मालिक आदिकी आज्ञाका पालन करनेमें पराधीनता और दुःखका अनुभव होता है तथा उनकी आज्ञा भङ्ग करके जैसी मर्जी आये, वैसा करनेमें स्वाधीनता और सुखका अनुभव होता है। राजस पुरुष प्रायः कहा करते हैं कि 'किसीके अधीन होकर रहना तो केवल शास्त्रोंकी बातें हैं; शास्त्रोंने कह दीं और लोगोंने मान लीं! पर है यह मुफ्तमें कोरा बन्धन!' इसी तरह राजस पुरुषोंके विचार यह होते हैं कि 'गृहस्थमें आराम नहीं मिलता, स्त्री-पुत्र आदि हमारे अनुकूल नहीं हैं, अथवा सब कुटुम्बी मर गये हैं, घरमें काम करनेके लिये कोई रहा नहीं, खुदको तकलीफ उठानी पड़ती है, इस वास्ते साधु बन जायँ तो आरामसे रहेंगे, रोटी, कपड़ा आदि सब चीजें मुफ्तमें मिल जायँगी, परिश्रम नहीं करना पड़ेगा; कोई ऐसी सरकारी नौकरी मिल जाय, जिससे काम कम करना पड़े और रुपये आरामसे मिलते रहें, हम काम न करें तो भी उस नौकरीसे हमें कोई छुड़ा न सके, हम नौकरी छोड़ देंगे तो हमें पेन्शन मिलती रहेगी, इत्यादि। ऐसे विचारोंके कारण उन्हें घरका काम-धन्धा करना अच्छा नहीं लगता और वह उसका त्याग कर देता है।

* क्लेशका अनुभव होनेमें शरीरकी ममता और आसक्ति ही कारण है।

यहाँ शङ्का होती है कि ज्ञानप्राप्तिके साधनोंमें दुःख और दोषको बार-बार देखनेकी बात कही है* और यहाँ कर्मोंमें दुःख देखकर उनका त्याग करनेको राजस त्याग कहा है अर्थात् कर्मोंके त्यागका निषेध किया है—इन दोनों बातोंमें परस्पर विरोध प्रतीत होता है। इसका समाधान है कि वास्तवमें इन दोनोंमें विरोध नहीं है। इन दोनोंमें अलग-अलग विषय है। वहाँ (गीता १३। ८ में) भोगोंमें दुःख और दोषको देखनेकी बात है और यहाँ नियत कर्तव्य-कर्मोंमें दुःखको देखनेकी बात है। इस वास्ते वहाँ भोगोंको त्यागनेकी बात है और यहाँ कर्तव्य-कर्मोंको त्यागनेकी बात है। भोगोंका तो त्याग करना चाहिये, पर कर्तव्य-कर्मोंका त्याग कभी नहीं करना चाहिये। कारण यह कि जिन भोगोंमें सुखबुद्धि और गुणबुद्धि हो रही है, उन भोगोंमें बार-बार दुःख और दोषको देखनेसे भोगोंसे वैराग्य होगा, जिससे परमात्मतत्त्वकी प्राप्ति होगी; परन्तु नियत कर्तव्य-कर्मोंमें दुःख देखकर उन कर्मोंका त्याग करनेसे सदा पराधीनता और दुःख भोगना ही पड़ेगा—'यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः' (गीता ३। ९)। तात्पर्य यह हुआ कि भोगोंमें दुःख और दोष देखनेसे भोगासक्ति छूटेगी, जिससे कल्याण होगा और कर्तव्यमें दुःख देखनेसे कर्तव्य छूटेगा, जिससे पतन होगा।

कर्तव्य-कर्मोंको त्यागनेमें तो राजस और तामस—ये दो भेद होते हैं, पर परिणाम (आलस्य, प्रमाद, अतिनिद्रा आदि) में दोनों एक हो जाते हैं अर्थात् परिणाममें दोनों ही तामस हो जाते हैं,

* 'जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम्।' (गीता १३। ८)

जिसका फल अधोगति होता है—'अधो गच्छन्ति तामसाः' (गीता १४ । १८)।

एक शङ्का यह भी हो सकती है कि सत्सङ्ग, भगवत्कथा, भक्त-चरित्र सुननेसे किसीको वैराग्य हो जाय तो वह प्रभुको पानेके लिये आवश्यक कर्तव्य-कर्मोंको भी छोड़ देता है और केवल भगवान्‌के भजनमें लग जाता है। इस वास्ते उसका वह कर्तव्य-कर्मोंका त्याग राजस कहा जाना चाहिये ? पर ऐसी बात नहीं है। सांसारिक कर्मोंको छोड़कर जो भजनमें लग जाता है, उसका त्याग राजस या तामस नहीं हो सकता। कारण कि भगवान्‌को प्राप्त करना मनुष्य-जन्मका ध्येय है; अतः उस ध्येयकी सिद्धिके लिये कर्तव्य-कर्मोंका त्याग करना वास्तवमें कर्तव्यका त्याग करना नहीं है, प्रत्युत असली कर्तव्यको करना है। उस असली कर्तव्यको करते हुए आलस्य, प्रमाद आदि दोष नहीं आ सकते; क्योंकि उसकी रुचि भगवान्‌में रहती है। परंतु राजस और तामस त्याग करनेवालोंमें आलस्य, प्रमाद आदि दोष आयेंगे ही; क्योंकि उनकी रुचि भोगोंमें रहती है।

श्लोक—

कार्यमित्येव यत्कर्म नियतं क्रियतेऽर्जुन।
सङ्गं त्यक्त्वा फलं चैव स त्यागः सात्त्विको मतः ॥ ९ ॥

व्याख्या—

'कार्यमित्येव'—यहाँ 'कार्यम्' पदके साथ 'इति' और 'एव'—ये दो अव्यय लगानेसे यह अर्थ निकलता है कि केवल कर्तव्यमात्र करना है। इसको करनेमें कोई फलासक्ति नहीं, कोई स्वार्थ नहीं

और कोई क्रियाजन्य सुखभोग भी नहीं। इस प्रकार कर्तव्यमात्र करनेसे कर्ताका उस कर्मसे सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है। ऐसा होनेसे वह कर्म बन्धनकारक नहीं होता अर्थात् संसारके साथ सम्बन्ध नहीं जुड़ता। कर्म तथा उसके फलमें आसक्त होनेसे ही बन्धन होता है—**'फले सक्तो निबध्यते'** (गीता ५ । १२)।

'यत्कर्म नियतं क्रियतेऽर्जुन'—शास्त्रविहित कर्मोंमें भी देश, काल, वर्ण, आश्रम, परिस्थितिके अनुसार जिस-जिस कर्ममें जिस-जिसकी नियुक्ति की जाती है, वे सब नियत कर्म कहलाते हैं*, जैसे—साधुको ऐसा करना चाहिये, गृहस्थको ऐसा करना चाहिये, ब्राह्मणको अमुक-काम करना चाहिये, क्षत्रियको अमुक काम करना चाहिये इत्यादि। उन कर्मोंको प्रमाद, आलस्य, उपेक्षा, उदासीनता आदि दोषोंसे रहित होकर तत्परता और उत्साहपूर्वक करना चाहिये। इसी वास्ते भगवान्‌ने कर्मयोगके प्रसङ्गमें जगह-जगह 'समाचार' शब्द दिया है (गीता ३।९,१९,२६)।

'सङ्गं त्यक्त्वा फलं चैव'—सङ्गके त्यागका तात्पर्य है कि कर्म, कर्म करनेके औजार (साधन) आदिमें आसक्ति, प्रियता, ममता आदि न हो, और फलके त्यागका तात्पर्य है कि कर्मके परिणामके साथ सम्बन्ध न हो अर्थात् फलकी इच्छा न हो। इन दोनोंका तात्पर्य है कि कर्म और फलमें आसक्ति तथा इच्छाका त्याग हो।

* यहाँ यज्ञ, दान और तपके साहचर्यसे शास्त्रीय विहित-कर्मोंमें भी समयपर जो प्राप्त हो जाते हैं, वे नियत-कर्म लिये जायँगे।

'स त्यागः सात्त्विको मतः*'—कर्म और फलमें आसक्ति तथा कामनाका त्याग करके कर्तव्यमात्र समझकर कर्म करनेसे वह त्याग सात्त्विक हो जाता है। राजस त्यागमें कायक्लेशके भयसे और तामस त्यागमें मोहपूर्वक कर्मोंका स्वरूपसे त्याग किया जाता है। परंतु सात्त्विक त्यागमें कर्मोंका स्वरूपसे त्याग नहीं किया जाता, प्रत्युत कर्मोंको सावधानी एवं तत्परतासे, विधिपूर्वक, निष्कामभावसे किया जाता है। सात्त्विक त्यागसे कर्म और कर्मफलरूप संसारसे सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है। राजस और तामस त्यागमें कर्मोंको स्वरूपसे त्यागनेसे केवल बाहरसे कर्मोंसे सम्बन्ध-विच्छेद दीखता है; परंतु वास्तवमें (भीतरसे) सम्बन्ध-विच्छेद नहीं होता। इसका कारण यह है कि शरीरके कष्टके भयसे कर्मोंका त्याग करनेसे कर्म

---

* गीताभरमें जहाँ कहीं (७।१२; १४।५-१८,२२; १७।१,२, ८-१०, ११-१३, १७-२२ और १८।२०-२८, ३०-३५, ३७-३९ में) गुणोंका वर्णन हुआ है, वहाँ सत्त्व, रज और तम—यही क्रम रखा गया है। केवल यहीं (१८।७-९ में) व्यतिक्रम हुआ है अर्थात् तम, रज और सत्त्व—ऐसा क्रम रखा गया है। इसका कारण है—(१) यदि छठे श्लोकके बाद ही (सातवें श्लोकमें) सात्त्विक त्यागका वर्णन करते तो भगवान्‌के निश्चित मतमें और सात्त्विक त्यागमें पुनरुक्तिका दोष आ जाता। (२) किसी वस्तुकी उत्तमता तभी सिद्ध होती है, जब उसके पहले अनुत्तम वस्तुका वर्णन किया जाय। इस वास्ते भगवान् सात्त्विक त्यागकी उत्तमता सिद्ध करनेके लिये पहले अनुत्तम तामस और राजस त्यागका वर्णन करते हैं। (३) आगे दसवेंसे बारहवें श्लोकतक 'सात्त्विक त्यागी' का वर्णन हुआ है। यदि सात्त्विक त्यागका वर्णन सात्त्विक त्यागीके पास (नवें श्लोकमें) न देते तो तामस त्यागके पास सात्त्विक त्यागीका सम्बन्ध न जुड़ता।

'कुशले नानुषज्जते'—शास्त्रविहित कर्मोंमें भी जो वर्ण, आश्रम, परिस्थिति आदिके अनुसार नियत हैं और जो आसक्ति तथा फलेच्छाका त्याग करके किये जाते हैं तथा परिणाममें जिनसे मुक्ति होती है, ऐसे सभी कर्म 'कुशल' कहलाते हैं। साधक ऐसे कुशल कर्मोंको करते हुए भी उनमें आसक्त नहीं होता।

'त्यागी'—कुशल कर्मोंके करनेमें जिसका राग नहीं होता और अकुशल कर्मोंके त्यागमें जिसका द्वेष नहीं होता, वही असली त्यागी है*। परन्तु वह त्याग पूर्णतया तब सिद्ध होता है, जब कर्मोंके करने अथवा न करनेसे अपनेमें कोई फर्क न पड़े अर्थात् निरन्तर निर्लिप्तता बनी रहे †। ऐसा होनेपर पुरुष

* दोषबुद्ध्योभयातीतो निषेधान्न निवर्तते।
गुणबुद्ध्या च विहितं न करोति यथार्भकः॥
(श्रीमद्भा० ११।७।११)

'जो पुरुष अनुकूलता-प्रतिकूलतारूप द्वन्द्वोंसे ऊँचा उठ जाता है, वह शास्त्रनिषिद्ध कर्मोंका त्याग करता है, पर द्वेषबुद्धिसे नहीं और शास्त्रविहित कर्मोंको करता है, पर गुणबुद्धिसे अर्थात् रागपूर्वक नहीं। जैसे घुटनोंके बलपर चलनेवाले बच्चेकी निवृत्ति और प्रवृत्ति राग-द्वेषपूर्वक नहीं होती, वैसे ही उभयातीत पुरुषकी निवृत्ति और प्रवृत्ति भी राग-द्वेषपूर्वक नहीं होती (बच्चेमें तो अज्ञता रहती है, पर राग-द्वेषसे रहित पुरुषमें विज्ञता रहती है)।'

† नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन।
न चास्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रयः॥
(गीता ३।१८)

'कुशले नानुषज्जते'—शास्त्रविहित कर्मोंमें भी जो वर्ण, आश्रम, परिस्थिति आदिके अनुसार नियत हैं और जो आसक्ति तथा फलेच्छाका त्याग करके किये जाते हैं तथा परिणाममें जिनसे मुक्ति होती है, ऐसे सभी कर्म 'कुशल' कहलाते हैं। साधक ऐसे कुशल कर्मोंको करते हुए भी उनमें आसक्त नहीं होता।

'त्यागी'—कुशल कर्मोंके करनेमें जिसका राग नहीं होता और अकुशल कर्मोंके त्यागमें जिसका द्वेष नहीं होता, वही असली त्यागी है*। परन्तु यह त्याग पूर्णतया तब सिद्ध होता है, जब कर्मोंको करने अथवा न करनेसे अपनेमें कोई फर्क न पड़े अर्थात् निरन्तर निर्लिप्तता बनी रहे †। ऐसा होनेपर पुरुष

---

* दोषबुद्ध्योभयातीतो निषेधान्न निवर्तते।
गुणबुद्ध्या च विहितं न करोति यथार्भकः॥
(श्रीमद्भा० ११। ७। ११)

'जो पुरुष अनुकूलता-प्रतिकूलतारूप द्वन्द्वोंसे ऊँचा उठ जाता है, वह शास्त्रनिषिद्ध कर्मोंका त्याग करता है, पर द्वेषबुद्धिसे नहीं और शास्त्रविहित कर्मोंको करता है, पर गुणबुद्धिसे अर्थात् रागपूर्वक नहीं। जैसे घुटनोंके बलपर चलनेवाले बच्चेकी निवृत्ति और प्रवृत्ति राग-द्वेषपूर्वक नहीं होती, वैसे ही उभयातीत पुरुषकी निवृत्ति और प्रवृत्ति भी राग-द्वेषपूर्वक नहीं होती (बच्चेमें तो अज्ञता रहती है, पर राग-द्वेषसे रहित पुरुषमें विज्ञता रहती है)।'

† नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन।
न चास्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रयः॥
(गीता ३। १८)

'कुशले नानुषज्जते'—शास्त्रविहित कर्मोंमें भी जो वर्ण, आश्रम, परिस्थिति आदिके अनुसार नियत हैं और जो आसक्ति तथा फलेच्छाका त्याग करके किये जाते हैं तथा परिणाममें जिनसे मुक्ति होती है, ऐसे सभी कर्म 'कुशल' कहलाते हैं। साधक ऐसे कुशल कर्मोंको करते हुए भी उनमें आसक्त नहीं होता।

'त्यागी'—कुशल कर्मोंके करनेमें जिसका राग नहीं होता और अकुशल कर्मोंके त्यागमें जिसका द्वेष नहीं होता, वही असली त्यागी है*। परन्तु यह त्याग पूर्णतया तब सिद्ध होता है, जब कर्मोंको करने अथवा न करनेसे अपनेमें कोई फर्क न पड़े अर्थात् निरन्तर निर्लिप्तता बनी रहे †। ऐसा होनेपर पुरुष

---

* दोषबुद्ध्योभयातीतो निषेधान्न निवर्तते।
गुणबुद्ध्या च विहितं न करोति यथार्भकः॥
(श्रीमद्भा० ११।७।११)

'जो पुरुष अनुकूलता-प्रतिकूलतारूप द्वन्द्वोंसे ऊँचा उठ जाता है, वह शास्त्रनिषिद्ध कर्मोंका त्याग करता है, पर द्वेषबुद्धिसे नहीं और शास्त्रविहित कर्मोंको करता है, पर गुणबुद्धिसे अर्थात् रागपूर्वक नहीं। जैसे घुटनोंके बलपर चलनेवाले बच्चेकी निवृत्ति और प्रवृत्ति राग-द्वेषपूर्वक नहीं होती, वैसे ही उभयातीत पुरुषकी निवृत्ति और प्रवृत्ति भी राग-द्वेषपूर्वक नहीं होती (बच्चेमें तो अज्ञता रहती है, पर राग-द्वेषसे रहित पुरुषमें विज्ञता रहती है)।'

† नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन।
न चास्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रयः॥
(गीता ३

'योगारूढ़' हो जाता है * ।

'सत्त्वसमाविष्टः'—आसक्ति आदिका त्याग होनेसे उसकी अपने स्वरूपमें, चिन्मयतामें स्वतः स्थिति हो जाती है । इस वास्ते उसे 'सत्त्वसमाविष्टः' कहा गया है । इसीको पाँचवें अध्यायके उन्नीसवें श्लोकमें 'तस्माद्ब्रह्मणि ते स्थिताः' पदोंसे परमात्मामें स्थित बताया गया है ।

'मेधावी'—जिसके सम्पूर्ण कार्य साङ्गोपाङ्ग होते हैं और कामनाके संकल्पसे रहित होते हैं तथा ज्ञान-अग्निसे जिसने सम्पूर्ण कर्मोंको भस्म कर दिया है, उसे पण्डित भी पण्डित (मेधावी अथवा बुद्धिमान्) कहते हैं † । कारण कि कर्मोंको करते हुए भी कर्मोंसे लिपायमान न होना बड़ी बुद्धिमत्ता है ।

इसी मेधावीको चौथे अध्यायके अठारहवें श्लोकमें 'स बुद्धिमान्मनुष्येषु' पदोंसे सम्पूर्ण मनुष्योंमें बुद्धिमान् बताया गया है ।

कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः ।
स बुद्धिमान्मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत् ॥
(गीता ४ । १८)

* यदा हि नेन्द्रियार्थेषु न कर्मस्वनुषज्जते ।
सर्वसंकल्पसंन्यासी योगारूढस्तदोच्यते ॥
(गीता ६ । ४)

† यस्य सर्वे समारम्भाः कामसंकल्पवर्जिताः ।
ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः ॥
(गीता ४ । १९)

'छिन्नसंशयः'—उस त्यागी पुरुषमें कोई सन्देह नहीं रहता। तत्त्वमें अभिन्नभावसे स्थित रहनेके कारण उसमें किसी तरहका सन्देह रहनेकी सम्भावना ही नहीं रहती। सन्देह तो वहीं रहता है, जहाँ अधूरा ज्ञान होता है अर्थात् कुछ जानते हैं और कुछ नहीं जानते।

सम्बन्ध—

कर्मोको करनेमें राग न हो और छोड़नेमें द्वेष न हो—इतनी झंझट क्यों किया जाय? कर्मोंका सर्वथा ही त्याग क्यों न कर दिया जाय?—इस शङ्काको दूर करनेके लिये अगला श्लोक कहते हैं।

श्लोक—

न हि देहभृता शक्यं त्यक्तुं कर्माण्यशेषतः।
यस्तु कर्मफलत्यागी स त्यागीत्यभिधीयते॥ ११॥

व्याख्या—

'न हि देहभृता* शक्यं त्यक्तुं कर्माण्यशेषतः'—देहधारी अर्थात् देहके साथ तादात्म्य रखनेवाले पुरुषोंके द्वारा कर्मोंका सर्वथा त्याग होना सम्भव नहीं है; क्योंकि शरीर प्रकृतिका कार्य है और प्रकृति स्वतः क्रियाशील है। इस वास्ते शरीरके साथ तादात्म्य (एकता) रखनेवाला क्रियासे रहित कैसे हो सकता है! हाँ यह

* यहाँ 'देहभृता' पदको देहाभिमानी अर्थात् देहके साथ तादात्म्य माननेवाले सामान्य पुरुषोंका ही वाचक समझना चाहिये। गुणातीत महापुरुषकी देहसे भी क्रियाएँ होती रहती हैं; परन्तु देहके साथ तादात्म्य न रहनेसे उसका उन क्रियाओंसे कोई सम्बन्ध नहीं होता अर्थात् वह उन क्रियाओंका कर्ता नहीं बनता।

'योगारूढ़' हो जाता है * ।

'सत्त्वसमाविष्टः'—आसक्ति आदिका त्याग होनेसे उसकी अपने स्वरूपमें, चिन्मयतामें स्वतः स्थिति हो जाती है । इस वास्ते उसे 'सत्त्वसमाविष्टः' कहा गया है । इसीको पाँचवें अध्यायके उन्नीसवें श्लोकमें 'तस्माद्ब्रह्मणि ते स्थिताः' पदोंसे परमात्मामें स्थित बताया गया है ।

'मेधावी'—जिसके सम्पूर्ण कार्य साङ्गोपाङ्ग होते हैं और कामनाके संकल्पसे रहित होते हैं तथा ज्ञान-अग्निसे जिसने सम्पूर्ण कर्मोंको भस्म कर दिया है, उसे पण्डित भी पण्डित (मेधावी अथवा बुद्धिमान्) कहते हैं † । कारण कि कर्मोंको करते हुए भी कर्मोंसे लिपायमान न होना बड़ी बुद्धिमत्ता है ।

इसी मेधावीको चौथे अध्यायके अठारहवें श्लोकमें 'स बुद्धिमान्मनुष्येषु' पदोंसे सम्पूर्ण मनुष्योंमें बुद्धिमान् बताया गया है ।

कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः ।
स बुद्धिमान्मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत् ॥
(गीता ४ । १८)

* यदा हि नेन्द्रियार्थेषु न कर्मस्वनुषज्जते ।
सर्वसंकल्पसंन्यासी योगारूढस्तदोच्यते ॥
(गीता ६ । ४)

† यस्य सर्वे समारम्भाः कामसंकल्पवर्जिताः ।
ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः ॥
(गीता ४ । १९)

'छिन्नसंशयः'—उस त्यागी पुरुषमें कोई सन्देह नहीं रहता । तत्त्वमें अभिन्नभावसे स्थित रहनेके कारण उसमें किसी तरहका सन्देह रहनेकी सम्भावना ही नहीं रहती । सन्देह तो वहीं रहता है, जहाँ अधूरा ज्ञान होता है अर्थात् कुछ जानते हैं और कुछ नहीं जानते ।

सम्बन्ध—

कर्मोंको करनेमें राग न हो और छोड़नेमें द्वेष न हो—इतनी झंझट क्यों किया जाय ? कर्मोंका सर्वथा ही त्याग क्यों न कर दिया जाय ?—इस शङ्काको दूर करनेके लिये अगला श्लोक कहते हैं ।

श्लोक—

न हि देहभृता शक्यं त्यक्तुं कर्माण्यशेषतः ।
यस्तु कर्मफलत्यागी स त्यागीत्यभिधीयते ॥ ११ ॥

व्याख्या—

'न हि देहभृता* शक्यं त्यक्तुं कर्माण्यशेषतः'—देहधारी अर्थात् देहके साथ तादात्म्य रखनेवाले पुरुषोंके द्वारा कर्मोंका सर्वथा त्याग होना सम्भव नहीं है; क्योंकि शरीर प्रकृतिका कार्य है और प्रकृति स्वतः क्रियाशील है । इस वास्ते शरीरके साथ तादात्म्य (एकता) रखनेवाला क्रियासे रहित कैसे हो सकता है ? हाँ यह

* यहाँ 'देहभृता' पदको देहाभिमानी अर्थात् देहके साथ तादात्म्य माननेवाले सामान्य पुरुषोंका ही वाचक समझना चाहिये । गुणातीत महापुरुषकी देहसे भी क्रियाएँ होती रहती हैं परन्तु देहके साथ तादात्म्य न रहनेसे उसका उन क्रियाओंसे कोई सम्बन्ध नहीं होता अर्थात् वह उन क्रियाओंका कर्ता नहीं बनता ।

'छिन्नसंशयः'—उस त्यागी पुरुषमें कोई सन्देह नहीं रहता। तत्त्वमें अभिन्नभावसे स्थित रहनेके कारण उसमें किसी तरहका सन्देह रहनेकी सम्भावना ही नहीं रहती। सन्देह तो वहीं रहता है, जहाँ अधूरा ज्ञान होता है अर्थात् कुछ जानते हैं और कुछ नहीं जानते।

सम्बन्ध—

कर्मोंको करनेमें राग न हो और छोड़नेमें द्वेष न हो—इतनी झंझट क्यों किया जाय? कर्मोंका सर्वथा ही त्याग क्यों न कर दिया जाय?—इस शङ्काको दूर करनेके लिये अगला श्लोक कहते हैं।

श्लोक—

न हि देहभृता शक्यं त्यक्तुं कर्माण्यशेषतः।
यस्तु कर्मफलत्यागी स त्यागीत्यभिधीयते॥११॥

व्याख्या—

'न हि देहभृता* शक्यं त्यक्तुं कर्माण्यशेषतः'—देहधारी अर्थात् देहके साथ तादात्म्य रखनेवाले पुरुषोंके द्वारा कर्मोंका सर्वथा त्याग होना सम्भव नहीं है; क्योंकि शरीर प्रकृतिका कार्य है और प्रकृति स्वतः क्रियाशील है। इस वास्ते शरीरके साथ तादात्म्य (एकता) रखनेवाला क्रियासे रहित कैसे हो सकता है? हाँ, यह

* यहाँ 'देहभृता' पदको देहाभिमानी अर्थात् देहके साथ तादात्म्य माननेवाले सामान्य पुरुषोंका ही वाचक समझना चाहिये। गुणातीत महापुरुषकी देहसे भी क्रियाएँ होती रहती हैं; परन्तु देहके साथ तादात्म्य न रहनेसे उसका उन क्रियाओंसे कोई सम्बन्ध नहीं होता अर्थात् वह उन क्रियाओंका कर्ता नहीं बनता।

हो सकता है कि मनुष्य यज्ञ, दान, तप, तीर्थ आदि कर्मोंको छोड़ दे; परन्तु वह खाना-पीना, चलना-फिरना, आना-जाना, उठना-बैठना, सोना-जागना आदि आवश्यक शारीरिक क्रियाओंको कैसे छोड़ सकता है?

दूसरी बात, भीतरसे कर्मोंका सम्बन्ध छोड़ना ही वास्तवमें छोड़ना है। बाहरसे सम्बन्ध नहीं छोड़ा जा सकता। यदि बाहरसे सम्बन्ध छोड़ भी दिया जाय तो वह कबतक छूटा रहेगा? जैसे कोई समाधि लगा ले तो उस समय बाहरकी क्रियाओंका सम्बन्ध छूट जाता है। परन्तु समाधि भी एक क्रिया है, एक कर्म है; क्योंकि इसमें प्रकृतिजन्य कारण-शरीरका सम्बन्ध रहता है। इस वास्ते समाधिसे भी व्युत्थान होता है।

कोई भी देहधारी कर्मोंका स्वरूपसे सम्बन्ध-विच्छेद नहीं कर सकता—**'न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्'** (गीता ३।५)। कर्मोंका आरम्भ किये बिना निष्कर्मता (योगनिष्ठा प्राप्त नहीं होती और कर्मोंको त्यागनेमात्रसे सिद्धि (सांख्यनिष्ठा भी प्राप्त नहीं होती—

न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते।
न च संन्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति॥
(गीता ३

मार्मिक बात—पुरुष और प्रकृति—ये दो तत्त्व हैं। सत्-असत्, नित्य-अनित्य, परा-अपरा, चेतन-जड़, अविनाशी आदि नामोंसे कहते हैं। ये दोनों ही अनादि हैं—**'प्रकृ**

चैव विद्ध्यनादी उभावपि' (गीता १३ । १९) । अनादि होनेसे इन दोनोंका भेद भी अनादि है । जब भेद अनादि हुआ तो उन दोनोंके भेदका ज्ञान अर्थात् विवेक भी अनादि हुआ ।

केवल पुरुषने ही प्रकृतिके साथ अपना सम्बन्ध जोड़ा है। प्रकृतिने पुरुषके साथ सम्बन्ध नहीं जोड़ा है । जहाँ विवेक रहता है, वहाँ पुरुषने विवेककी उपेक्षा करके प्रकृतिसे सम्बन्धकी सद्भावना कर ली अर्थात् सम्बन्धको सत्य मान लिया । सम्बन्धको सत्य माननेसे ही बन्धन हुआ है । वह सम्बन्ध दो तरहका होता है—अपनेको शरीर मानना और शरीरको अपना मानना । अपनेको शरीर माननेसे 'अहंता' और शरीरको अपना माननेसे 'ममता' होती है । इस अहंता-ममतारूप सम्बन्धका घनिष्ठ होना ही देह-धारीका स्वरूप है । ऐसा देहधारी पुरुष कर्मोंको सर्वथा नहीं छोड़ सकता ।

दूसरी बात, पुरुष सदा निर्विकार और एकरस रहनेवाला है; परन्तु प्रकृति विकारी और सदा परिवर्तनशील है । जिसमें अच्छी रीतिसे क्रियाशीलता हो, उसको 'प्रकृति' कहते हैं—'प्रकर्षेण करणं प्रकृतिः ।' उस प्रकृतिके कार्य शरीरके साथ जबतक पुरुष अपना सम्बन्ध (तादात्म्य) मानता रहेगा, तबतक वह कर्मोंका सर्वथा त्याग कर ही नहीं सकता; क्योंकि शरीरमें अहंता-ममता होनेके कारण मनुष्य शरीरसे होनेवाली प्रत्येक क्रियाको अपनी क्रिया मानता है, इस वास्ते वह कभी किसी अवस्थामें भी क्रिया-रहित नहीं हो सकता ।

'यस्तु* कर्मफलत्यागी स त्यागीत्यभिधीयते'—जो किसी भी कर्म और फलके साथ सम्बन्ध नहीं रखता, वही त्यागी है। जबतक मनुष्य कुशल-अकुशलके साथ, अच्छे-मन्देके साथ सम्बन्ध रखता है, तबतक वह त्यागी नहीं है।

यह पुरुष जिस प्राकृत क्रिया और पदार्थको अपना मानता है, उसमें उसकी प्रियता हो जाती है। उसी प्रियताका नाम है—आसक्ति। वह आसक्ति ही वर्तमानके कर्मोंको लेकर 'कर्मासक्ति' और भविष्यमें मिलनेवाले फलकी इच्छाको लेकर 'फलासक्ति' कहलाती है। जब मनुष्य फल-त्यागका उद्देश्य बना लेता है, तब उसके सब कर्म संसारके हितके लिये होने लगते हैं, अपने लिये नहीं। कारण कि उसको यह बात अच्छी तरहसे समझमें आ जाती है कि कर्म करनेकी सब-की-सब सामग्री संसारसे मिली है और संसारकी ही है, अपनी नहीं। इन कर्मोंका भी आदि और अन्त होता है तथा उनका फल भी उत्पन्न और नष्ट होनेवाला होता है; परन्तु स्वयं सदा निर्विकार रहता है; न उत्पन्न होता है, न नष्ट होता है और न कभी विकृत ही होता है। ऐसा विवेक होनेपर फलेच्छाका त्याग सुगमतासे हो जाता है। फलका त्याग करनेमें उस विवेकी पुरुषमें कभी अभिमान भी नहीं आता; क्योंकि कर्म और उसका फल—दोनों ही अपनेसे प्रतिक्षण

* यहाँ 'तु' अव्ययका प्रयोग करनेका तात्पर्य है कि जो सामान्य संसारी पुरुष हैं, उनकी अपेक्षा कर्मफलका त्याग करनेवाला पुरुष श्रेष्ठ है, विलक्षण है। कारण कि उसका उद्देश्य परमात्मतत्त्वकी प्राप्ति करनेका अर्थात् अपना कल्याण करनेका होता है।

वियुक्त हो रहे हैं; अतः उनके साथ हमारा सम्बन्ध वास्तवमें है ही कहाँ ? इसीलिये भगवान् कहते हैं कि जो कर्मफलका त्यागी है, वही त्यागी कहा जाता है ।

निर्विकारका विकारी कर्मफलके साथ सम्बन्ध कभी था नहीं, है नहीं, हो सकता नहीं और होनेकी सम्भावना भी नहीं है । केवल अविवेकके कारण सम्बन्ध माना हुआ था । उस अविवेकके मिटनेसे मनुष्यकी अभिधा अर्थात् उसका नाम 'त्यागी' हो जाता है—'स त्यागीत्यभिधीयते' ।

माने हुए सम्बन्धके विषयमें दृष्टान्तरूपसे एक बात कही जाती है । एक व्यक्ति घर-परिवारको छोड़कर सच्चे हृदयसे साधु-संन्यासी हो जाता है तो उसके बाद घरवालोंकी कितनी ही उन्नति अथवा अवनति हो जाय अथवा सब-के-सब मर जायँ, उनका नाम-निशान भी न रहे तो भी उसपर कोई असर नहीं पड़ता । इसमें जरा विचार करें कि उस व्यक्तिका परिवारके साथ जो सम्बन्ध था, वह दोनों तरफसे माना हुआ था अर्थात् वह परिवारको अपना मानता था और परिवार उसको अपना मानता था । परन्तु पुरुष और प्रकृतिका सम्बन्ध केवल पुरुषकी तरफसे माना हुआ है, प्रकृतिकी तरफसे माना हुआ नहीं । जब दोनों तरफसे माना हुआ (व्यक्ति और परिवारका) सम्बन्ध भी एक तरफसे छोड़नेपर छूट जाता है, तब केवल एक तरफसे माना हुआ (पुरुष और प्रकृतिका) सम्बन्ध छोड़नेपर छूट जाय, इसमें कहना ही क्या है ?

सम्बन्ध—

कर्मफलका त्याग करनेवाला ही वास्तवमें त्यागी है, सकाम कर्म करनेवाला त्यागी नहीं है—यह बात अगले श्लोकमें बताते हैं।

श्लोक—

अनिष्टमिष्टं मिश्रं च त्रिविधं कर्मणः फलम्।
भवत्यत्यागिनां प्रेत्य न तु संन्यासिनां क्वचित्॥ १२॥

व्याख्या—

'अनिष्टमिष्टं मिश्रं च त्रिविधं कर्मणः फलम्'—कर्मका
ल तीन तरहका होता है—इष्ट, अनिष्ट और मिश्र। जिस
रिस्थितिको प्राणी चाहता है, वह **'इष्ट'** कर्मफल है, जिस
परिस्थितिको प्राणी नहीं चाहता, वह **'अनिष्ट'** कर्मफल है और
जिसमें कुछ भाग इष्टका तथा कुछ भाग अनिष्टका है, वह
'मिश्र' कर्मफल है। वास्तवमें देखा जाय तो संसारमें प्रायः मिश्रित
ही फल होता है; जैसे धन होनेसे अनुकूल (इष्ट) और प्रतिकूल
(अनिष्ट)—दोनों ही परिस्थितियाँ आती हैं; धनसे निर्वाह होत
है—यह अनुकूलता है और टैक्स लगता है, उसकी रक्षा
चिन्ता होती है, उसके बटनेपर दुःख होता है—यह प्रतिकूल
है। अतः इष्ट और अनिष्ट कहनेका मतलब यह है कि
इष्टकी मुख्यता होती है तो कभी अनिष्टकी मुख्यता होती है।

'भवत्यत्यागिनां प्रेत्य'—उपर्युक्त सभी फल अत्यागि
अर्थात् फलकी इच्छा रखकर कर्म करनेवालोंको ही मिल
संन्यासियोंको नहीं। कारण कि जितने भी कर्म होते हैं,

प्रकृतिके द्वारा अर्थात् प्रकृतिके कार्य शरीर, इन्द्रियाँ, मन और बुद्धिके द्वारा ही होते हैं और फलरूप परिस्थिति भी प्रकृतिके द्वारा ही बनती है। इस वास्ते कर्मोंका और उनके फलोंका सम्बन्ध केवल प्रकृतिके साथ है, 'स्वयम्' (चेतनस्वरूप) के साथ नहीं। परन्तु जब 'स्वयम्' उससे सम्बन्ध तोड़ लेता है तो फिर वह भोगी नहीं बनता, प्रत्युत त्यागी हो जाता है।

अत्यागीका मतलब है—पिछले दो (दसवें-ग्यारहवें) श्लोकोंमें जिन *त्यागियोंकी बात आयी है, उनके समान जो त्यागी नहीं हैं* अर्थात जिन्होंने कर्मफलका त्याग नहीं किया है; किंतु आसक्तिपूर्वक कर्म करते रहते हैं। ऐसे *अत्यागी मनुष्योंके सामने इष्ट, अनिष्ट* और मिश्र—तीनों कर्मफल अनुकूल और प्रतिकूल परिस्थितिके रूपमें आते रहते हैं, जिनसे वे सुखी-दुःखी होते रहते हैं। उनसे सुखी-दुःखी होना ही वास्तवमें बन्धन है।

वास्तवमे अनुकूलतामे सुखी होना ही प्रतिकूलतामें दुःखी होनेका कारण है; क्योंकि परिस्थितिजन्य सुख भोगनेवाला कभी दुःखसे बच ही नहीं सकता। जबतक वह सुख भोगता रहेगा, तब-तक वह प्रतिकूल परिस्थितियोंमें दुःखी होता ही रहेगा। चिन्ता, शोक, भय, उद्वेग आदि उसको कभी छोड नहीं सकते और वह भी इनसे कभी छूट नहीं सकता।

'प्रेत्य भवति' कहनेका तात्पर्य है कि जो कर्मफलके त्यागी नहीं हैं, उनको इष्ट, अनिष्ट और मिश्र—ये तीनों कर्मफल मरनेके बाद जरूर मिलते हैं। परंतु इसके साथ 'न तु संन्यासिनां क्वचित्'

प्राणियोंके हितके लिये होती हैं। कारण कि शरीर आदि सब-की-सब सामग्री संसारसे अभिन्न है। उस सामग्रीसे अपना हित चाहता है—यही गलती होती है, जो कि अपनी परिच्छिन्नतामें हेतु होती है।

यहाँ 'संन्यासिनाम्' पदमें त्यागी अर्थात् कर्मयोगी और संन्यासी अर्थात् सांख्ययोगी—दोनोंकी एकता की गयी है; जैसे—कर्मयोगी कर्मोंसे असङ्ग रहता है तो सांख्ययोगी भी कर्मोंसे सर्वथा निर्लिप्त रहता है। कर्मयोगी (निष्कामभावसे) कर्म करते हुए भी फलके साथ सम्बन्ध नहीं रखता तो सांख्ययोगी भी कर्ममात्रके साथ किञ्चित् भी सम्बन्ध नहीं रखता। कर्मयोगी फलसे सम्बन्ध-विच्छेद करता है अर्थात् ममताका त्याग करता है तो सांख्ययोगी कर्तृत्वाभिमान अर्थात् अहंताका त्याग करता है। ममताका त्याग होनेपर अहंताका भी स्वतः त्याग हो जाता है और अहंताका त्याग होनेपर ममताका भी स्वतः त्याग हो जाता है। इस वास्ते भगवान्‌ने कर्मयोगमें ममताके त्यागके बाद अहंताका त्याग बताया है—'**निर्ममो निरहंकारः**' (२ । ७१) और सांख्ययोगमें अहंताके त्यागके बाद ममताका त्याग बताया है—'**अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं परिग्रहम्। विमुच्य निर्ममः**·········' (१८ । ५३)। इन दोनोंकी इस त्याग करनेकी प्रक्रियामें तो फर्क है; परंतु परिवर्तनशील प्रकृति और प्रकृतिका कार्य—इनमेंसे किसीके भी साथ इन दोनोंका सम्बन्ध नहीं रहता अर्थात् तत्त्वमें कर्मयोगी और सांख्ययोगी—दोनों एक हो जाते हैं।

पहले अर्जुनने यह पूछा था कि मैं संन्यास और त्यागका तत्त्व जानना चाहता हूँ तो भगवान्‌ने यहाँ 'संन्यासिनाम्' पदसे दोनोंका यह तत्त्व बताया कि कर्मयोगीका यह भाव रहता है कि अपना कुछ नहीं है, अपने लिये कुछ नहीं चाहिये और अपने लिये कुछ नहीं करना है। ऐसे ही सांख्ययोगीका भी यह भाव रहता है कि अपना कुछ नहीं है और अपने लिये कुछ नहीं चाहिये। सांख्ययोगी प्रकृति और प्रकृतिके कार्यके साथ किञ्चिन्मात्र भी अपना सम्बन्ध नहीं मानता, इस वास्ते उसके लिये 'अपने लिये कुछ नहीं करना है'—यह कहना ही नहीं बनता।

यहाँ 'त्यागिनाम्' पद न देकर 'संन्यासिनाम्' पद देनेका यह तात्पर्य है कि जो निर्लिप्तता सांख्ययोगसे होती है, वही निर्लिप्तता त्यागसे अर्थात् कर्मयोगसे भी होती है *। दूसरी बात, यहाँतक कर्मयोगसे निर्लिप्तता बतायी, अब 'संन्यासिनाम्' पद कहकर आगे सांख्ययोगसे निर्लिप्तता बतानेका बीज भी डाल देते हैं।

कर्म-सम्बन्धी विशेष बात

पुरुष और प्रकृति—ये दो हैं। इनमेंसे पुरुषमें कभी परिवर्तन नहीं होता और प्रकृति कभी परिवर्तन-रहित नहीं होती। जब यह

---

* सांख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः।
एकमप्यास्थितः सम्यगुभयोर्विन्दते फलम्॥
यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते।
एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति॥
(गीता ५। ४-५)

पुरुष प्रकृतिके साथ सम्बन्ध जोड़ लेता है तो प्रकृतिकी क्रिया पुरुषका 'कर्म' बन जाती है; क्योंकि प्रकृतिके साथ सम्बन्ध माननेसे तादात्म्य हो जाता है। तादात्म्य होनेसे जो प्राकृत वस्तुएँ प्राप्त हैं, उनमें ममता होती है और उस ममताके कारण अप्राप्त वस्तुओंकी कामना होती है। इस प्रकार जबतक कामना, ममता और तादात्म्य रहता है, तबतक जो कुछ परिवर्तनरूप क्रिया होती है, उसका नाम 'कर्म' है।

तादात्म्यके टूटनेपर वही कर्म पुरुषके लिये अकर्म हो जाता है अर्थात् वह कर्म क्रियामात्र रह जाता है, उसमें फलजनकता नहीं रहती—यह 'कर्ममें अकर्म' है। अकर्म-अवस्थामें अर्थात् स्वरूपका अनुभव होनेपर उस तत्त्वज्ञ जीवन्मुक्त पुरुषके शरीरसे जो क्रिया होती रहती है, वह 'अकर्ममें कर्म' है *। तात्पर्य यह हुआ कि अपने निर्लिप्त स्वरूपका अनुभव न होनेपर भी वास्तवमें सब क्रियाएँ प्रकृति और उसके कार्य शरीरमें ही होती हैं; परन्तु प्रकृति या शरीरसे अपनी पृथक्ताका अनुभव न होनेसे वे क्रियाएँ 'कर्म' बन जाती हैं †।

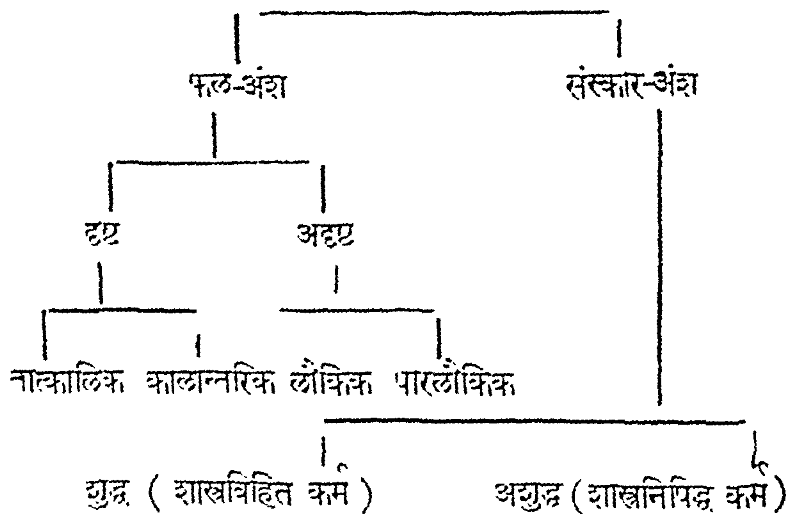
---

* कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः।
स बुद्धिमान्मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत्॥ (गीता ४। १८)

† प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः।
अहंकारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते॥ (गीता ३। २७)
प्रकृत्यैव च कर्माणि क्रियमाणानि सर्वशः।
यः पश्यति तथात्मानमकर्तारं स पश्यति॥
(गीता १३। २९)

कर्म तीन तरहके होते हैं—क्रियमाण, सञ्चित और प्रारब्ध। अभी वर्तमानमें जो कर्म किये जाते हैं, वे **'क्रियमाण'** कर्म कहलाते हैं *। वर्तमानसे पहले इस जन्ममें किये हुए अथवा पहलेके अनेक मनुष्यजन्मोंमें किये हुए जो कर्म संग्रहीत हैं, वे **'सञ्चित'** कर्म कहलाते हैं। सञ्चितमेंसे जो कर्म फल देनेके लिये प्रस्तुत (उन्मुख) हो गये हैं अर्थात् जन्म, आयु और सुखदायी-दुःखदायी परिस्थितिके रूपमें परिणत होनेके लिये सामने आ गये हैं, वे **'प्रारब्ध'** कर्म कहलाते हैं।

क्रियमाण कर्म



* जो भी नये कर्म और उनके संस्कार बनते हैं, वे सब केवल मनुष्यजन्ममें ही बनते हैं (गीता ४ । १२, १५ । २) पशु-पक्षी आदि योनियोंमें नहीं; क्योंकि वे योनियाँ केवल कर्मफल-भोगके लिये ही मिलती हैं।

क्रियमाण कर्म दो तरहके होते हैं—शुभ और अशुभ। जो कर्म शास्त्रानुसार विधि-विधानसे किये जाते हैं, वे शुभ-कर्म कहलाते हैं और काम, क्रोध, लोभ, आसक्ति आदिको लेकर जो शास्त्रनिषिद्ध कर्म किये जाते हैं, वे अशुभ-कर्म कहलाते हैं।

शुभ अथवा अशुभ प्रत्येक क्रियमाण कर्मका एक तो फल-अंश बनता है और एक संस्कार-अंश। ये दोनों भिन्न-भिन्न हैं।

क्रियमाण कर्मके फल-अंशके दो भेद हैं—दृष्ट और अदृष्ट। इनमेंसे दृष्टके भी दो भेद होते हैं—तात्कालिक और कालान्तरिक। जैसे स्वादिष्ट भोजन करते हुए जो रस आता है, सुख होता है, प्रसन्नता होती है और तृप्ति होती है—यह दृष्टका 'तात्कालिक' फल है और भोजनके परिणाममें आयु, बल, आरोग्य आदिका बढ़ना—यह दृष्टका 'कालान्तरिक' फल है। ऐसे ही जिसका अधिक मिर्च खानेका स्वभाव है, वह जब अधिक मिर्चवाले पदार्थ खाता है तो उसको प्रसन्नता होती है, सुख होता है और मिर्चकी तीक्ष्णताके कारण मुँहमें, जीभमें जलन होती है, आँखोंसे और नाकसे पानी निकलता है, सिरसे पसीना निकलता है—यह दृष्टका 'तात्कालिक' फल है और कुपथ्यके कारण परिणाममें पेटमें जलन और रोग, दुःख आदिका होना—यह दृष्टका 'कालान्तरिक' फल है।

इसी प्रकार अदृष्टके भी दो भेद होते हैं—लौकिक और पारलौकिक। जीते-जी ही फल मिल जाय—इस भावसे यज्ञ, दान, तप, तीर्थ, व्रत, मन्त्र-जप आदि शुभ-कर्मोंको विधि-विधानसे किया जाय और उनका कोई प्रबल प्रतिबन्ध न हो तो यहाँ ही पुत्र,

धन, यश, प्रतिष्ठा आदि अनुकूलकी प्राप्ति होना और रोग, निर्धनता आदि प्रतिकूलकी निवृत्ति होना—यह अदृष्टका 'लौकिक' फल है * और मरनेके बाद स्वर्ग आदिकी प्राप्ति हो जाय, इस भावसे यथार्थ विधि-विधान और श्रद्धा-विश्वासपूर्वक जो यज्ञ, दान, तप आदि शुभकर्म किये जायँ तो मरनेके बाद स्वर्ग आदि लोकोंकी प्राप्ति होना—यह अदृष्टका 'पारलौकिक' फल है। ऐसे ही डाका डालने, चोरी करने, मनुष्यकी हत्या करने आदि अशुभ-कर्मोंका फल यहाँ ही कैद, जुर्माना, फाँसी आदि होना—यह अदृष्टका 'लौकिक' फल है, और पापोंके कारण मरनेके बाद नरकोंमें जाना और पशु-पक्षी, कीट-पतङ्ग आदि बनना—यह अदृष्टका 'पारलौकिक' फल है।

पाप-पुण्यके इस लौकिक और पारलौकिक फलके विषयमें एक बात और समझनेकी है कि जिन पाप-कर्मोंका फल यहीं कैद, जुर्माना, अपमान, निन्दा आदिके रूपमें भोग लिया है, उन पापोंका फल मरनेके बाद भोगना नहीं पड़ेगा। परन्तु व्यक्तिके पाप कितनी मात्राके थे और उनका भोग कितनी मात्रामें हुआ अर्थात उन पाप-कर्मोंका फल उसने पूरा भोगा या अधूरा भोगा—इसका पूरा पता मनुष्यको नहीं लगता; क्योंकि मनुष्यके पास इसका कोई माप-तौल नहीं है। परन्तु भगवान्‌को इसका पूरा पता है;

* यहाँ दृष्टका 'कालान्तरिक' फल और अदृष्टका 'लौकिक' फल—दोनों फल एक समान ही दीखते हैं, फिर भी दोनोंमें अन्तर है। जो 'कालान्तरिक' फल है, वह सीधे मिलता है, प्रारब्ध बनकर नहीं; परन्तु जो 'लौकिक' फल है, वह प्रारब्ध बनकर ही मिलता है।

अतः उनके कानूनके अनुसार उन पापोंका फल यहाँ जितने अंशमें कम भोगा गया है, उतना इस जन्ममें या मरनेके बाद भोगना ही पड़ेगा। इस वास्ते मनुष्यको ऐसी शङ्का नहीं करनी चाहिये कि मेरा पाप तो कम था, पर दण्ड अधिक भोगना पड़ा अथवा मैंने पाप तो किया नहीं पर दण्ड मुझे मिल गया! कारण कि यह सर्वज्ञ, सर्वसुहृद्, सर्वसमर्थ भगवान्‌का विधान है कि पापसे अधिक दण्ड कोई नहीं भोगता और जो दण्ड मिलता है, वह किसी-न-किसी पापका ही फल होता है।*

* एक सुनी हुई कहानी है। किसी गाँवमें एक सज्जन रहते थे। उनके घरके सामने एक सुनारका घर था। सुनारके पास सोना आता रहता था और वह गढ़कर देता रहता था। ऐसे वह पैसे कमाता था। एक दिन उसके पास अधिक सोना जमा हो गया। रात्रिमें पहरा लगानेवाले सिपाहीको इस बातका पता लग गया। उस पहरेदारने रात्रिमें उस सुनारको मार दिया और जिस बक्समें सोना था, उसे उठाकर चल दिया। इसी बीच सामने रहनेवाले सज्जन लघुशंकाके लिये उठकर बाहर आये। उन्होंने पहरेदारको पकड़ लिया कि तू इस बक्सेको कैसे ले जा रहा है? तो पहरेदारने कहा—तू चुप रह, हल्ला मत कर। इसमेंसे कुछ तू ले ले और कुछ मैं ले लूँ। सज्जन बोले—मैं कैसे ले लूँ! मैं चोर थोड़ा ही हूँ! पहरेदारने कहा—देख, तू समझ जा, मेरी बात मान ले, नहीं तो दुःख पायेगा। पर वे सज्जन माने नहीं। तब पहरेदारने बक्सा नीचे रख दिया और उस सज्जनको पकड़कर जोरसे सीटी बजा दी। सीटी सुनते ही और जगह पहरा लगानेवाले सिपाही दौड़कर वहाँ आ गये। उसने सबसे कहा कि यह इस घरसे बक्सा लेकर आया है और मैंने इसको पकड़ लिया है। तब सिपाहियोंने घरमें घुसकर देखा कि सुनार मरा पड़ा है। उन्होंने उस सज्जनको पकड़ लिया और

शल्यके हवाले कर दिया। जजके सामने बहस हुई तो उस सज्जनने कहा कि मैंने नहीं मारा है, उस पहरेदार सिपाहीने मारा है। सब सिपाही आपसमें मिले हुए थे, उन्होंने कहा कि नहीं, इसीने मारा है, हमने खुद रात्रिमें इसे पकड़ा है, इत्यादि।

मुकदमा चला। चलते-चलते अन्तमें उस सज्जनके लिये फाँसीका हुक्म हुआ। फाँसीका हुक्म होते ही उस सज्जनके मुखसे निकला—देखो, सरासर अन्याय हो रहा है! भगवान्के दरबारमें कोई न्याय नहीं! मैंने मारा नहीं, मुझे दण्ड हो और जिसने मारा है, वह बेदाग छूट जाय, जुर्माना भी नहीं: यह अन्याय है! जजपर इसका असर पड़ा कि वास्तवमें यह सच्चा बोल रहा है, इसकी किसी तरहसे जाँच होनी चाहिये। ऐसा विचार करके उस जजने एक षड्यन्त्र रचा।

सुबह होते ही एक आदमी रोता-चिल्लाता हुआ आता है और कहता है—हमारे भाईकी हत्या हो गयी, सरकार! इसकी जाँच होनी चाहिये। तब जजने उसी सिपाहीको और कैदी सज्जनको मरे व्यक्तिकी लाश उठाकर लानेके लिये भेजा। दोनों उस आदमीके साथ वहाँ गये, जहाँ लाश पड़ी थी। खाटपर लाशके ऊपर कपड़ा बिछा था। खून बिखरा पड़ा था। दोनोंने उस खाटको उठाया और उठाकर ले चले। साथका दूसरा आदमी खबर देनेके बहाने दौड़कर आगे चला गया। तब चलते-चलते सिपाहीने कैदीसे कहा—देख, उस दिन तू मेरी बात मान लेता तो सोना मिल जाता और फाँसी भी नहीं होती, अब देख लिया सच्चाईका फल? कैदीने कहा—मैंने तो अपना काम सच्चाईका ही किया था, फाँसी हो गयी तो हो गयी! हत्या की तूने और दण्ड भोगना पड़ा मेरेको! भगवान्के यहाँ न्याय नहीं!

खाटपर झटमूट मरे हुएके समान पड़ा हुआ आदमी उन दोनोंकी बातें सुन रहा था। उसने खाटपर पड़े-पड़े उन दोनोंकी बातें लिख लीं कि सिपाहीने यह कहा और कैदीने यह कहा। जब जजके सामने खाट

रखी गयी तो खूनभरे कपड़ेको हटाकर वह उठ खड़ा हुआ और उसने सारी बात जजको बता दी कि रास्तेमें सिपाही यह बोला और कैदी यह बोला। यह सुनकर जजको बड़ा आश्चर्य हुआ। सिपाही भी हक्का-बक्का रह गया। सिपाहीको पकड़कर कैद कर लिया गया। परंतु जजके मनमें सन्तोष नहीं हुआ। उसने कैदीको एकान्तमें बुलाकर कहा कि इस मामलेमें तो मैं तुम्हें निर्दोष मानता हूँ, पर सच-सच बताओ कि इस जन्ममें तुमने कोई हत्या की है क्या? वह बोला—बहुत पहलेकी घटना है। एक दुष्ट था जो छिपकर मेरे घर मेरी स्त्रीके पास आया करता था। मैंने अपनी स्त्रीको तथा उसको अलग-अलग खूब समझाया। पर वह माना नहीं। एक रात वह घरपर था और अचानक मैं आ गया। मेरेको गुस्सा आया हुआ था। मैंने तलवारसे उसका गला काट दिया और घरके पीछे जो नदी है, उसमें फेंक दिया। इस घटनाका किसीको पता नहीं लगा। यह सुनकर जज बोला—तुम्हारेको इस समय फाँसी होगी ही; मैंने भी सोचा कि मैंने किसीसे घूस (रिश्वत) नहीं खायी, कभी बेईमानी नहीं की, फिर मेरे हाथसे इसके लिये फाँसीका हुकम लिखा कैसे गया? अब सन्तोष हुआ। उसी पापका फल तुम्हें यह भोगना पड़ेगा। सिपाहीको अलग फाँसी होगी।

इस कहानीसे यह पता लगता है कि मनुष्यके कब किये हुए पापका फल कब मिलेगा—इसका कुछ पता नहीं। भगवान्‌का विधान विचित्र है। जबतक पुराने पुण्य प्रबल रहते हैं, तबतक उग्र पापका फल भी तत्काल नहीं मिलता। जब पुराने पुण्य खत्म होते हैं, तब उस पापकी बारी आती है। पापका फल दण्ड तो भोगना पड़ेगा ही, चाहे इस जन्ममें भोगना पड़े या जन्मान्तरमें।

अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम्।
नाभुक्तं क्षीयते कर्म जन्मकोटिशतैरपि॥

इसी तरह धन-सम्पत्ति, मान, आदर, प्रशंसा, नीरोगता आदि अनुकूल परिस्थितिके रूपमें पुण्य-कर्मोंका जितना फल यहाँ भोग लिया है, उतना अंश तो यहाँ नष्ट हो ही गया और जितना बाकी रह गया है, वह परलोकमें फिर भोगा जा सकता है। यदि पुण्य-कर्मोंका पूरा फल यहीं भोग लिया गया है तो पुण्य यहींपर समाप्त हो जायँगे।

क्रियमाण-कर्मके संस्कार-अंशके भी दो भेद हैं—शुद्ध एवं पवित्र संस्कार और अशुद्ध एवं अपवित्र संस्कार। शास्त्रविहित कर्म करनेसे जो संस्कार पड़ते हैं, वे शुद्ध एवं पवित्र होते हैं और शास्त्र, नीति लोकमर्यादाके विरुद्ध कर्म करनेसे जो संस्कार पड़ते हैं, वे अशुद्ध एवं अपवित्र होते हैं।

इन दोनों शुद्ध और अशुद्ध संस्कारोंको लेकर स्वभाव (प्रकृति, आदत) बनता है। उन संस्कारोंमेंसे अशुद्ध अंशका सर्वथा नाश करनेपर स्वभाव शुद्ध, निर्मल, पवित्र हो जाता है; परंतु जिन पूर्वकृत कर्मोंसे स्वभाव बना है, उन कर्मोंकी भिन्नताके कारण जीवन्मुक्त पुरुषोंके स्वभावोंमें भी भिन्नता रहती है। इन विभिन्न स्वभावोंके कारण ही उनके द्वारा विभिन्न कर्म होते हैं, पर वे कर्म दोषी नहीं होते, प्रत्युत सर्वथा शुद्ध होते हैं और उन कर्मोंसे दुनियाका कल्याण होता है।

संस्कार-अंशसे जो स्वभाव बनता है, वह एक दृष्टिसे महान् प्रबल होता है—'**स्वभावो मूर्ध्नि वर्तते**', अतः उसे मिटाया नहीं

जा सकता* । इसी प्रकार ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि वर्णोंका जो स्वभाव है, उसकी कर्म करनेमें मुख्यता रहती है । इस वास्ते भगवान्‌ने अर्जुनसे कहा है कि जिस कर्मको तू मोहवश नहीं करना चाहता, उसको भी अपने स्वाभाविक कर्मसे बँधा हुआ परवश होकर करेगा (गीता १८ । ६०) ।

अब इसमें विचार करनेकी एक बात है कि एक ओर तो स्वभावकी महान् प्रबलता है कि उसको कोई छोड़ ही नहीं सकता, और दूसरी ओर मनुष्य-जन्मके उद्योगकी महान् प्रबलता है कि मनुष्य सब कुछ करनेमें स्वतन्त्र है । तो इन दोनोंमें किसकी विजय होगी और किसकी पराजय होगी ? इसमें विजय-पराजयकी बात नहीं है । अपनी-अपनी जगह दोनों ही प्रबल हैं । परंतु यहाँ स्वभाव न छोड़नेकी जो बात है, वह जाति-विशेषके स्वभावकी बात है । तात्पर्य यह कि जीव जिस वर्णमें जन्मा है, जैसा रज-वीर्य था, उसके अनुसार बना हुआ जो स्वभाव है, उसको

---

* व्याघ्रस्तुष्यति कानने सुगहनं सिंहो गुहां सेवते
हंसो वाञ्छति पद्मिनीं कुसुमितां गृध्रः श्मशाने स्थले ।
साधुः सत्कृतिसाधुमेव भजते नीचोऽपि नीचं जनं
या यस्य प्रकृतिः स्वभावजनिता केनापि न त्यज्यते ॥

'व्याघ्र घने वनमें संतुष्ट रहता है, सिंह गहन गुफाका सेवन करता है, हंस खिली हुई कमलिनीको चाहता है, गीध श्मशान-भूमिमें रहना पसंद करता है, सज्जन पुरुष अच्छे आचरणोंवाले सज्जन पुरुषोंमें और नीच पुरुष नीच लोगोंमें ही रहना चाहते हैं । सच है, स्वभावसे पैदा हुई जिसकी जैसी प्रकृति है, उस प्रकृतिको कोई नहीं छोड़ता ।'

कोई बदल नहीं सकता; अतः वह स्वभाव दोषी नहीं है, निर्दोष है। जैसे, ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि वर्णोंके जो स्वभाव हैं, वह स्वभाव नहीं बदल सकता और उसको बदलनेकी आवश्यकता भी नहीं है तथा उसको बदलनेके लिये शास्त्र भी नहीं कहता। परंतु उस स्वभावमें जो अशुद्ध-अंश (राग-द्वेष) है, उसको मिटानेकी सामर्थ्य भगवान्‌ने मनुष्यको दी है। अतः जिन दोषोंसे मनुष्यका स्वभाव अशुद्ध बना है, उन दोषोंको मिटाकर मनुष्य स्वतन्त्रतापूर्वक अपने स्वभावको शुद्ध बना सकता है। मनुष्य चाहे तो कर्मयोगकी दृष्टिसे अपने प्रयत्नसे राग-द्वेषको मिटाकर स्वभाव शुद्ध बना ले*, चाहे भक्तियोगकी दृष्टिसे सर्वथा भगवान्‌के शरण होकर अपना स्वभाव शुद्ध बना ले (१८।६२)। इस प्रकार प्रकृति (स्वभाव)-की प्रबलता भी सिद्ध हो गयी और मनुष्यकी स्वतन्त्रता भी सिद्ध हो गयी। तात्पर्य यह हुआ कि शुद्ध स्वभावको रखनेमें प्रकृतिकी प्रबलता है और अशुद्ध स्वभावको मिटानेमें मनुष्यकी स्वतन्त्रता है।

जैसे, लोहेकी तलवारको पारस छुआ दिया जाय तो तलवार सोना बन जायगी; परंतु उसकी मार, धार और आकार—ये तीनों नहीं बदलते। इस प्रकार सोना बनानेमें पारसकी प्रधानता रही और 'मार-धार-आकार'में तलवारकी प्रधानता रही। ऐसे ही जिन लोगोंने अपने स्वभावको परम शुद्ध बना लिया है, उनके कर्म भी सर्वथा शुद्ध होते हैं। परंतु स्वभावके शुद्ध होनेपर भी वर्ण, आश्रम,

---

* इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ।
तयोर्न वशमागच्छेत्तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ॥ (गीता ३।३४)

सम्प्रदाय, साधन-पद्धति, मान्यता आदिके अनुसार आपसमें उनके कर्मोंकी भिन्नता रहती है। जैसे, किसी ब्राह्मणको तत्त्वबोध हो जानेपर भी वह खान-पान आदिमें पवित्रता रखेगा और अपने हाथसे बनाया हुआ भोजन ही ग्रहण करेगा; क्योंकि उसके स्वभावमें पवित्रता है। परंतु किसी हरिजन आदि साधारण वर्णवालेको तत्त्वबोध हो जाय तो वह खान-पान आदिमें पवित्रता नहीं रखेगा और दूसरोंकी जूठन भी खा लेगा; क्योंकि उसका स्वभाव ही ऐसा पड़ा हुआ है। पर ऐसा स्वभाव उसके लिये दोषी नहीं होगा।

जीवका असत्‌के साथ सम्बन्ध जोड़नेका स्वभाव अनादिकालसे बना हुआ है, जिसके कारण वह जन्म-मरणके चक्करमें पड़ा हुआ है और बार-बार ऊँच-नीच योनियोंमें जाता है। उस स्वभावको मनुष्य शुद्ध कर सकता है अर्थात् उसमें जो कामना, ममता और तादात्म्य है, उनको मिटा सकता है। कामना, ममता और तादात्म्यके मिटनेके बाद जो स्वभाव रहता है, वह स्वभाव दोषी नहीं रहता। इस वास्ते उसको मिटाना नहीं है और मिटानेकी आवश्यकता भी नहीं है।

जब मनुष्य अहंकारका आश्रय छोड़कर सर्वथा भगवान्‌के शरण हो जाता है, तो उसका स्वभाव शुद्ध हो जाता है, जैसे लोहा पारसके स्पर्शसे शुद्ध सोना बन जाता है। स्वभाव शुद्ध होनेसे फिर वह स्वभावज-कर्म करते हुए भी दोषी और पापी नहीं बनता (१८। ४७)। सर्वथा भगवान्‌के शरण होनेके बाद

भक्तका प्रकृतिके साथ कोई सम्बन्ध नहीं रहता । फिर भक्तके जीवनमें भगवान्‌का स्वभाव काम करता है । भगवान् समस्त प्राणियोंके सुहृद् हैं—**'सुहृदं सर्वभूतानाम्'** (गीता ५ । २९) तो भक्त भी समस्त प्राणियोंका सुहृद् हो जाता है—**'सुहृदः सर्वदेहिनाम्'** (श्रीमद्भा० ३ । २५ । २१) ।

इसी तरह कर्मयोगकी दृष्टिसे जब मनुष्य राग-द्वेषको मिटा देता है, तब उसके स्वभावकी शुद्धि, वृद्धि और पुष्टि हो जाती है, जिससे अपने स्वार्थका भाव मिटकर केवल दुनियाके हितका भाव स्वतः हो जाता है । जैसे भगवान्‌का स्वभाव प्राणिमात्रका हित करनेका है, ऐसे ही उसका स्वभाव भी प्राणिमात्रका हित करनेका हो जाता है—**'सर्वभूतहिते रताः'** (गीता ५ । २५, १२ । ४) । जब उसकी सब चेष्टाएँ प्राणिमात्रके हितमें हो जाती हैं तो उसकी भगवान्‌की सर्वभूतसुहृत्ता-शक्तिके साथ एकता हो जाती है । उसके उस स्वभावमें भगवान्‌की सुहृत्ता-शक्ति कार्य करने लगती है ।

वास्तवमें भगवान्‌की वह सर्वभूतसुहृत्ता-शक्ति मनुष्यमात्रके लिये समान रीतिसे खुली हुई है; परंतु अपने अहंकार और राग-द्वेषके कारण उस शक्तिमें बाधा लग जाती है अर्थात् वह शक्ति कार्य नहीं करती । महापुरुषोंमें अहंकार (व्यक्तित्व) और राग-द्वेष नहीं रहते, इस वास्ते उनमें यह शक्ति कार्य करने लग जाती है ।

सञ्चित कर्म

सञ्चित कर्म

संस्कार-अंश	फल-अंश
स्फुरणा	प्रारब्ध

अनेक मनुष्य-जन्मोंमें किये हुए जो कर्म (फल-अंश और संस्कार-अंश) अन्तःकरणमें संगृहीत रहते हैं, वे सञ्चित कर्म कहलाते हैं। उनमें फल-अंशसे तो 'प्रारब्ध' बनता है और संस्कार-अंशसे 'स्फुरणा' होती रहती है। उन स्फुरणाओंमें भी वर्तमानमें किये गये जो नये क्रियमाण कर्म सञ्चितमें भरती हुए हैं, प्रायः उनकी ही स्फुरणा होती है। कभी-कभी सञ्चितमें भरती हुए पुराने कर्मोंकी स्फुरणा भी हो जाती है*; जैसे—किसी बर्तनमें पहले प्याज डाल दें और उसके

* स्फुरणा सञ्चितके अनुसार भी होती है और प्रारब्धके अनुसार भी होती है। सञ्चितके अनुसार जो स्फुरणा होती है, वह मनुष्यको कर्म करनेके लिये बाध्य नहीं करती। परन्तु सञ्चितकी स्फुरणामें भी यदि राग-द्वेष हो जायँ तो वह 'संकल्प' बनकर मनुष्यको कर्म करनेके लिये बाध्य कर सकती है। प्रारब्धके अनुसार जो स्फुरणा होती है, वह (फल-भोग करानेके लिये) मनुष्यको कर्म करनेके लिये बाध्य करती है; परन्तु वह विहित-कर्म करनेके लिये ही बाध्य करती है, निषिद्ध-कर्म करनेके लिये नहीं। कारण कि विवेकप्रधान मनुष्यशरीर निषिद्ध-कर्म करनेके लिये नहीं है। अतः अपनी विवेकशक्तिको प्रबल करके निषिद्धका त्याग करनेकी जिम्मेवारी मनुष्यपर है और ऐसा करनेमें वह स्वतन्त्र है।

ऊपर क्रमशः गेहूँ, चना, ज्वार, बाजरा डाल दें तो निकालते समय जो सबसे पीछे डाला था, वही (बाजरा) सबसे पहले निकलेगा, पर बीचमें कभी-कभी प्याजका भी भभका आ जायेगा। परंतु यह दृष्टान्त पूरा नहीं घटता; क्योंकि प्याज, गेहूँ आदि सावयव पदार्थ हैं और सञ्चित कर्म निरवयव हैं। यह दृष्टान्त केवल इतने ही अंशमें बतानेके लिये दिया है कि नये क्रियमाण कर्मोंकी स्फुरणा ज़्यादा होती है और कभी-कभी पुराने कर्मोंकी भी स्फुरणा होती है।

इसी तरह जब नींद आती है तो उसमें भी स्फुरणा होती है। नींदमें जाग्रत्-अवस्थाके दब जानेके कारण सञ्चितकी वह स्फुरणा स्वप्नरूपसे दीखने लग जाती है, उसीको स्वप्नावस्था कहते हैं।*

* जाग्रत्-अवस्थामें भी जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति—तीनों अवस्थाएँ होती हैं; जैसे—मनुष्य जाग्रत्-अवस्थामें बड़ी सावधानीसे काम करता है तो यह जाग्रत्में जाग्रत्-अवस्था है। जाग्रत्-अवस्थामें मनुष्य जिस कामको करता है, उस कामके अलावा अचानक जो दूसरी स्फुरणा होने लगती है, वह जाग्रत्में स्वप्न-अवस्था है। जाग्रत्-अवस्थामें कभी-कभी काम करते हुए भी उस कामकी तथा पूर्वकर्मोंकी कोई भी स्फुरणा नहीं होती, बिल्कुल वृत्ति-रहित अवस्था हो जाती है, वह जाग्रत्में सुषुप्ति-अवस्था है।

कर्म करनेका वेग ज्यादा रहनेसे जाग्रत्-अवस्थामें जाग्रत् और स्वप्न-अवस्था तो ज्यादा होती है, पर सुषुप्ति-अवस्था बहुत थोड़ी होती है। अगर कोई साधक जाग्रत्की स्वाभाविक सुषुप्तिको स्थायी बना ले तो उसका साधन बहुत तेज हो जायगा; क्योंकि जाग्रत्-सुषुप्तिमें साधकका परमात्माके साथ निरावरणरूपसे स्वतः सम्बन्ध होता है। ऐसे तो सुषुप्ति-अवस्थामें भी संसारका सम्बन्ध टूट जाता है; परंतु बुद्धि-वृत्ति अज्ञानमें

स्वप्नावस्थामें बुद्धिकी सावधानी न रहनेके कारण क्रम, व्यतिक्रम और अनुक्रम—ये नहीं रहते। जैसे, शहर तो दिल्लीका दीखता है और बाजार बम्बईका तथा उस बाजारमें दूकानें कलकत्ताकी दीखती हैं; कोई जीवित आदमी दीख जाता है अथवा किसी मरे हुए आदमीसे मिलना हो जाता है, बातचीत हो जाती है।

जाग्रत्-अवस्थामें हरेक मनुष्यके मनमें अनेक तरहकी स्फुरणाएँ होती रहती हैं। जब जाग्रत्-अवस्थामें शरीर, इन्द्रियाँ और मनपरसे बुद्धिका अधिकार हट जाता है तब मनुष्य जैसा मनमें आता है, वैसा बोलने लगता है। इस तरह उचित-अनुचितका विचार करनेकी शक्ति काम न करनेसे वह 'सीधा-सरल पागल' कहलाता है। परंतु जिसके शरीर, इन्द्रियाँ और मनपर बुद्धिका अधिकार रहता है, वह जो उचित समझता है, वही बोलता है और जो अनुचित समझता है, वह नहीं बोलता। बुद्धि सावधान रहनेसे वह सावचेत रहता है। इसलिये वह 'चतुर पागल' है।

इस प्रकार मनुष्य जबतक परमात्मप्राप्ति नहीं कर लेता, तबतक वह अपनेको स्फुरणाओंसे बचा नहीं सकता। परमात्मप्राप्ति

लीन हो जानेसे स्वरूपका स्पष्ट अनुभव नहीं होता। जाग्रत्-सुषुप्तिमें बुद्धि जाग्रत् रहनेसे स्वरूपका स्पष्ट अनुभव होता है।

यह जाग्रत्-सुषुप्ति समाधिसे भी विलक्षण है; क्योंकि यह स्वतः होती है और समाधिमें अभ्यासके द्वारा वृत्तियोंको एकाग्र तथा निरुद्ध करना पड़ता है। इस वास्ते समाधिमें पुरुषार्थ साथमें रहनेके कारण शरीरमें स्थिति होती है; परंतु जाग्रत्-सुषुप्तिमें अभ्यास और अहंकारके बिना वृत्तियाँ स्वतः निरुद्ध होनेके कारण स्वरूपमें स्थिति होती है अर्थात् स्वरूपका अनुभव होता है।

होनेपर बुरी स्फुरणाएँ सर्वथा मिट जाती हैं। इस वास्ते जीवनमुक्त पुरुषके मनमें अपवित्र बुरे विचार कभी आते ही नहीं। अगर उसके कहलानेवाले शरीरमें प्रारब्धवश व्याधि आदि किसी कारणवश कभी बेहोशी, उन्माद आदि हो जाता है तो उसमें भी वह न तो शास्त्रनिषिद्ध बोलता है और शास्त्रनिषिद्ध कुछ करता ही है; क्योंकि अन्तःकरण शुद्ध हो जानेसे शास्त्रनिषिद्ध बोलना या करना उसके स्वभावमें नहीं रहता।

प्रारब्ध कर्म

- प्रारब्ध कर्म
  - अनुकूल परिस्थिति
    - स्वेच्छापूर्वक क्रिया-प्रवृत्ति
    - अनिच्छापूर्वक क्रिया
    - परेच्छापूर्वक क्रिया
  - मिश्रित (अनुकूल-प्रतिकूल) परिस्थिति
    - स्वेच्छापूर्वक क्रिया
    - अनिच्छापूर्वक क्रिया
    - परेच्छापूर्वक क्रिया
  - प्रतिकूल परिस्थिति
    - स्वेच्छापूर्वक क्रिया
    - अनिच्छापूर्वक क्रिया
    - परेच्छापूर्वक क्रिया

सञ्चितमेंसे जो कर्म फल देनेके लिये सम्मुख होते हैं, उन कर्मोंको प्रारब्ध कर्म कहते हैं *। प्रारब्ध कर्मोंका फल तो अनुकूल

* 'प्रकर्षेण आरब्धः प्रारब्धः' अर्थात् अच्छी तरहसे फल देनेके लिये जिसका आरम्भ हो चुका है, वह प्रारब्ध है।

या प्रतिकूल परिस्थितिके रूपमें सामने आता है; परंतु उन प्रारब्ध कर्मोंको भोगनेके लिये प्राणियोंकी प्रवृत्ति तीन प्रकारसे होती है—(१) स्वेच्छापूर्वक, (२) अनिच्छा-(दैवेच्छा-) पूर्वक और (३) परेच्छापूर्वक । उदाहरणार्थ—

(१) किसी व्यापारीने माल खरीदा तो उसमें मुनाफा हो गया। ऐसे ही किसी व्यापारीने माल खरीदा तो उसमें घाटा लग गया । इन दोनोंमें मुनाफा होना और घाटा लगना तो उनके शुभ-अशुभ कर्मोंसे बने हुए प्रारब्धका फल है; परन्तु माल खरीदनेमें उनकी प्रवृत्ति स्वेच्छापूर्वक हुई है ।

(२) कोई सज्जन कहीं जा रहा था तो आगे आनेवाली नदीमें बाढ़के प्रवाहके कारण एक धनका टोकरा बहकर आया और उस सज्जनने उसे निकाल लिया । ऐसे ही कोई सज्जन कहीं जा रहा था तो उसपर वृक्षकी एक टहनी गिर पड़ी और उसको चोट लग गयी । इन दोनोंमें धनका मिलना और चोट लगना तो उनके शुभ-अशुभ कर्मोंसे बने हुए प्रारब्धका फल है; परंतु धनका टोकरा मिलना और वृक्षकी टहनी गिरना—यह प्रवृत्ति अनिच्छा-(दैवेच्छा-) पूर्वक हुई है ।

(३) किसी धनी व्यक्तिने किसी बच्चेको गोद ले लिया अर्थात् उसको पुत्र-रूपमें स्वीकार कर लिया, जिससे उसका सब धन उस बच्चेको मिल गया । ऐसे ही चोरोंने किसीका सब धन लूट लिया । इन दोनोंमें, बच्चेको धन मिलना और चोरीमें धनका चला जाना तो उनके शुभ-अशुभ कर्मोंसे बने हुए प्रारब्धका फल है;

या प्रतिकूल परिस्थितिके रूपमें सामने आता है; परंतु उन प्रारब्ध कर्मोंको भोगनेके लिये प्राणियोंकी प्रवृत्ति तीन प्रकारसे होती है—(१) स्वेच्छापूर्वक, (२) अनिच्छा-(दैवेच्छा-) पूर्वक और (३) परेच्छापूर्वक । उदाहरणार्थ—

(१) किसी व्यापारीने माल खरीदा तो उसमें मुनाफा हो गया। ऐसे ही किसी व्यापारीने माल खरीदा तो उसमें घाटा लग गया । इन दोनोंमें मुनाफा होना और घाटा लगना तो उनके शुभ-अशुभ कर्मोंसे बने हुए प्रारब्धका फल है; परन्तु माल खरीदनेमें उनकी प्रवृत्ति स्वेच्छापूर्वक हुई है ।

(२) कोई सज्जन कहीं जा रहा था तो आगे आनेवाली नदीमें बाढ़के प्रवाहके कारण एक धनका टोकरा बहकर आया और उस सज्जनने उसे निकाल लिया । ऐसे ही कोई सज्जन कहीं जा रहा था तो उसपर वृक्षकी एक टहनी गिर पड़ी और उसको चोट लग गयी । इन दोनोंमें धनका मिलना और चोट लगना तो उनके शुभ-अशुभ कर्मोंसे बने हुए प्रारब्धका फल है; परंतु धनका टोकरा मिलना और वृक्षकी टहनी गिरना—यह प्रवृत्ति अनिच्छा-(दैवेच्छा-) पूर्वक हुई है ।

(३) किसी धनी व्यक्तिने किसी बच्चेको गोद ले लिया अर्थात् उसको पुत्र-रूपमें स्वीकार कर लिया, जिससे उसका सब धन उस बच्चेको मिल गया । ऐसे ही चोरोंने किसीका सब धन लूट लिया । इन दोनोंमें, बच्चेको धन मिलना और चोरीमें धनका चला जाना तो उनके शुभ-अशुभ कर्मोंसे बने हुए प्रारब्धका फल है;

परंतु गोदमें जाना और चोरी होना—यह प्रवृत्ति परेच्छापूर्वक हुई है।

यहाँ एक बात और समझ लेनी चाहिये कि कर्मोंका फल 'कर्म' नहीं होता, प्रत्युत 'परिस्थिति' होती है अर्थात् प्रारब्ध कर्मोंका फल परिस्थितिरूपसे सामने आता है। अगर नये (क्रियमाण) कर्मको प्रारब्धका फल मान लिया जाय तो फिर 'ऐसा करो, ऐसा मत करो'—यह शास्त्रोंका, गुरुजनोंका विधि-निषेध निरर्थक हो जायगा। दूसरी बात, पहले जैसे कर्म किये थे, उन्हींके अनुसार जन्म होगा और उन्हींके अनुसार कर्म होंगे तो वे कर्म फिर अगाड़ी नये कर्म पैदा कर देंगे, जिससे यह कर्म-परम्परा चलती ही रहेगी अर्थात् इसका कभी अन्त ही नहीं आयेगा।

प्रारब्ध कर्मसे मिलनेवाले फलके दो भेद हैं—प्राप्त फल और अप्राप्त फल। अभी प्राणियोंके सामने जो अनुकूल या प्रतिकूल परिस्थिति आ रही है, वह 'प्राप्त' फल है और इसी जन्ममें जो अनुकूल या प्रतिकूल परिस्थिति भविष्यमें आनेवाली है, वह 'अप्राप्त' फल है।

क्रियमाण कर्मोंका जो फल-अंश सञ्चितमें जमा रहता है, वही प्रारब्ध बनकर अनुकूल, प्रतिकूल और मिश्रित परिस्थितिके रूपमें प्राणीके सामने आता है। जबतक सञ्चित कर्म रहते हैं, तबतक प्रारब्ध बनता ही रहता है और प्रारब्ध परिस्थितिके रूपमें परिणत होता ही रहता है। यह परिस्थिति प्राणीको सुखी-दुःखी होनेके लिये बाध्य नहीं करती। सुखी-दुःखी होनेमें तो परिवर्तनशील

परिस्थितिके साथ सम्बन्ध जोड़ना ही मुख्य कारण है। परिस्थितिके साथ सम्बन्ध जोड़ने अथवा न जोड़नेमें यह प्राणी सर्वथा स्वाधीन है, पराधीन नहीं है। जो परिवर्तनशील परिस्थितिके साथ अपना सम्बन्ध मान लेता है, वह अविवेकी पुरुष तो सुखी-दुःखी होता ही रहता है। परंतु जो परिस्थितिके साथ सम्बन्ध नहीं मानता, वह विवेकी पुरुष कभी सुखी-दुःखी नहीं होता; अतः उसकी स्थिति स्वतः साम्यावस्थामें होती है, जो कि उसका स्वरूप है।

कर्मोंमें मनुष्यके प्रारब्धकी प्रधानता है या पुरुषार्थकी ! अथवा प्रारब्ध बलवान् है या पुरुषार्थ !—इस विषयमें बहुत-सी शङ्काएँ हुआ करती हैं। उनके समाधानके लिये पहले यह समझ लेना जरूरी है कि प्रारब्ध और पुरुषार्थ क्या है ?

मनुष्यमें चार तरहकी चाहनाएँ हुआ करती हैं—एक धनकी, दूसरी धर्मकी, तीसरी भोगकी और चौथी मुक्तिकी। प्रचलित भाषामें इन्हीं चारोंको अर्थ, धर्म, काम और मोक्षके नामसे कहा जाता है—

(१) अर्थ—धनको 'अर्थ' कहते हैं। वह धन दो तरहका होता है—स्थावर और जङ्गम। सोना, चाँदी, रुपये, जमीन, जायदाद, मकान आदि स्थावर हैं और गाय, भैंस, ऊँट, भेड़, बकरी आदि जङ्गम हैं।

(२) धर्म—सकाम अथवा निष्काम भावसे जो यज्ञ, तप, दान, व्रत, तीर्थ आदि किये जाते हैं, उसको 'धर्म' कहते हैं।

(३) काम—सांसारिक सुख-भोगको 'काम' कहते हैं। वह सुखभोग आठ तरहका होता है—शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, मान, बड़ाई और आराम।

(कसैला)—इन छः रसोंको चखनेसे जो सुख होता है, वह रसका सुख है ।

(ङ) गन्ध—नाकसे अतर, तेल, फुलेल, लवेण्डर, पुष्प आदि सुगन्धवाले और लहसुन, प्याज आदि दुर्गन्धवाले पदार्थोंको सूँघनेसे जो सुख होता है, वह गन्धका सुख है ।

(च) मान—शरीरका आदर-सत्कार होनेसे जो सुख होता है, वह मानका सुख है ।

(छ) बड़ाई—नामकी प्रशंसा, वाह-वाह होनेसे जो सुख होता है, वह बड़ाईका सुख है ।

(ज) आराम—शरीरसे परिश्रम न करनेसे अर्थात् सुखपूर्वक पड़े रहनेसे जो सुख होता है, वह आरामका सुख है ।

(४) मोक्ष—आत्मसाक्षात्कार, तत्त्वज्ञान, कल्याण, उद्धार, मुक्ति, भगवद्दर्शन, भगवत्प्रेम आदिका नाम 'मोक्ष' है ।

इन चारों (अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष) में देखा जाय तो अर्थ और धर्म—दोनों ही परस्पर एक-एककी वृद्धि करनेवाले हैं अर्थात् अर्थसे धर्मकी और धर्मसे अर्थकी वृद्धि होती है । परन्तु धर्मका पालन कामनापूर्तिके लिये किया जाय तो वह धर्म भी कामनापूर्ति करके नष्ट हो जायगा और अर्थको कामनापूर्तिमें लगाया जाय तो वह अर्थ भी कामनापूर्ति करके नष्ट हो जायगा । तात्पर्य यह कि कामना धर्म और अर्थ—दोनोंको खा जाती है । इसी वास्ते गीतामें भगवान्‌ने कामनाको 'महाशन' (बहुत खानेवाला)

बतलाते हुए उसके त्यागकी बात विशेषतासे कही है (गीता ३ । ३७—४३) ।

यदि धर्मका अनुष्ठान कामनाका त्याग करके किया जाय तो वह अन्तःकरण शुद्ध करके मुक्त कर देता है । ऐसे ही धनको कामनाका त्याग करके दूसरोंके उपकारमें, हितमें, सुखमें खर्च किया जाय तो वह भी अन्तःकरण शुद्ध करके मुक्त कर देता है ।

अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष—इन चारोंमें 'अर्थ' (धन) और 'काम' (भोग) की प्राप्तिमें प्रारब्धकी मुख्यता और पुरुषार्थकी गौणता है, तथा 'धर्म' और 'मोक्ष'में पुरुषार्थकी मुख्यता और प्रारब्धकी गौणता है । प्रारब्ध और पुरुषार्थ—दोनोंका क्षेत्र अलग-अलग है और दोनों ही अपने-अपने क्षेत्रमें प्रधान हैं । इस वास्ते कहा है—

संतोषस्त्रिषु कर्तव्यः स्वदारे भोजने धने ।
त्रिषु चैव न कर्तव्यः स्वाध्याये जपदानयोः ॥

अर्थात् अपनी स्त्री, पुत्र, परिवार, भोजन और धनमें तो सन्तोष करना चाहिये और स्वाध्याय, पाठ-पूजा, नाम-जप, कीर्तन और दान करनेमें कभी सन्तोष नहीं करना चाहिये । तात्पर्य यह हुआ कि प्रारब्धके फल—धन और भोगमें तो सन्तोष करना चाहिये; क्योंकि वे प्रारब्धके अनुसार जितने मिलनेवाले हैं, उतने ही मिलेंगे, उससे अधिक नहीं । परन्तु धर्मका अनुष्ठान और अपना कल्याण करनेमें कभी सन्तोष नहीं करना चाहिये; क्योंकि यह नया पुरुषार्थ है और इसी पुरुषार्थके लिये मनुष्यशरीर मिला है ।

कर्मके दो भेद हैं—शुभ (पुण्य) और अशुभ (पाप)। शुभ-कर्मका फल सुखदायी परिस्थिति प्राप्त होना है और अशुभ-कर्मका फल दुःखदायी परिस्थिति प्राप्त होना है। कर्म बाहरसे किये जाते हैं, इस वास्ते उन कर्मोंका फल भी बाहरकी परिस्थितिके रूपमें ही प्राप्त होता है। परन्तु उन परिस्थितियोंसे जो सुख-दुःख होते हैं, वे भीतर होते हैं। इस वास्ते उन परिस्थितियोंमें सुखी तथा दुःखी होना शुभाशुभ कर्मोंका अर्थात् प्रारब्धका फल नहीं है, प्रत्युत अपनी मूर्खताका फल है। अगर वह मूर्खता चली जाय, भगवान्पर* अथवा प्रारब्धपर † विश्वास हो जाय तो दुःखदायी-से-दुःखदायी परिस्थिति आनेपर भी चित्तमें प्रसन्नता होगी, हर्ष होगा। कारण कि दुःखदायी परिस्थितिमें पाप कटते हैं, अगाड़ी पाप न करनेमें सावधानी आती है और पापोंके नष्ट होनेसे अन्तःकरणकी शुद्धि होती है।

---

* लालने ताडने मातुर्नाकारुण्यं यथार्भके।
तद्वदेव महेशस्य नियन्तुर्गुणदोषयोः॥

'जिस प्रकार बच्चेका पालन करने और ताड़ना देने—दोनोंमें माताकी कहीं अकृपा नहीं होती, उसी प्रकार जीवोंके गुण-दोषोंका नियन्त्रण करनेवाले परमेश्वरकी कहीं किसीपर अकृपा नहीं होती।'

† यद्भावि तद्भवत्येव यदभाव्यं न तद्भवेत्।
इति निश्चितबुद्धीनां न चिन्ता बाधते क्वचित्॥

(नारदपुराण पूर्व० ३७। ४७)

'जो होनेवाला है, वह होकर ही रहता है और जो नहीं होनेवाला है, वह कभी नहीं होता—ऐसा निश्चय जिनकी बुद्धिमें होता है, उन्हें चिन्ता कभी नहीं सताती।'

८४ साधकको सुखदायी और दुःखदायी परिस्थितिका सदुपयोग करना चाहिये, दुरुपयोग नहीं ।

सुखदायी परिस्थिति आ जाय तो अनुकूल सामग्रीको दूसरोंके हितके लिये सेवाबुद्धिसे खर्च करना सुखदायी परिस्थितिका सदुपयोग है और उसका सुखबुद्धिसे भोग करना दुरुपयोग है । ऐसे ही दुःखदायी परिस्थिति आ जाय तो सुखकी इच्छाका त्याग करना और 'मेरे पूर्वकृत पापोंका नाश करनेके लिये, भविष्यमें पाप न करनेकी सावधानी रखनेके लिये और मेरी उन्नति करनेके लिये ही प्रभु-कृपासे ऐसी परिस्थिति आयी है'—ऐसा समझकर परम प्रसन्न रहना दुःखदायी परिस्थितिका सदुपयोग है और उससे दुःखी होना दुरुपयोग है ।

मनुष्यशरीर सुख-दुःख भोगनेके लिये नहीं है । सुख भोगनेके स्थान स्वर्गादिक हैं और दुःख भोगनेके स्थान नरक तथा चौरासी लाख योनियाँ हैं । इस वास्ते वे भोगयोनियाँ हैं और मनुष्य कर्मयोनि है । परन्तु यह कर्मयोनि उनके लिये है जो मनुष्यशरीरमें सावधान नहीं होते, केवल जन्म-मरणके चक्करमें ही पड़े हुए हैं । वास्तवमें मनुष्यशरीर सुख-दुःखसे ऊँचा उठनेके लिये अर्थात् मुक्तिकी प्राप्तिके लिये ही मिला है । इस वास्ते इसको कर्मयोनि न कहकर 'साधनयोनि' ही कहना चाहिये ।

प्रारब्ध-कर्मोंके फलस्वरूप जो सुखदायी और दुःखदायी परिस्थिति आती है, उन दोनोंमें सुखदायी परिस्थितिका स्वरूपसे त्याग करनेमें तो मनुष्य स्वतन्त्र है, पर दुःखदायी परिस्थितिका स्वरूपसे त्याग करनेमें मनुष्य परतन्त्र है अर्थात् उसका

स्वरूपसे त्याग नहीं किया जा सकता। कारण यह है कि सुखदायी परिस्थिति दूसरोंका हित करने, उन्हें सुख देनेके फलस्वरूप बनी है और दुःखदायी परिस्थिति दूसरोंको दुःख देनेके फलस्वरूप बनी है। इसको एक दृष्टान्तसे इस प्रकार समझ सकते हैं—

श्यामलालने रामलालको सौ रुपये उधार दिये। रामलालने वायदा किया कि अमुक महीनेमें ब्याजसहित रुपये लौटा दूँगा। महीना बीत गया, पर रामलालने रुपये नहीं लौटाये तो श्यामलाल रामलालके घर पहुँचा और बोला—'तुमने वायदेके अनुसार रुपये नहीं दिये; अब दो।' रामलालने कहा—'अभी मेरे पास रुपये नहीं हैं, परसों दे दूँगा।' श्यामलाल तीसरे दिन पहुँचा और बोला—'लाओ मेरे रुपये!' रामलालने कहा—'अभी मैं आपके पैसे नहीं जुटा सका, परसों आपके रुपये जरूर दूँगा।' तीसरे दिन फिर श्यामलाल पहुँचा और बोला—'रुपये दो!' तो रामलालने कहा—'कल जरूर दूँगा।' दूसरे दिन श्यामलाल फिर पहुँचा और बोला—'लाओ मेरे रुपये!' रामलालने कहा—'रुपये जुटे नहीं, मेरे पास रुपये हैं नहीं तो मैं कहाँसे दूँ? परसों आना।' रामलालकी बातें सुनकर श्यामलालको गुस्सा आ गया और 'परसों-परसों करता है, रुपये देता नहीं'—ऐसा कहकर उसने रामलालको पाँच जूते मार दिये। रामलालने कोर्टमें नालिश अर्थात् शिकायत कर दी। श्यामलालको बुलाया गया और पूछा गया—'तुमने इसके घरपर जाकर जूता मारा है?' तो श्यामलालने कहा—'हाँ साहब, मैंने जूता मारा है।' मजिस्ट्रेटने पूछा—'क्यों मारा?'

श्यामलालने कहा—'इसको मैंने रुपये दिये थे और इसने वायदा किया था कि मैं इस महीने रुपये लौटा दूँगा। महीना बीत जानेपर मैंने इसके घरपर जाकर रुपये माँगे तो कल-परसों, कल-परसों कहकर इसने मुझे बहुत तंग किया। इसपर मैंने गुस्सेमें आकर इसे पाँच जूते मार दिये। तो सरकार! पाँच जूतोंके पाँच रुपये काटकर शेष रुपये मुझे दिला दीजिये।'

मैजिस्ट्रेटने हँसकर कहा—'यह फौजदारी कोर्ट है। यहाँ रुपये दिलानेका कायदा (नियम) नहीं है। यहाँ दण्ड देनेका कायदा है। इस वास्ते आपको जूता मारनेके बदलेमें कैद या जुर्माना भोगना ही पड़ेगा। आपको रुपये लेने हों तो दीवानी कोर्टमें जाकर नालिश करो, वहाँ रुपये दिलानेका कायदा है; क्योंकि वह विभाग अलग है।'

इस तरह अशुभ-कर्मोंका फल जो दुःखदायी परिस्थिति है, वह 'फौजदारी' है, इस वास्ते उसका स्वरूपसे त्याग नहीं कर सकते और शुभ-कर्मोंका फल जो सुखदायी परिस्थिति है, वह 'दीवानी' है, इस वास्ते उसका स्वरूपसे त्याग किया जा सकता है। इससे यह सिद्ध हुआ कि मनुष्यके शुभ-अशुभ कर्मोंका विभाग अलग-अलग है। इस वास्ते शुभ-कर्मों (पुण्यों) और अशुभ-कर्मों (पापों) का अलग-अलग संग्रह होता है। ये दोनों एक-एकसे कटते नहीं अर्थात् पापोंसे पुण्य नहीं कटते और पुण्योंसे पाप नहीं कटते।

संसारमें एक आदमी पुण्यात्मा है, सदाचारी है और दुःख पा रहा है तथा एक आदमी पापात्मा है, दुराचारी है और सुख भोग रहा है—इस बातको लेकर अच्छे-अच्छे पुरुषोंके भीतर भी यह शङ्का हो जाया करती है कि इसमें ईश्वरका न्याय कहाँ है !* इसका समाधान यह है कि अभी पुण्यात्मा जो दुःख पा रहा है, वह पूर्वके किसी जन्ममें किये हुए पापका फल है, अभी किये हुए पुण्यका नहीं। ऐसे ही अभी पापात्मा जो सुख भोग रहा है, वह भी पूर्वके किसी जन्ममें किये हुए पुण्यका फल है, अभी किये हुए पापका नहीं।

इसमें एक तात्त्विक बात और है। कर्मोंके फलरूपमें जो अनुकूल परिस्थिति आती है, उससे सुख ही होता है और प्रतिकूल परिस्थिति आती है, उससे दुःख ही होता है—ऐसी बात है नहीं।

---

* महाभारत, वनपर्वमें एक कथा आती है। एक दिन द्रौपदीने युधिष्ठिरजी महाराजसे कहा कि आप धर्मको छोड़कर एक पैर भी आगे नहीं रखते, पर आप वनवासमें दुःख पा रहे हैं और दुर्योधन धर्मकी किञ्चिन्मात्र भी परवाह न करके केवल स्वार्थपरायण ही हो रहा है, पर वह राज्य कर रहा है, आरामसे रह रहा है और सुख भोग रहा है ! ऐसा प्रश्न करनेपर युधिष्ठिरजी महाराजने उत्तर दिया कि जो सुख पानेकी इच्छासे धर्मका पालन करते हैं, वे धर्मके तत्त्वको जानते ही नहीं। वे तो पशुओंकी तरह सुख-भोगके लिये लोलुप और दुःखसे भयभीत रहते हैं, फिर बेचारे धर्मके तत्त्वको कैसे जानें ! इस वास्ते मनुष्यकी मनुष्यता इसीमें है कि वे सुखदायी और दुःखदायी परिस्थितिकी परवाह न करके शास्त्रके आज्ञानुसार केवल अपने धर्म (कर्तव्य) का पालन करते रहें।

कर सकता है ! प्रत्युत भगवान्‌की आज्ञाके अनुसार किये हुए कर्म ही भगवान्‌के अर्पण होते हैं। इस विषयमें एक कहानी आती है।

एक राजा अपनी प्रजा-सहित हरिद्वार गया। उसके साथमें सब तरहके लोग थे। उनमें एक चमार भी था। उस चमारने सोचा कि ये बनिये लोग बड़े चतुर होते हैं। ये अपनी बुद्धिमानीसे धनी बन गये हैं। अगर हम भी उनकी बुद्धिमानीके अनुसार चलें तो हम भी धनी बन जायँ! ऐसा विचार करके वह एक चतुर बनियेकी क्रियाओंपर निगरानी रखकर चलने लगा। जब हरिद्वारके ब्रह्मकुण्डमें पण्डा दान-पुण्यका संकल्प कराने लगा तो उस बनियेने कहा—'मैंने अमुक ब्राह्मणको सौ रुपये उधार दिये थे, आज मैं उनको दानरूपमें श्रीकृष्णार्पण करता हूँ।' पण्डेने संकल्प भरवा दिया। चमारने देखा कि इसने एक कौड़ी भी नहीं दी और लोगोंमें प्रसिद्ध हो गया कि इसने सौ रुपयोंका दान कर दिया, कितना बुद्धिमान् है! मैं भी इससे कम नहीं रहूँगा। जब पण्डेने चमारसे संकल्प भरवाना शुरू किया तो चमारने कहा—'अमुक बनियेने मुझे सौ रुपये उधार दिये थे तो उन सौ रुपयोंको मैं श्रीकृष्णार्पण करता हूँ।' उसकी ग्रामीण बोलीको पण्डा पूरी तरह समझा नहीं और संकल्प भरवा दिया। इससे चमार बड़ा खुश हो गया कि मैंने भी बनियेके समान सौ रुपयोंका दान-पुण्य कर दिया!

सब घर पहुँचे। समयपर खेती हुई। ब्राह्मण और चमारके खेतोंमें खूब अनाज पैदा हुआ। ब्राह्मण देवताने बनियेसे कहा—'सेठ! आप चाहें तो सौ रुपयोंका अनाज ले लो, इससे आपको

इस वचनोंसे यह सिद्ध होता है कि हमारेपर दूसरोंका जो कर्जा है, वह हमारे छोड़नेसे नहीं छूट सकता। ऐसे ही हम भगवदाज्ञानुसार शुभ-कर्मोंको तो भगवान्‌के अर्पण कर उनके बन्धनसे छूट सकते हैं, पर अशुभ-कर्मोंका फल तो हमारेको भोगना ही पड़ेगा। इस वास्ते शुभ और अशुभ-कर्मोंमें एक कायदा, कानून नहीं है। अगर ऐसा कायदा बन जाय कि भगवान्‌के अर्पण करनेसे पुण्य और पाप-कर्म छूट जायँ तो फिर सभी प्राणी मुक्त हो जायँ; परन्तु ऐसा सम्भव नहीं है। हाँ, इसमें एक मार्मिक बात है कि अपने-आपको सर्वथा भगवान्‌के अर्पित कर देनेपर अर्थात् सर्वथा भगवान्‌के शरण हो जानेपर पाप-पुण्य सर्वथा नष्ट हो जाते हैं* (गीता १८ । ६६)।

दूसरी शङ्का यह होती है कि धन और भोगोंकी प्राप्ति प्रारब्ध कर्मके अनुसार होती है—ऐसी बात समझमें नहीं आती; क्योंकि हम देखते हैं कि इन्कम-टैक्स, सेल्स-टैक्स आदिकी चोरी करते हैं तो धन बच जाता है और टैक्स पूरा देते हैं तो धन चला जाता है तो धनका आना-जाना प्रारब्धके अधीन कहाँ हुआ? यह तो चोरीके ही अधीन हुआ!

---

* देवर्षिभूताप्तनृणां पितॄणां न किङ्करो नायमृणी च राजन्।
सर्वात्मना यः शरणं शरण्यं गतो मुकुन्दं परिहृत्य कर्तम्॥
(श्रीमद्भा० ११ । ५ । ४१)

'राजन्! जो सारे कार्योंको छोड़कर सम्पूर्णरूपसे शरणागतवत्सल भगवान्‌की शरणमें आ जाता है, वह देव, ऋषि, कुटुम्बीजन और पितृगण—इन किसीका भी ऋणी और सेवक नहीं रहता।'

इसका समाधान इस प्रकार है। वास्तवमें धन प्राप्त करना और भोग भोगना—इन दोनोंमें ही प्रारब्धकी प्रधानता है। परंतु इन दोनोंमें भी किसीका धन-प्राप्तिका प्रारब्ध होता है, भोगका नहीं और किसीका भोगका प्रारब्ध होता है, धन-प्राप्तिका नहीं तथा किसीका धन और भोग दोनोंका ही प्रारब्ध होता है। जिसका धन-प्राप्तिका प्रारब्ध तो है, पर भोगका प्रारब्ध नहीं है, उसके पास लाखों रुपये रहनेपर भी बीमारीके कारण वैद्य, डॉक्टरके मना करनेपर वह भोगोंको भोग नहीं सकता, उसको खानेमें रूखा-सूखा ही मिलता है। जिसका भोगका प्रारब्ध तो है, पर धनका प्रारब्ध नहीं है, उसके पास धनका अभाव होनेपर भी उसके सुख-आराममें किसी तरहकी कमी नहीं रहती *। उसको किसीकी दयासे, मित्रतासे, काम-धंधा मिल जानेसे प्रारब्धके अनुसार जीवन-निर्वाहकी सामग्री मिलती रहती है।

अगर धनका प्रारब्ध नहीं है तो चोरी करनेपर भी धन नहीं मिलेगा, प्रत्युत चोरी किसी प्रकारसे प्रकट हो जायगी तो बचा हुआ

---

* सर्वथा त्यागीको भी अनुकूल वस्तुएं बहुत मिलती हुई देखी जाती हैं (यह बात अलग है कि वह उन्हें स्वीकार न करे)। त्यागमें तो एक और विलक्षणता भी है कि जो मनुष्य धनका त्याग कर देता है, जिसके मनमें धनका महत्त्व नहीं है और अपनेको धनके अधीन नहीं मानता, उसके लिये धनका एक नया प्रारब्ध बन जाता है। कारण कि त्याग भी एक बड़ा भारी पुण्य है, जिससे तत्काल एक नया प्रारब्ध बनता है।

धान नहीं धीणो नहीं, नहीं रुपयो रोक।
जिमण बैठ्या रामदास, आन मिलै सब थोक॥

धन भी चला जायगा तथा दण्ड और मिलेगा। यहाँ दण्ड मिले या न मिले, पर परलोकमें तो दण्ड जरूर मिलेगा। उससे वह बच नहीं सकता। अगर प्रारब्धवश चोरी करनेसे धन मिल भी जाय तो भी उस धनका उपभोग नहीं हो सकेगा। वह धन बीमारीमें, चोरीमें, डाकेमें, मुकदमेमें, ठगाईमें चला जायगा। तात्पर्य यह कि वह धन जितने दिन टिकनेवाला है, उतने ही दिन टिकेगा और फिर नष्ट हो जायगा। इतना ही नहीं, इन्कम-टैक्स आदिकी चोरी करनेके जो संस्कार भीतर पड़े हैं, वे संस्कार जन्म-जन्मान्तरतक उसे चोरी करनेके लिये उकसाते रहेंगे और वह उनके कारण दण्ड पाता रहेगा।

अगर धनका प्रारब्ध है तो कोई गोद ले लेगा अथवा मरता हुआ कोई व्यक्ति उसके नामसे वसीयतनामा लिख देगा अथवा मकान बनाते समय नींव खोदते ही जमीनमें गड़ा हुआ धन मिल जायगा आदि-आदि। इस प्रकार प्रारब्धके अनुसार जो धन मिलनेवाला है, वह किसी-न-किसी कारणसे मिलेगा ही*। परन्तु मनुष्य प्रारब्धपर तो विश्वास करता नहीं, कम-से-कम अपने पुरुषार्थपर भी विश्वास नहीं करता कि हम मेहनतसे कमाकर खा लेंगे। इसी कारण उसकी चोरी आदि दुष्कर्मोंमें प्रवृत्ति हो जाती

---

* प्राप्तव्यमर्थं लभते मनुष्यो देवोऽपि तं लङ्घयितुं न शक्तः ।
तस्मान्न शोचामि न विस्मयो मे यदस्मदीयं न हि तत् परेषाम् ॥

'प्राप्त होनेवाला धन मनुष्यको मिलता ही है, दैव भी उसका उल्लंघन नहीं कर सकता। इसलिये न तो मैं शोक करता हूँ और न मुझे विस्मय ही होता है; क्योंकि जो हमारा है, वह दूसरोंका नहीं हो सकता।'

पुरुषार्थ करता है। धर्मके अनुष्ठानमें शरीर, धन आदि वस्तुओंकी मुख्यता रहती है और मोक्षकी प्राप्तिमें भाव तथा विचारकी मुख्यता रहती है।

एक 'करना' होता है और एक 'होना' होता है। दोनों विभाग अलग-अलग हैं। करनेकी चीज है—कर्तव्य और होनेकी चीज है—फल। मनुष्यका कर्म करनेमें अधिकार है, फलमें नहीं—'कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन' (गीता २। ४७)। तात्पर्य यह है कि होनेकी पूर्ति प्रारब्धके अनुसार अवश्य होती है, उसके लिये 'यह होना चाहिये और यह नहीं होना चाहिये'—ऐसी इच्छा नहीं करनी चाहिये और करनेमें शास्त्र और लोक-मर्यादाके अनुसार कर्तव्य-कर्म करना चाहिये। 'करना' पुरुषार्थके अधीन है और 'होना' प्रारब्धके अधीन है। इस वास्ते मनुष्य करनेमें स्वाधीन है और होनेमें पराधीन है। मनुष्यकी उन्नतिमें खास बात है—'करनेमें सावधान रहे और होनेमें प्रसन्न रहे।'

क्रियमाण, सञ्चित और प्रारब्ध—तीनों कर्मोंसे मुक्त होनेका क्या उपाय है?

प्रकृति और पुरुष—ये दो हैं। प्रकृति सदा क्रियाशील है, पर पुरुषमें कभी परिवर्तनरूप क्रिया नहीं होती। प्रकृतिसे अपना सम्बन्ध माननेवाला 'प्रकृतिस्थ' पुरुष ही कर्ता-भोक्ता बनता है। जब यह प्रकृतिसे सम्बन्ध-विच्छेद कर लेता है अर्थात् अपने स्वरूपमें स्थित हो जाता है, तब उसपर कोई भी कर्म लागू नहीं होता

(३) एक आदमीके हाथसे गिलास गिरकर टूट गया तो यह उसकी असावधानी है या प्रारब्ध ?

कर्म करते समय तो सावधान रहना चाहिये, पर जो (अच्छा या बुरा) हो गया, उसे पूरी तरहसे प्रारब्ध—होनहार ही मानना चाहिये। उस समय जो यह कहते हैं कि यदि तू सावधानी रखता तो गिलास न टूटता—इससे यह समझना चाहिये कि अब आगेसे मुझे सावधानी रखनी है कि दुबारा ऐसी गलती न हो जाय। वास्तवमें जो हो गया, उसे असावधानी न मानकर होनहार मानना चाहिये। इस वास्ते करनेमें सावधान और होनेमें प्रसन्न रहे।

(४) प्रारब्धसे होनेवाले और कुपथ्यसे होनेवाले रोगमें क्या फर्क है ?

कुपथ्यजन्य रोग दवाईसे मिट सकता है; परंतु प्रारब्धजन्य रोग दवाईसे नहीं मिटता। महामृत्युञ्जय आदिका जप और यज्ञ-यागादि अनुष्ठान करनेसे प्रारब्धजन्य रोग भी कट सकता है, अगर अनुष्ठान प्रबल हो तो।

रोगके दो प्रकार हैं—आधि (मानसिक रोग) और व्याधि (शारीरिक रोग)। आधिके भी दो भेद हैं—एक तो शोक, चिन्ता आदि और दूसरा, पागलपन। चिन्ता, शोक आदि तो अज्ञानसे होते हैं और पागलपन प्रारब्धसे होता है। अतः ज्ञान होनेपर चिन्ता-शोकादि तो मिट जाते हैं, पर प्रारब्धके अनुसार पागलपन हो सकता है। हाँ, पागलपन होनेपर भी ज्ञानीके द्वारा कोई अनुचित, शास्त्रनिषिद्ध क्रिया नहीं होती।

करनेमें वह स्वतन्त्र है। अतः विवेकका अनादर करके दूसरेको मारना अथवा मारनेकी नीयत रखना दोष है।

यदि पूर्वजन्मका बदला एक-दूसरे ऐसे ही चुकाते रहें तो यह शृङ्खला कभी खत्म नहीं होगी और मनुष्य कभी मुक्त नहीं हो सकेगा।

पिछले जन्मका बदला अन्य (साँप आदि) योनियोंमें लिया जा सकता है। मनुष्ययोनि बदला लेनेके लिये नहीं है। हाँ, यह हो सकता है कि पिछले जन्मका हत्यारा व्यक्ति हमें स्वाभाविक ही अच्छा नहीं लगेगा, बुरा लगेगा। परंतु बुरे लगनेवाले व्यक्तिसे द्वेष करना या उसे कष्ट देना दोष है; क्योंकि यह नया कर्म है।

जैसा प्रारब्ध है, उसीके अनुसार उसकी बुद्धि बन गयी, फिर दोष किस बातका ?

बुद्धिमें जो द्वेष है, उसके वशमें हो गया—यह दोष है। उसे चाहिये कि वह उसके वशमें न होकर विवेकका आदर करे। गीता भी कहती है कि बुद्धिमें जो राग-द्वेष रहते हैं (३ । ४०), उनके वशमें न हो—'तयोर्न वशमागच्छेत्' (३ । ३४)।

(७) प्रारब्ध और भगवत्कृपामें क्या अन्तर है।

इस जीवको जो कुछ मिलता है, वह प्रारब्धके अनुसार मिलता है, पर प्रारब्ध-विधानके विधाता स्वयं भगवान् हैं। कारण कि कर्म जड़ होनेसे स्वतन्त्र फल नहीं दे सकते, वे तो भगवान‌के विधानसे ही फल देते हैं। जैसे, एक आदमी किसीके खेतमें दिनभर काम करता है तो उसको शामके समय कामके अनुसार पैसे मिलते हैं, पर मिलते हैं खेतके मालिकसे।

पैसे तो काम करनेसे ही मिलते हैं, बिना काम किये पैसे मिलते हैं क्या ?

पैसे तो काम करनेसे ही मिलते हैं; परंतु बिना मालिकके पैसे देगा कौन ? यदि कोई जंगलमें जाकर दिनभर मेहनत करे तो क्या उसको पैसे मिल जायँगे ? नहीं मिल सकते। उसमें यह देखा जायगा कि किसके कहनेसे काम किया और किसकी जिम्मेवारी रही।

अगर कोई नौकर कामको बड़ी तत्परता, चतुरता और उत्साहसे करता है, पर करता है केवल मालिककी प्रसन्नताके लिये तो मालिक सको मजदूरीसे अधिक पैसे भी दे देता है और तत्परता आदि ुणोंको देखकर उसको अपने खेतका हिस्सेदार भी बना देता है। ऐसे ही भगवान् मनुष्यको उसके कर्मोंके अनुसार फल देते हैं। अगर कोई मनुष्य भगवान्की आज्ञाके अनुसार, उन्हींकी प्रसन्नताके लिये सब कार्य करता है, उसे भगवान् दूसरोंकी अपेक्षा अधिक ही देते हैं, परंतु जो भगवान्के सर्वथा समर्पित होकर सब कार्य करता है, उस भक्तके भगवान् भी भक्त बन जाते हैं !* संसारमें कोई भी नौकरको अपना मालिक नहीं बनाता; परंतु भगवान् शरणागत भक्तको अपना मालिक बना लेते हैं। ऐसी उदारता केवल प्रभुमें ही है। ऐसे प्रभुके चरणोंकी शरण न होकर जो मनुष्य प्राकृत—उत्पत्ति-विनाशशील पदार्थोंके पराधीन रहते हैं, उनकी बुद्धि सर्वथा ही भ्रष्ट हो चुकी है ! वे इस बातको समझ ही नहीं सकते। हमारे सामने

---

* एवं स्वभक्तयो राजन् भगवान् भक्तभक्तिमान्। (श्रीमद्भा० १०।८६।५९)

प्रत्यक्ष उत्पन्न और नष्ट होनेवाले पदार्थ मेरेको कहाँतक सहारा दे सकते हैं।

सम्बन्ध—

जिस प्रकार कर्मयोगमें कर्मोंका अपने साथ सम्बन्ध नहीं रहता, ऐसे ही सांख्यसिद्धान्तमें भी कर्मोंका अपने साथ किञ्चिन्मात्र भी सम्बन्ध नहीं रहता—इसका विवेचन आगे करते हैं।

श्लोक—

पञ्चैतानि महाबाहो कारणानि निबोध मे।
सांख्ये कृतान्ते प्रोक्तानि सिद्धये सर्वकर्मणाम्॥ १३॥

व्याख्या—

'पञ्चैतानि महाबाहो कारणानि'—हे महाबाहो! जिसमें सम्पूर्ण कर्मोंका अन्त हो जाता है, ऐसे सांख्यसिद्धान्तमें सम्पूर्ण विहित और निषिद्ध कर्मोंके होनेमें पाँच हेतु बताये गये हैं। स्वयं (स्वरूप) उन कर्मोंमें हेतु नहीं है।

'निबोध मे'—इस अध्यायमें भगवान्‌ने जहाँ सांख्यसिद्धान्तका वर्णन आरम्भ किया है, वहाँ 'निबोध' क्रियाका प्रयोग किया है (१८। १३, ५०), जबकि दूसरी जगह 'शृणु' क्रियाका प्रयोग किया है (१८। ४, १९, २९, ३६, ४५, ६४)। तात्पर्य यह है कि सांख्य-सिद्धान्तमें तो 'निबोध' पदसे अच्छी तरह समझनेकी बात कही है और दूसरी जगह 'शृणु' पदसे सुननेकी बात कही है। कारण कि सांख्यसिद्धान्तको गहरी रीतिसे समझना चाहिये। अगर उसे अपने-आप (स्वयं) से गहरी रीतिसे समझा जाय तो तत्काल तत्त्वका अनुभव हो जाता है।

अर्जुन स्वरूपसे कर्मोंका त्याग करना चाहते थे, इस वास्ते उनको यह समझाना था कि कर्मोंका ग्रहण और त्याग—दोनों ही कल्याणमें हेतु नहीं हैं। कल्याणमें हेतु तो परिवर्तनशील नाशवान् प्रकृतिसे अपरिवर्तनशील अविनाशी अपने स्वरूपका सम्बन्ध-विच्छेद ही है। उस सम्बन्ध-विच्छेदकी दो प्रक्रियाएँ हैं—कर्मयोग और सांख्ययोग। कर्मयोगमें तो फलका अर्थात् ममताका त्याग मुख्य है और सांख्ययोगमें अहंताका त्याग मुख्य है। परंतु ममताके त्यागसे अहंताका और अहंताके त्यागसे ममताका त्याग स्वतः हो जाता है। कारण कि अहंतामें भी ममता होती है; जैसे—मेरी बात रहे, मेरी बात कट न जाय—यह मैंपनके साथ भी मेरापन है। इस वास्ते ममता (मेरापन) को छोड़नेसे अहंता (मैंपन) छूट जाती है*। ऐसे ही पहले अहंता होती है, तब ममता होती है

* साक्षात् परमात्माका अंश होनेसे इस जीवकी परमात्माके साथ स्वतःसिद्ध आत्मीयता है। उस परमात्मासे विमुख होकर जीवने अहंताके साथ ममता कर ली, जिससे स्वयंको 'मैं सदाचारी हूँ, मैं त्यागी हूँ, मैं विवेकी हूँ, मैं पढ़ा-लिखा समझदार हूँ'—ऐसा व्यक्तित्व (मैंपन) प्रिय लगता है और यह छूट न जाय—इसका भय लगता है। तो यह अहंताके साथ ममता है। इसका त्याग करनेके लिये कर्मयोगमें 'मेरा कुछ नहीं है, मुझे कुछ नहीं चाहिये और मेरे लिये कुछ नहीं करना है' इसी भावसे संसारके हितके लिये सब क्रियाएँ करें (कारण कि कर्मोंका सम्बन्ध संसारके प्रति है, स्वयंके प्रति नहीं)। ऐसा करनेसे ममता छूट जायगी। ममता छूटते ही अहंता भी सर्वथा छूट जायगी।

कर्मयोगमें स्थूल शरीरसे क्रिया, सूक्ष्मशरीरसे परहितचिन्तन और कारण-शरीरसे स्थिरता (समाधि) —ये तीनों ही संसारके हितार्थ

अर्थात् पहले 'मैं' होता है, तब मेरापन होता है। परंतु जहाँ अहंता (मैंपन) का ही त्याग कर दिया जायगा, वहाँ ममता (मेरापन) कैसे रहेगी ? वह भी छूट ही जायगी।

दूसरी बात, अर्जुनके सामने युद्धकी परिस्थिति थी। अतः उसको यह बात भी बतानी थी कि कोई भी परिस्थिति मनुष्यके कल्याणमें बाधक नहीं है अर्थात् वह प्रत्येक परिस्थितिको परमात्म-प्राप्तिका साधन बना सकता है। मनुष्यजन्म परमात्माकी प्राप्तिके लिये ही मिला है, इस लिये उसमें जो भी अनुकूल या प्रतिकूल परिस्थिति आती है, वह सब साधन-सामग्री ही है।

अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थिति साधन-सामग्री कैसे है ? अनुकूल परिस्थिति आ जाय तो वस्तुओंके द्वारा दूसरोंकी सेवा करे और

होते हैं। इस वास्ते दूसरोंके हितके लिये कर्म करते-करते सबके हितका चिन्तन होता है, हितका चिन्तन होते-होते स्वतः ही स्थिरता आती है, उस स्थिरतामें अहंता और ममता दोनोंका त्याग होता है और त्याग होनेसे शान्ति मिलती है।

संसारके त्यागसे जो शान्ति मिलती है, वह स्वरूप अथवा साध्य नहीं है; प्रत्युत वह तो एक साधन है—'योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते' (गीता ६। ३)। परंतु परमात्माकी प्राप्तिसे जो शान्ति मिलती है, वह साध्य है अर्थात् परमात्माका स्वरूप है—'शान्तिं निर्वाणपरमाम्' (गीता ६ । १५)।

अब साधकको सावधानी यह रखनी है कि वह इस साधनजन्य शान्तिका भोग न करे। भोग न करनेसे स्वतः वास्तविकताकी अनुभूति हो जायगी और यदि भोग करेगा तो वहींपर अटक जायगा।

भीतरसे कामना, ममता और आसक्तिका त्याग करे । प्रतिकूल परिस्थितिमें वस्तुओंका अभाव रहता है, इस वास्ते प्रतिकूल परिस्थिति आ जाय तो वस्तुओंकी इच्छाका त्याग कर दे । ऐसा करनेसे दोनों ही परिस्थितियाँ परमात्माकी प्राप्ति करानेवाली बन जायँगी ।

सम्बन्ध—

सम्पूर्ण कर्मोंकी सिद्धिमें पाँच हेतु कौन-से हैं ? अब यह बतलाते हैं ।

श्लोक—

अधिष्ठानं तथा कर्ता करणं च पृथग्विधम् ।
विविधाश्च पृथक्चेष्टा दैवं चैवात्र पञ्चमम् ॥ १४ ॥

व्याख्या—

'अधिष्ठानम्'—शरीर और जिस देशमें यह शरीर स्थित है, वह देश—ये दोनों 'अधिष्ठान' हैं ।

'कर्ता'—सम्पूर्ण क्रियाएँ प्रकृति और प्रकृतिके कार्योंके द्वारा ही होती हैं । वे क्रियाएँ चाहे समष्टि हों, चाहे व्यष्टि हों; परंतु उन क्रियाओंका कर्ता स्वयं नहीं है । केवल अहंकारसे मोहित अन्तःकरणवाला अर्थात् जिसको चेतन और जड़का ज्ञान नहीं है—ऐसा अविवेकी पुरुष ही जब प्रकृतिसे होनेवाली क्रियाओंको अपनी मान लेता है तो वह 'कर्ता' बन जाता है* । ऐसा 'कर्ता' ही कर्मोंकी सिद्धिमें हेतु बनता है ।

---

* सम्पूर्ण क्रियाएँ प्रकृतिके द्वारा ही होती हैं—इसका वर्णन गीतामें कई रीतियोंसे आया है; जैसे—

(१) सब कर्म प्रकृतिके द्वारा ही किये जाते हैं 'प्रकृतेः

'करणं च पृथग्विधम्'—कुल तेरह करण हैं। पाणि, पाद, वाक्, उपस्थ और पायु—ये पाँच कर्मेन्द्रियाँ और श्रोत्र, चक्षु, त्वक्, रसना और घ्राण—ये पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ—ये दस 'बहिःकरण' हैं तथा मन, बुद्धि और अहंकार—ये तीन 'अन्तःकरण' हैं।

क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः' (३ । २७); 'प्रकृत्यैव च कर्माणि क्रियमाणानि सर्वशः' (१३ । २९)।

(२) गुण ही गुणोंमें बरतते हैं—'गुणा गुणेषु वर्तन्ते' (३ । २८); द्रष्टा गुणोंके सिवाय अन्य किसीको कर्ता नहीं देखता—'नान्यं गुणेभ्यः कर्तारं यदा द्रष्टानुपश्यति' (१४ । १९)।

(३) सब इन्द्रियाँ अपने-अपने अर्थों (विषयों)में बरतती हैं—'इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्ते' (५ । ९)।

(४) (यहाँ १८ । १४ में) कर्मोंकी सिद्धिमें अधिष्ठान आदि पाँच हेतु बताये गये हैं।

इन सबका तात्पर्य यह है कि प्रकृति और पुरुष इन दोनोंमेंसे केवल प्रकृतिमें ही क्रियाएँ होती हैं, पुरुषमें नहीं। प्रकृतिके साथ तादात्म्य करनेसे ही पुरुष उन क्रियाओंको अपनी मान लेता है। जैसे, कोई मनुष्य वायुयानमें बैठकर यह मान लेता है कि मैं वायुयानद्वारा जा रहा हूँ, जब कि वास्तवमें वायुयान ही चलता है, मनुष्य नहीं। ऐसे ही पुरुष अपनेको प्रकृतिकी क्रियाओंका कर्ता मान लेता है—'अहंकारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते' (३ । २७)।

तत्त्वको जाननेवाला विवेकी पुरुष ऐसा अनुभव करता है कि सब क्रियाएँ प्रकृति और प्रकृतिके कार्यमें ही हो रही हैं, इनमें मैं कुछ भी नहीं करता हूँ—'नैव किंचित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित्' (५ । ८)। इस वास्ते वह कर्मोंमें साङ्गोपाङ्ग प्रवृत्त होनेपर भी वास्तवमें कुछ भी नहीं करता—'कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किंचित्करोति सः।' (४ । २०)।

'विविधाश्च पृथक्चेष्टा'—उपर्युक्त तेरह करणोंकी अलग-अलग चेष्टाएँ होती हैं; जैसे—पाणि (हाथ)—आदान-प्रदान करना, पाद (पैर)—आना-जाना, चलना-फिरना, वाक्—बोलना, उपस्थ—मूत्रका त्याग करना, पायु (गुदा)—मलका त्याग करना, श्रोत्र—सुनना, चक्षु—देखना, त्वक्—स्पर्श करना, रसना—चखना, घ्राण—सूँघना, मन—मनन करना, बुद्धि—निश्चय करना और अहंकार—मैं ऐसा हूँ आदि अभिमान करना।

'दैवं चैवात्र पञ्चमम्'—कर्मोंकी सिद्धिमें पाँचवें हेतुका नाम 'दैव' है। यहाँ 'दैव' नाम संस्कारोंका है। मनुष्य जैसा कर्म करता है, वैसा ही संस्कार उसके अन्तःकरणपर पड़ता है। शुभ-कर्मका शुभ संस्कार पड़ता है और अशुभ-कर्मका अशुभ संस्कार पड़ता है। वे ही संस्कार आगे कर्म करानेमें हेतु होते हैं। जिसके जिस कर्मका संस्कार जितना अधिक होगा, उस काममें वह उतनी ही सुगमतासे लग जायगा और जिस कर्मके विशेष संस्कार नहीं हैं, उसको करनेमें कुछ परिश्रम पड़ेगा। इसी प्रकार मनुष्य सुनेगा, पुस्तकें पढ़ेगा और विचार भी करेगा तो वे भी अपने-अपने संस्कारोंके अनुसार ही करेगा। तात्पर्य यह कि मनुष्यके अन्तःकरणमें शुभ और अशुभ—जैसे संस्कार होते हैं, उन्हींके अनुसार वह कर्म करता है।

इस श्लोकमें कर्मोंकी सिद्धिमें पाँच हेतु बताये गये हैं—अधिष्ठान, कर्ता, करण, चेष्टा और दैव। इसका कारण यह है कि आधारके बिना कोई भी काम कहाँ किया जायगा? इस वास्ते

'अधिष्ठान' पद आया है। कर्ताके बिना क्रिया कौन करेगा ? इस वास्ते 'कर्ता' पद आया है। क्रिया करनेके साधन (करण) होनेसे ही तो कर्ता क्रिया करेगा, इस वास्ते 'करण' पद आया है। करनेके साधन होनेपर भी क्रिया नहीं की जायगी तो कर्मसिद्धि कैसे होगी ? इस वास्ते 'चेष्टा' पद आया है। कर्ता अपने-अपने संस्कारोंके अनुसार ही क्रिया करेगा, संस्कारोंके विरुद्ध अथवा संस्कारोंके बिना क्रिया नहीं कर सकेगा, इस वास्ते 'दैव' पद आया है। इस प्रकार इन पाँचोंके होनेसे ही कर्मसिद्धि होती है।

श्लोक—

शरीरवाङ्मनोभिर्यत्कर्म प्रारभते नरः।
न्याय्यं वा विपरीतं वा पञ्चैते तस्य हेतवः॥ १५॥

व्याख्या—

'शरीरवाङ्मनोभिर्यत्कर्म प्रारभते नरः'—पिछले (चौदहवें) श्लोकमें कर्मोंके होनेमें जो अधिष्ठान आदि पाँच हेतु बताये गये हैं, वे पाँचों हेतु इन पदोंमें आ जाते हैं; जैसे—**'शरीर'** पदमें अधिष्ठान और कर्ता आ गया, **'वाक्'** पदमें बहि:करण और **'मन'** पदमें अन्तःकरण आ गया, और **'प्रारभते'** पदमें चेष्टा ...

प्रधानतासे, कहीं वाणीकी प्रधानतासे और कहीं मनकी प्रधानतासे जो कर्म करता है, वह चाहे न्याय्य—शास्त्रविहित हो, चाहे विपरीत—शास्त्रविरुद्ध हो, उसमें ये (पिछले श्लोकमें आये) पाँच हेतु होते हैं।

शरीर, वाणी और मन—इन तीनोंके द्वारा ही सम्पूर्ण कर्म होते हैं। इनके द्वारा किये गये कर्मोंको ही कायिक, वाचिक और मानसिक-कर्मकी संज्ञा दी जाती है। इन तीनोंमें अशुद्धि आनेसे ही बन्धन होता है। इसी वास्ते इन तीनों (शरीर, वाणी और मन) की शुद्धिके लिये सत्रहवें अध्यायके चौदहवें, पंद्रहवें और सोलहवें श्लोकमें क्रमशः कायिक, वाचिक और मानसिकतपका वर्णन किया गया है। तात्पर्य यह है कि शरीर, वाणी और मनसे कोई भी शास्त्रनिषिद्ध कर्म न किया जाय, केवल शास्त्रविहित कर्म ही किये जायँ तो वह 'तप' हो जाता है। सत्रहवें अध्यायके ही सत्रहवें श्लोकमें 'अफलाकाङ्क्षिभिः' पद देकर यह बताया है कि निष्काम-भावसे किया हुआ तप सात्त्विक होता है। सात्त्विक तप बाँधनेवाला नहीं होता, मुक्ति देनेवाला होता है। परन्तु राजस-तामस तप बाँधनेवाले होते हैं।

इन शरीर, वाणी आदिको अपना मानकर अपने लिये कर्म करनेसे ही इनमें अशुद्धि आती है, इस वास्ते इनको शुद्ध किये बिना केवल विचारसे बुद्धिके द्वारा सांख्यसिद्धान्तकी बातें तो समझमें आ सकती हैं; परंतु 'कर्मोंके साथ मेरा किञ्चिन्मात्र भी सम्बन्ध नहीं है'—ऐसा स्पष्ट बोध नहीं हो सकता। ऐसा [illegible] क,

सम्बन्ध—

भगवान्‌ने सांख्यसिद्धान्त बतानेके लिये जो उपक्रम किया है, उसमें कर्मोंके होनेमें पाँच हेतु बतानेका क्या आशय है ? इसका वर्णन अगले श्लोकमें करते हैं ।

श्लोक—

तत्रैवं सति कर्तारमात्मानं केवलं तु यः ।
पश्यत्यकृतबुद्धित्वान्न स पश्यति दुर्मतिः ॥ १६ ॥

व्याख्या—

ऐसे पाँच हेतु होनेपर जो केवल (शुद्ध) आत्माको कर्ता मानता है, वह दुर्मति ठीक नहीं समझता; क्योंकि उसकी बुद्धि दूषित है, शुद्ध नहीं है । 'अकृतबुद्धित्वात्'—जैसा जन्मा था, वैसी-की-वैसी ही बुद्धि है । बुद्धिको शुद्ध नहीं किया है । उसने विवेक-विचारको महत्त्व नहीं दिया है अर्थात् जड़ और चेतनका, प्रकृति और पुरुषका जो वास्तविक विवेक है, अलगाव है, उसकी तरफ उसने ध्यान नहीं दिया है । इस वास्ते उसकी बुद्धिमें दोष आ गया है । उस दोषके कारण वह अपनेको कर्ता मान लेता है ।

'केवलं आत्मानम्'—केवल (शुद्ध) आत्मा कर्मोंमें अच्छी तरह प्रवृत्त होता हुआ भी कुछ नहीं करता है—'कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किंचित्करोति सः' (गीता ४ । २०) परंतु तादात्म्यके कारण 'मैं नहीं करता हूँ'—ऐसा बोध नहीं होता । बोध न होनेमें 'दुर्मतिः' ही कारण है अर्थात् जिसने बुद्धिको शुद्ध नहीं किया है, वह दुर्मति ही अपनेको कर्ता मान लेता है; जब कि शुद्ध आत्मामें कर्तृत्व नहीं है ।

'अहं' की गन्ध रह जायगी । 'मैं निर्लेप हूँ; मेरेमें कर्तृत्व नहीं है'—ऐसी स्थिति बहुत कालतक रहनेसे यह अहं भी अपने-आप गल जायगा अर्थात् अपने कारण प्रकृतिमें लीन हो जायगा ।

सम्बन्ध—

पिछले श्लोकमें यह बताया कि शुद्ध स्वरूपको कर्ता देखनेवाला दुर्मति ठीक नहीं देखता । तो ठीक देखनेवाला कौन है ? इसका वर्णन अगले श्लोकमें करते हैं ।

श्लोक—

यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते ।
हत्वापि स इमाँल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते ॥ १७ ॥

व्याख्या—

'यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते'—जिसमें 'मैं करता हूँ'—ऐसा अहंकृतभाव नहीं है और जिसकी बुद्धिमें 'मेरेको फल मिलेगा'—ऐसे स्वार्थभावका लेप नहीं है । इसको ऐसे समझना चाहिये—जैसे, शास्त्रविहित और शास्त्रनिषिद्ध—ये सभी क्रियाएँ एक प्रकाशमें होती हैं और प्रकाशके ही आश्रित होती हैं; परंतु प्रकाश किसी भी क्रियाका 'कर्ता' नहीं बनता अर्थात् प्रकाश उन क्रियाओंको न करनेवाला है और न करानेवाला है । ऐसे ही स्वरूपकी सत्ताके बिना विहित और निषिद्ध—कोई भी क्रिया नहीं होती; परंतु वह सत्ता उन क्रियाओंको न करनेवाली है और न करानेवाली है—ऐसा जिसको साक्षात् अनुभव हो जाता है, उसमें 'मैं क्रियाओंको करनेवाला हूँ'—ऐसा अहंकृतभाव नहीं रहता, और

परंतु जिसमें अहंकृतभाव नहीं रहा, केवल सबका प्रकाशक, आश्रय, सामान्य चेतन ही रहा, फिर वह कैसे किसको मारे ? और कैसे किससे बँधे ? उसका 'मारना' और 'बँधना' सम्भव ही नहीं है।*

सम्पूर्ण लोकोंको मारना क्या है ? जिसमें अहंकृतभाव नहीं है और जिसकी बुद्धिमें लेप नहीं है—ऐसे पुरुषका शरीर जिस वर्ण और आश्रममें रहता है, उसके अनुसार उसके सामने जो परिस्थिति आ जाती है, उसमें प्रवृत्त होनेपर उसे पाप नहीं लगता। जैसे, किसी जीवन्मुक्त क्षत्रियके लिये स्वतः युद्धकी परिस्थिति प्राप्त हो जाय तो वह उसके अनुसार सबको मारकर भी न तो मारता है और न बँधता है। कारण कि उसमें अभिमान और स्वार्थभाव नहीं है।

यहाँ अर्जुनके सामने भी युद्धका प्रसङ्ग है। इस वास्ते भगवान्ने 'हत्वापि' पदसे अर्जुनको युद्धके लिये प्रेरणा की है। 'अपि' पदका भाव है—'कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किंचित्करोति सः' (गीता ४ । २०) 'कर्मोंमें अच्छी तरह प्रवृत्त होनेपर भी वह कुछ नहीं करता।' 'सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते' (गीता ६ । ३१) 'सर्वथा बर्ताव करता हुआ भी वह योगी मेरेमें

---

* य एनं वेत्ति हन्तारं यश्चैनं मन्यते हतम्।
उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते॥

(गीता २ । १९)

'जो इस आत्माको मारनेवाला समझता है तथा जो इसको मरा मानता है, वे दोनों ही नहीं जानते; क्योंकि यह आत्मा वास्तवमें न तो किसीको मारता है और न किसीके द्वारा मारा जाता है।'

परंतु यह परिच्छिन्नता बन्धनकारक नहीं होती अर्थात् परिच्छिन्नता रहनेपर भी अहंस्फूर्ति दोषी नहीं होती; कारण कि अहंकृति अर्थात् कर्तृत्वके बिना अपनेमें गुण-दोषका आरोप नहीं होता । अहंकृति आनेसे ही अपनेमें गुण-दोषका आरोप होता है, जिससे शुभ-अशुभ कर्म बनते हैं । बोध होनेपर अहंस्फूर्तिमें जो परिच्छिन्नता है, वह जल जाती है और स्फूर्तिमात्र रह जाती है । ऐसी स्थितिमें मनुष्य न मारता है और न बँधता है ।

'न हन्ति न निबध्यते' (न मारता है और न बँधता है) का क्या भाव है ? एक निर्विकल्प अवस्था होती है और एक निर्विकल्प-बोध होता है । निर्विकल्प अवस्था साधन-साध्य है और उसका उत्थान भी होता है अर्थात् वह एकरस नहीं रहती । इस निर्विकल्प-अवस्थासे भी असङ्गता होनेपर स्वतःसिद्ध निर्विकल्प-बोधका अनुभव होता है । निर्विकल्प-बोध साधन-साध्य नहीं है और उसमें निर्विकल्पता किसी भी अवस्थामें किञ्चिन्मात्र भी भंग नहीं होती । निर्विकल्प-बोधमें कभी परिवर्तन हुआ नहीं, होगा नहीं और होना सम्भव भी नहीं । तात्पर्य यह कि उस निर्विकल्प-बोधमें कभी हलचल आदि नहीं होते, यही 'न हन्ति न निबध्यते' का भाव है ।

अहंकृतभाव और बुद्धिमें लेप न लगनेका उपाय है कि क्रियारूपसे परिवर्तन केवल प्रकृतिमें ही होता है और उन क्रियाओंका भी आरम्भ और अन्त होता है तथा उन कर्मोंके फलरूपसे जो पदार्थ मिलते हैं, उनका भी संयोग-वियोग होता है । इस प्रकार क्रिया और पदार्थ—दोनोंके साथ संयोग-वियोग होता रहता है । संयोग-

वियोग होनेपर भी स्वयं तो प्रकाशकरूपसे ज्यों-का-त्यों ही रहता है। विवेक-विचारसे ऐसा अनुभव होनेपर अहंकृतभाव और बुद्धिमें लेप नहीं रहता।

सम्बन्ध—

ज्ञान और प्रवृत्ति (क्रिया) दोषी नहीं होते, प्रत्युत कर्तृत्वाभिमान ही दोषी होता है; क्योंकि कर्तृत्वाभिमानसे ही कर्मसंग्रह होता है—यह बात बतानेके लिये अगला श्लोक कहते हैं।

श्लोक—

ज्ञानं ज्ञेयं परिज्ञाता त्रिविधा कर्मचोदना।
करणं कर्म कर्तेति त्रिविधः कर्मसंग्रहः॥ १८॥

व्याख्या—

इसी अध्यायके चौदहवें श्लोकमें भगवान्‌ने कर्मोंके बननेमें पाँच हेतु बताये—अधिष्ठान, कर्ता, करण, चेष्टा और दैव (संस्कार)। इन पाँचोंमें भी मूल हेतु है—कर्ता। इसी मूल हेतुको मिटानेके लिये भगवान्‌ने सोलहवें श्लोकमें कर्तृत्वभाव रखनेवालेकी बड़ी निन्दा की और सत्रहवें श्लोकमें कर्तृत्वभाव न रखनेवालेकी बड़ी प्रशंसा की। कर्तृत्वभाव बिल्कुल न रहे, यह साफ-साफ समझानेके लिये ही अठारहवाँ श्लोक कहा गया है।

'ज्ञानं ज्ञेयं परिज्ञाता त्रिविधा कर्मचोदना'—ज्ञान, ज्ञेय और परिज्ञाता—यह तीन प्रकारकी कर्म-प्रेरणा है, 'ज्ञान'को सबसे पहले कहनेमें यह भाव है कि हरेक मनुष्यकी कोई भी प्रवृत्ति होती है तो प्रवृत्तिसे पहले ज्ञान होता है। जैसे, जल पीनेकी प्रवृत्तिसे पहले प्यासका ज्ञान होता है, फिर वह जलसे प्यास बुझाता है। जल

आदि जिस विषयका ज्ञान होता है, वह 'ज्ञेय' कहलाता है और जिसको ज्ञान होता है, वह 'परिज्ञाता' कहलाता है। ज्ञान, ज्ञेय और परिज्ञाता—तीनों होनेसे ही कर्म करनेकी प्रेरणा होती है। यदि इन तीनोंमेंसे एक भी न हो तो कर्म करनेकी प्रेरणा नहीं होती।

'परिज्ञाता' उसको कहते हैं, जो 'परितः' ज्ञाता है अर्थात् जो सब तरहकी क्रियाओंकी स्फुरणाका ज्ञाता है। वह केवल 'ज्ञाता' मात्र है अर्थात् उसे क्रियाओंकी स्फुरणामात्रका ज्ञान होता है, उसमें अपने लिये कुछ चाहनेका अथवा उस क्रियाको करनेका अभिमान आदि बिल्कुल नहीं होते।

कोई भी क्रिया करनेकी स्फुरणा एक व्यक्तिविशेषमें ही होती है। इसलिये शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध—इन विषयोंको लेकर सुननेवाला, स्पर्श करनेवाला, देखनेवाला, चखनेवाला और सूँघनेवाला—इस तरह अनेक 'कर्ता' हो सकते हैं, परंतु उन सबको जाननेवाला एक ही रहता है, उसे ही यहाँ 'परिज्ञाता' कहा है।

'करणं कर्म कर्तेति त्रिविधः कर्मसंग्रहः'—कर्मसंग्रहके तीन हेतु हैं—करण, कर्म तथा कर्ता। इन तीनोंके सहयोगसे कर्म पूरा होता है। जिन साधनोंसे कर्ता कर्म करता है, उन इन्द्रियों आदि क्रिया करनेके साधनोंको 'करण' कहते हैं। खाना-पीना, उठना-बैठना, चलना-फिरना, आना-जाना आदि जो चेष्टाएँ की जाती हैं, उनको 'कर्म' कहते हैं। करण और क्रियासे अपना सम्बन्ध जोड़कर कर्म करनेवालेको 'कर्ता' कहते हैं। इस प्रकार इन तीनोंके मिलनेसे ही कर्म बनता है।

कुछ छः बातें बतायीं । अब इस श्लोकमें ज्ञान, कर्म तथा कर्ता—इन तीनोंका विवेचन करनेकी ही बात भगवान् कहते हैं । कर्म-प्रेरक-विभागमेंसे विवेचन करनेके लिये केवल 'ज्ञान' लिया है तथा कर्मसंग्रह-विभागमेंसे केवल 'कर्म' तथा 'कर्ता' लिये हैं । इस प्रकार कर्मप्रेरक-विभागमें 'ज्ञाता' तथा 'ज्ञेय' को और कर्मसंग्रह-विभागमें 'करण' को छोड़ दिया है ।

कर्मप्रेरक-विभागके 'ज्ञाता' और 'ज्ञेय' का विवेचन क्यों नहीं किया ? कारण कि ज्ञाता जब क्रियासे सम्बन्ध जोड़ता है, तब वह 'कर्ता' कहलाता है और उस कर्ताके तीन (सात्त्विक, राजस और तामस) भेदोंके अन्तर्गत ही ज्ञाताके भी तीन भेद हो जाते हैं । परंतु ज्ञाता जब ज्ञप्तिमात्र रहता है, तो उसके तीन भेद नहीं होते; क्योंकि उसमें गुणोंका सङ्ग नहीं है । गुणोंका सङ्ग होनेसे ही उसके तीन भेद होते हैं । इस वास्ते वृत्ति-ज्ञान ही सात्त्विक, राजस तथा तामस होता है ।

जिसे जाना जाय, उस विषयको 'ज्ञेय' कहते हैं । जाननेके विषय अनेक हैं, इसलिये इसके अलग भेद नहीं किये गये । परंतु जाननेयोग्य सब विषयोंका एकमात्र लक्ष्य 'सुख' प्राप्त करना ही रहता है । जैसे, कोई विद्या पढ़ता है, कोई धन कमाता है, कोई अधिकार पानेकी चेष्टा करता है तो इन सब विषयोंको जानने, पानेकी चेष्टाका लक्ष्य एकमात्र 'सुख' ही रहता है । विद्या पढ़नेमें यही भाव रहता है कि ज्यादा पढ़कर ज्यादा धन कमाऊँगा, मान पाऊँगा और उनसे मैं सुखी होऊँगा । ऐसे ही हरेक कर्मका लक्ष्य परम्परासे सुख ही

रहता है। इस वास्ते भगवान्‌ने ज्ञेयके तीन भेद सात्त्विक, राजस और तामस 'सुख'के नामसे आगे (१८ । ३६—३९ में) किये हैं।

ऐसे ही भगवान्‌ने करणके भी तीन भेद नहीं किये।' कारण कि इन्द्रियाँ आदि जितने भी करण हैं, वे सब साधनमात्र हैं। इस वास्ते उनके तीन भेद नहीं होते। परंतु इन सभी करणोंमें 'बुद्धि' की ही प्रधानता है; क्योंकि मनुष्य करणोंसे जो कुछ भी काम करता है, उसको वह बुद्धिपूर्वक (विचारपूर्वक) ही करता है। इस वास्ते भगवान्‌ने करणके तीन भेद सात्त्विक, राजस और तामस 'बुद्धि'के नामसे आगे (१८ । ३०—३२ में) किये हैं।

बुद्धिको दृढ़तासे रखनेमें 'धृति' बुद्धिकी सहायक बनती है। ानयोगकी साधनामें भगवान्‌ने दो जगह (६ । २५ में तथा १८ । ५१ में) बुद्धिके साथ धृति पद भी दिया है। इससे यह मालूम देता है कि ज्ञानमार्गमें बुद्धिके साथ धृतिकी विशेष आवश्यकता है। इस वास्ते भगवान्‌ने धृतिके भी तीन भेद (१८ । ३३—३५ में) बताये हैं।

'त्रिधैव' पदमें यह भाव है कि ये भेद तीन (सात्त्वि राजस और तामस) ही होते हैं, कम और ज्यादा नहीं होते अर्थ न दो होते हैं और न चार होते हैं। कारण कि सत्त्व, रज तम—ये तीन गुण ही प्रकृतिसे उत्पन्न हैं—**'सत्त्वं रजस्तम गुणाः प्रकृतिसम्भवाः'** (गीता १४ । ५)। इसलिये इन गुणोंको लेकर तीन ही भेद होते हैं।

'प्रोच्यते गुणसंख्याने'—जिस शास्त्रमें गुणोंके सम्बन्धसे प्रत्येक पदार्थके भिन्न-भिन्न भेदोंकी गणना की गयी है, उसी शास्त्रके अनुसार मैं तुम्हें ज्ञान, कर्म तथा कर्ताके भेद बता रहा हूँ।

'यथावत्'—गुणसंख्यान-शास्त्रमें इस विषयका जैसा वर्णन हुआ है, वैसा-का-वैसा तुझे सुना रहा हूँ; अपनी तरफसे कुछ कम या अधिक करके नहीं सुना रहा हूँ।

'शृणु'—इस विषयको ध्यानसे सुनो। कारण कि सात्त्विक, राजस और तामस—इन तीनोंमेंसे 'सात्त्विक' चीजें तो कर्मोंसे सम्बन्ध-विच्छेद करके परमात्मतत्त्वका बोध करानेवाली हैं; 'राजस' चीजें जन्म-मरण देनेवाली हैं; और 'तामस' चीजें पतन करनेवाली अर्थात् नरकों और नीच योनियोंमें ले जानेवाली हैं। इस वास्ते इनका वर्णन सुनकर सात्त्विक चीजोंको ग्रहण तथा राजस-तामस चीजोंका त्याग करना चाहिये।

'तानि'—इन ज्ञान आदिका तेरे स्वरूपके साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। तेरा स्वरूप तो सदा निर्लेप है।

'अपि'—इनके भेदोंको सुनकर उनको जाननेकी भी बड़ी भारी आवश्यकता है; क्योंकि इनको ठीक तरहसे जाननेपर 'यस्य नाहंकृतो भावो………न हन्ति न निबध्यते' (१८।१७)—इस श्लोकका ठीक अनुभव हो जायगा अर्थात् अपने स्वरूपकी प्राप्ति हो जायगी।

घटना आदिमें विभागरहित एक ही तत्त्वको देखता है *। तात्पर्य यह कि अलग-अलग वस्तु, व्यक्ति आदिका अलग-अलग ज्ञान और यथायोग्य अलग-अलग व्यवहार होते हुए भी वह इन विकारी वस्तुओंमें उस स्वतःसिद्ध निर्विकार एक तत्त्वको देखता है। उसके देखनेकी यही पहचान है कि उसके अन्तःकरणमें राग-द्वेष नहीं होते।

'तज्ज्ञानं विद्धि सात्त्विकम्'—उस ज्ञानको तू सात्त्विक जान। परिवर्तनशील वस्तुओं, वृत्तियोंके सम्बन्धसे ही इसे 'सात्त्विक ज्ञान' कहते हैं। सम्बन्ध-रहित होनेपर यही ज्ञान 'वास्तविक बोध' कहलाता है, जिसको भगवान्‌ने सब साधनोंसे जाननेयोग्य ज्ञेय-तत्त्व बताया है—'ज्ञेयं यत्तत्प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वामृतमश्नुते' (गीता १३। १२)।

संसारका ज्ञान इन्द्रियोंसे होता है, इन्द्रियोंका ज्ञान बुद्धिसे होता है और बुद्धिका ज्ञान 'मैं' से होता है। वह 'मैं' बुद्धि, इन्द्रियाँ और विषय—इन तीनोंको जानता है। परंतु उस 'मैं' का भी एक प्रकाशक है, जिसमें 'मैं'का भी भान होता है। वह प्रकाश

---

* अविभक्तं च भूतेषु विभक्तमिव च स्थितम्।
भूतभर्तृ च तज्ज्ञेयं ग्रसिष्णु प्रभविष्णु च॥ (गीता १३। १६)

'वह परमात्मा विभागरहित एकरूपसे आकाशके सदृश परिपूर्ण होनेपर भी चराचर सम्पूर्ण भूतोंमें विभक्त-सा स्थित प्रतीत होता है; तथा वह जाननेयोग्य परमात्मा विष्णुरूपसे सबको धारण-पोषण करनेवाला और रुद्ररूपसे संहार करनेवाला तथा ब्रह्मारूपसे सबको उत्पन्न करनेवाला है।'

दृष्टिमें 'मैं', 'तू' और 'यह' कहलानेवाले सब 'वह' हो जायँगे *। इस प्रकार 'मैं', 'तू', 'यह' और 'वह'—ये चारों ही एक-दूसरेकी दृष्टिमें चारों ही बन सकते हैं।

इससे यह सिद्ध हुआ कि 'मैं', 'तू', 'यह' और 'वह'—ये सब परिवर्तनशील हैं अर्थात् टिकनेवाले नहीं हैं, वास्तविक नहीं हैं। अगर वास्तविक होते तो एक ही रहते। वास्तविक तो इन सबका प्रकाशक और आश्रय है, जिसके प्रकाशमें 'मैं', 'तू', 'यह' और 'वह' का भान हो रहा है। उस प्रकाशकमें 'मैं', 'तू', 'यह' और 'वह'—ये चारों ही नहीं हैं, प्रत्युत उसीसे इन चारोंको सत्ता मिलती है, अपनी मान्यताके कारण 'मैं', 'तू', 'यह', 'वह' का तो भान होता है, पर प्रकाशकका भान नहीं होता। वह प्रकाशक सबको प्रकाशित करता है, स्वयंप्रकाश-स्वरूप है और सदा ज्यों-का-त्यों रहता है। 'मैं', 'तू', 'यह' और 'वह'—यह सब विभक्त प्राणियोंका

* उदाहरणके रूपमें—राम, श्याम, गोविन्द और गोपाल—ये चार व्यक्ति हैं। राम और श्याम एक-दूसरेके सामने हैं, गोविन्द उनके पास है और गोपाल उनसे दूर है। राम अपनेको 'मैं' कहता है, अपने सामनेवाले श्यामको 'तू' कहता है, पासवाले गोविन्दको 'यह' कहता है और दूरवाले गोपालको 'वह' कहता है। अब यदि श्याम अपनेको 'मैं' कहे तो रामको वह 'तू' कहेगा, गोविन्दको 'यह' कहेगा तथा गोपालको 'वह' कहेगा। इसी तरह अगर गोविन्द अपनेको 'मैं' कहे तो वह श्यामको 'यह' कहेगा और रामको 'तू' कहेगा अथवा श्यामको 'तू' और रामको 'यह' कहेगा; तथा दूरवाले गोपालको 'वह' कहेगा। अब अगर गोपाल अपनेको 'मैं' कहे तो वह राम, श्याम और गोविन्द—तीनोंको 'वह' कहेगा। इस प्रकार राम, श्याम, गोविन्द और गोपाल—ये चारों ही एक-दूसरेकी दृष्टिमें 'मैं', 'तू', 'यह' और 'वह' बन सकते हैं।

सम्बन्ध—

अब सात्त्विक कर्मका वर्णन करते हैं—

श्लोक—

नियतं सङ्गरहितमरागद्वेषतः कृतम् ।
अफलप्रेप्सुना कर्म यत्तत्सात्त्विकमुच्यते ॥ २३ ॥

व्याख्या—

'**नियतम्**'—जिस व्यक्तिके लिये वर्ण और आश्रमके अनुसार जिस परिस्थितिमें और जिस समय शास्त्रोंने जैसा करनेके लिये कहा है, उसके लिये वह कर्म 'नियत' हो जाता है।

यहाँ '**नियतम्**' पदसे एक तो कर्मोंका स्वरूप बताया है और दूसरे शास्त्रनिषिद्ध कर्मका निषेध किया है।

'**सङ्गरहितम्**'—वह नियत-कर्म कर्तृत्वाभिमानसे रहित होकर किया जाय। कर्तृत्वाभिमानसे रहित कहनेका भाव है कि जैसे वृक्ष आदिमें मूढ़ता होनेके कारण उनको कर्तृत्वका भान नहीं होता, पर उनकी भी ऋतु आनेपर पत्तोंका झड़ना, नये पत्तोंका निकलना, शाखा कटनेपर घावका मिल जाना, शाखाओंका बढ़ना, फल-फूलका लगना आदि सभी क्रियाएँ समष्टि शक्तिके द्वारा अपने-आप ही होती हैं; ऐसे ही इन सभी शरीरोंका बढ़ना-घटना, खाना-पीना, चलना-फिरना आदि सभी क्रियाएँ भी समष्टि शक्तिके द्वारा अपने-आप ही रही हैं। इन क्रियाओंके साथ न अभी कोई सम्बन्ध है, न पहले कोई सम्बन्ध था और न आगे ही कोई सम्बन्ध होगा। इस प्रकार जब साधकको प्रत्यक्ष अनुभव हो जाता है तो फिर कर्तृत्व

नहीं रहता। कर्तृत्व न रहनेपर उसके द्वारा जो कर्म होगा, वह सङ्गरहित अर्थात् कर्तृत्वाभिमान-रहित ही होगा।

यहाँ सांख्य-प्रकरणमें कर्तृत्वका त्याग मुख्य होनेसे और आगे 'अरागद्वेषतः कृतम्' पदोंमें भी आसक्तिके त्यागकी बात आनेसे यहाँ 'सङ्गरहितम्' पदका अर्थ कर्तृत्व-अभिमानरहित लिया गया है।

'अरागद्वेषतः कृतम्'—राग-द्वेषसे रहित हो करके कर्म किया जाय अर्थात् कर्मका ग्रहण रागपूर्वक न हो और कर्मका त्याग द्वेष-पूर्वक न हो तथा कर्म करनेके जितने साधन (शरीर, इन्द्रियाँ, अन्तःकरण आदि) हैं, उनमें भी राग-द्वेष न हो।

'अफलप्रेप्सुना कर्म यत्तत्सात्त्विकमुच्यते'—पहले 'अरागद्वेषतः' पदसे वर्तमानमें रागका अभाव बताया, अब 'अफलप्रेप्सुना' कहकर भविष्यमें रागका अभाव बताते हैं। तात्पर्य यह कि भविष्यमें मिलनेवाले फलकी इच्छासे रहित पुरुषके द्वारा कर्म किया जाय अर्थात् क्रिया और पदार्थोंसे निर्लिप्त रहते हुए असङ्गता-पूर्वक कर्म किया जाय तो वह सात्त्विक कहा जाता है।

इस सात्त्विक कर्ममें सात्त्विकता तभीतक है, जबतक अत्यन्त सूक्ष्मरूपसे भी प्रकृतिके साथ सम्बन्ध है। जब प्रकृतिसे सर्वथा सम्बन्ध-विच्छेद हो जायगा, तो यह कर्म 'अकर्म' हो जायगा।

सम्बन्ध—

अब राजस कर्मका वर्णन करते हैं।

श्लोक—

यत्तु कामेप्सुना कर्म साहंकारेण वा पुनः।
क्रियते बहुलायासं तद्राजसमुदाहृतम्॥ २४॥

व्याख्या—

'यत्तु कामेप्सुना कर्म'—हम कर्म करेंगे तो हमें पदार्थ मिलेंगे, सुख-आराम मिलेगा, भोग मिलेंगे आदि फलकी इच्छावाले व्यक्तिके द्वारा कर्म किया जाय।

'साहंकारेण'—कर्मोंको करते हुए दूसरोंकी अपेक्षा अपनेमें विलक्षणताका, विशेषताका अनुभव होता है; जैसे—दूसरे आदमी हमारे समान सुचारुरूपसे सङ्गोपाङ्ग कार्य नहीं कर सकते; हमारेमें काम करनेकी जो योग्यता, विद्या, चतुरता आदि हैं, वे हरेक आदमीमें नहीं मिलेंगे; हम जो भी काम करते हैं, उसको बहुत ही ईमानदारीसे और जल्दी करते हैं, आदि। इस प्रकार अहंकारपूर्वक किया गया कर्म राजस कहलाता है।

'वा पुनः'—आगे भविष्यमें मिलनेवाले फलको लेकर किया जाय अथवा वर्तमानमें अपनी विशेषताको लेकर किया जाय, इन दोनों भावोंमेंसे जब एक भाव होनेपर भी कर्म राजस हो जाता है तब दोनों भाव होनेपर वह राजस हो ही जायगा।

'क्रियते बहुलायासम्'—राजसी पुरुषका शरीरमें, इन्द्रियोंमें, अन्तःकरणमें राग होनेके कारण उसे कर्म करनेमें परिश्रमका अधिक भान होता है। दूसरा कारण यह भी है कि राजस पुरुष कर्म करते हुए कर्मोंका बहुत अधिक विस्तार कर देता है। यह भी कर लें, यह भी कर लें; यह काम ऐसा करनेसे इतनी भोग-सामग्री हो जायगी,

* राजसकर्मको सात्त्विककर्मसे भिन्न बतानेके लिये यहाँ 'तु' पदका प्रयोग हुआ है।

धन-सम्पत्ति बढ़ जायगी; उस कामको करनेसे मान-बड़ाई, प्रशंसा हो जायगी आदि भावोंको लेकर वह कार्योंका विस्तार कर देता है, जिससे अधिक परिश्रम होता है ।

'तद्राजसमुदाहृतम्'—ऐसे फलकी इच्छावाले पुरुषके द्वारा अहंकार और परिश्रमपूर्वक किया हुआ जो कर्म है, वह 'राजस' कहा गया है ।

सम्बन्ध—

अब तामस कर्मका वर्णन करते हैं ।

श्लोक—

अनुबन्धं क्षयं हिंसामनवेक्ष्य च पौरुषम् ।
मोहादारभ्यते कर्म यत्तत्तामसमुच्यते ॥ २५ ॥

व्याख्या—

'अनुबन्धम्'—जिसको फलकी कामना होती है, वह मनुष्य तो फलप्राप्तिके लिये विचारपूर्वक कर्म करेगा; परंतु तामसी पुरुषमें मूढ़ताकी प्रधानता होनेसे वह कर्म करनेमें विचार करता ही नहीं । इस कार्यको करनेसे मेरा तथा दूसरे प्राणियोंका अभी और परिणाममें कितना नुकसान होगा, कितना अहित होगा—इस अनुबन्ध अर्थात परिणामको न देखकर वह कार्य आरम्भ कर देता है ।

'क्षयम्'—इस कार्यको करनेसे अपने और दूसरोंके शरीरोंकी कितनी हानि होगी; धन और समयका कितना खर्चा होगा; इससे दुनियामें मेरा कितना अपमान, निन्दा, तिरस्कार आदि होगा; मेरा लोक-परलोक बिगड़ जायगा आदि नुकसानको न देखकर ही वह कार्य आरम्भ कर देता है ।

'हिंसाम्'—इस कर्मसे कितने जीवोंकी हत्या होगी; कितने श्रेष्ठ व्यक्तियोंके सिद्धान्तों और मान्यताओंकी हत्या हो जायगी; दूसरे मनुष्योंकी मनुष्यताकी कितनी भारी हिंसा हो जायगी; अभीके और भावी जीवोंके शुद्ध भाव, आचरण, वेशभूषा, खान-पान आदिकी कितनी भारी हिंसा हो जायगी; इससे मेरा और दुनियाका कितना अधःपतन होगा आदि हिंसाको न देखकर ही वह कार्य आरम्भ कर देता है।

'अनवेक्ष्य च पौरुषम्'—इस कामको करनेकी मेरेमें कितनी योग्यता है, कितना बल, सामर्थ्य है; मेरे पास कितना समय है, कितनी बुद्धि है, कितनी कला है, कितना ज्ञान है आदि अपने पौरुष(पुरुषार्थ) को न देखकर ही वह कार्य आरम्भ कर देता है।

'मोहादारभ्यते कर्म यत्तत्तामसमुच्यते'—तामसी पुरुष कर्म करते समय उसके परिणाम, उससे होनेवाले नुकसान, हिंसा और अपनी सामर्थ्यका कुछ भी विचार न करके, जब जैसा मनमें भाव आया, उसी समय बिना विवेक-विचारके वैसा ही कर बैठता है। इस प्रकार किया गया कर्म 'तामस' कहलाता है।

सम्बन्ध—

अब सात्त्विक कर्ताके लक्षण बताते हैं।

श्लोक—

मुक्तसङ्गोऽनहंवादी धृत्युत्साहसमन्वितः।
सिद्ध्यसिद्ध्योर्निर्विकारः कर्ता सात्त्विक ...

व्याख्या—

'मुक्तसङ्गः'—सांख्ययोगीका जैसे कर्मोंके स

ऐसे सांख्ययोगी कर्ता भी रागरहित होता है ।

कामना, वासना, आसक्ति, स्पृहा, ममत
सम्बन्ध जोड़नेके कारण ही वस्तु, व्यक्ति, पदार्थ,
आदिमें आसक्ति, लिप्तता होती है । सात्त्विक क
सर्वथा रहित होता है ।

'अनहंवादी'—पदार्थ, वस्तु, परिस्थिति
अपनेमें जो एक विशेषताका अनुभव करना है
शीलता है । यह अहंवदनशीलता आसुरी-सम्प
निकृष्ट है । सात्त्विक कर्तामें यह अहंवदनशील
रहता ही नहीं, प्रत्युत मैं इन चीजोंका त्य
अभिमान नहीं है, मैं निर्विकार हूँ, मैं सम हूँ, मैं
मैं संसारके मात्र सम्बन्धसे रहित हूँ—इस तरह
उसमें अभाव रहता है ।

'धृत्युत्साहसमन्वितः'—कर्तव्य-कर्म करने
आ जायँ, उस कर्मका परिणाम ठीक न निकले,
जाय तो भी विघ्न-बाधा आदि न आनेपर
वैसा ही धैर्य नित्य-निरन्तर बना रहे—इसका ना

वैसी ही उम्मेदवारी इससे विपरीत अर्थात् असफलता, अवनति, निन्दा आदि हो जानेपर भी बनी रहे—इसका नाम 'उत्साह' है। सात्त्विक कर्ता इस प्रकारकी धृति और उत्साहसे युक्त रहता है।

'सिद्ध्यसिद्ध्योर्निर्विकारः'—सिद्धि और असिद्धिमें अपनेमें कुछ विकार ही न आये, अपनेपर कुछ भी असर न पड़े अर्थात् कार्य ठीक तरहसे साङ्गोपाङ्ग पूर्ण हो जाय अथवा पूरा उद्योग करते हुए अपनी शक्ति, समझ, समय, सामर्थ्य आदिको पूरा लगाते हुए भी कार्य पूरा न हो; फल प्राप्त हो अथवा न हो-तो भी अपने अन्तःकरणमें प्रसन्नता और खिन्नता, हर्ष और शोकका न होना ही सिद्धि-असिद्धिमें निर्विकार रहना है।

'कर्ता सात्त्विक उच्यते'—ऐसा आसक्ति तथा अहंकारसे रहित, धैर्य तथा उत्साहसे युक्त और सिद्धि-असिद्धिमें निर्विकार कर्ता 'सात्त्विक' कहा जाता है।

इस श्लोकमें छः बातें बतायी गयी हैं—सङ्ग, अहवदनशीलता, धृति, उत्साह, सिद्धि और असिद्धि। इनमेंसे पहली दो बातोंसे रहित, बीचकी दो बातोंसे युक्त और अन्तकी दो बातोंमें निर्विकार रहनेके लिये बताया गया है।

सम्बन्ध—

अब राजस कर्ताके लक्षण बताते हैं।

श्लोक—

रागी कर्मफलप्रेप्सुर्लुब्धो हिंसात्मकोऽशुचिः।
हर्षशोकान्वितः कर्ता राजसः परिकीर्तितः॥ २७॥

व्याख्या--

'रागी'—रागका स्वरूप रजोगुण होनेके कारण भगवान्ने राजस कर्ताके लक्षणोंमें सबसे पहले 'रागी' पद दिया है। रागका अर्थ है—कर्मोंमें, कर्मोंके फलोंमें तथा वस्तु, व्यक्ति, पदार्थ आदिमें मनका खिंचाव होना, मनकी प्रियता होना। इन चीजोंका जिसपर रंग चढ़ जाता है, वही 'रागी' होता है।

'कर्मफलप्रेप्सुः'—राजस पुरुष कोई भी काम करेगा तो वह किसी फलकी चाहनाको लेकर ही करेगा; जैसे—मैं ऐसा-ऐसा अनुष्ठान कर रहा हूँ, दान दे रहा हूँ, उससे यहाँ धन, मान, बड़ाई आदि मिलेंगे और परलोकमें स्वर्गादिके भोग, सुख आदि मिलेंगे; मैं ऐसी-ऐसी दवाइयोंका सेवन कर रहा हूँ तो उनसे मेरा शरीर नीरोग रहेगा, आदि।

'लुब्धः'—राजस पुरुषको जितना जो कुछ मिलता है, उसमें वह सन्तोष नहीं करता, प्रत्युत 'जिमि प्रतिलाभ लोभ अधिकाई' की तरह 'और मिलता रहे, और मिलता रहे' अर्थात आदर, सत्कार, महिमा आदि अधिक-से-अधिक होते रहें; धन, पुत्र, परिवार आदि अधिक-से-अधिक बढ़ते रहें—इस प्रकारकी लाग लगी रहती है, लोभ लगा रहता है।

'हिंसात्मकः'—वह हिंसाके स्वभाववाला होता है। अपने स्वार्थके लिये वह दूसरोंके नुकसानकी, दुःखकी परवाह नहीं करता। वह ज्यों-ज्यों अधिक भोग-सामग्री इकट्ठी करके भोग भोगता है, त्यों-त्यों दूसरे अभावग्रस्त लोगोंके हृदयमें जलन पैदा होती है।

हो-पा दूसरे ...

इस वास्ते दूसरोंके दुःखकी परवाह न करना तथा भोग भोगना हिंसा ही है ।

'अशुचिः'—रागी पुरुष भोग-बुद्धिसे जिन वस्तुओं, पदार्थों आदिका संग्रह करता है, वे सब चीजें अपवित्र हो जाती है । वह जहाँ रहता है, वहाँका वायुमण्डल अपवित्र हो जाता है । वह जिन कपड़ोंको पहनता है, उन कपड़ोंमें भी अपवित्रता आ जाती है । यही कारण है कि आसक्ति-ममतावाले पुरुषके मरनेपर उसके कपड़े आदिको कोई रखना नहीं चाहता । जिस स्थानपर उसके शवको जलाया जाता है, वहाँ कोई भजन-ध्यान करना चाहे तो उसका मन नहीं लगेगा । वहाँ भूलमें कोई सो जायगा तो उसको प्रायः खराब-खराब स्वप्न आयेंगे । तात्पर्य यह है कि उत्पत्ति-विनाशशील पदार्थोंकी तरफ आकृष्ट होते ही आसक्ति-ममतारूप मलिनता आने लगती है, जिससे मनुष्यका शरीर और शरीरकी हड्डियाँतक अधिक अपवित्र हो जाती हैं ।

'हर्षशोकान्वितः'—उसके सामने दिनमें कितनी बार सफलता-विफलता, अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थिति, घटना आदि आते रहते हैं, उनको लेकर वह हर्ष-शोक, राग-द्वेष, सुख-दुःख आदिमें ही उलझा रहता है ।

'कर्ता राजसः परिकीर्तितः'—उपर्युक्त लक्षणोंवाला कर्ता 'राजस' कहा गया है ।

सम्बन्ध—

स कर्ताके लक्षण बताते हैं ।

श्लोक—

ः प्राकृतः स्तब्धः शठोऽनैष्कृतिकोऽलसः ।
दी दीर्घसूत्री च कर्ता तामस उच्यते ॥ २८ ॥

व्याख्या—

युक्तः'—तमोगुण मनुष्यको मूढ़ बना देता है* । इस
स समयमें कौन-सा काम कैसा करना चाहिये ? किस तरह
इमें लाभ है और किस तरह करनेसे हमें हानि है ?—इस
तामस पुरुष सावधान नहीं रहता अर्थात् वह कर्तव्य और
व्यके विषयमें सोचता ही नहीं । इस वास्ते वह 'अयुक्त' अर्थात्
ावधान कहलाता है ।

'प्राकृतः'—जिसने शास्त्र, सत्सङ्ग, अच्छी शिक्षा, उपदेश
दिसे न तो अपने जीवनको ठीक बनाया है और न अपने जीवनपर
छ विचार ही किया है, माँ-बापसे जैसा पैदा हुआ है, वैसा-का-वैसा
ही कोरा रहा है, ऐसा मनुष्य 'प्राकृत' अर्थात् अशिक्षित कहलाता है।

'स्तब्धः'—तमोगुणकी प्रधानताके कारण उसके मन, वाणी
और शरीरमें अकड़ रहती है । इस वास्ते वह अपने वर्ण-आश्रममें
बड़े-बूढ़े, माता, पिता, गुरु, आचार्य आदिके सामने कभी झुकता
नहीं । वह मन, वाणी और शरीरसे कभी सरलता और नम्रताका
व्यवहार नहीं करता, प्रत्युत कठोर व्यवहार करता है । ऐसा पुरुष
'स्तब्ध' अर्थात् ऐंठ-अकड़वाला कहलाता है ।

---

* तमस्त्वज्ञानजं विद्धि मोहनं सर्वदेहिनाम् ।
(गीता १४ । ८)

'शठः'—तामस पुरुष अपनी एक जिद होनेके कारण दूसरोंकी दी हुई अच्छी शिक्षाको, अच्छे विचारोंको नहीं मानता। उसको तो मूढ़ताके कारण अपने ही विचार अच्छे लगते हैं। इस वास्ते वह 'शठ' अर्थात् जिद्दी कहलाता है*।

'अनैष्कृतिकः'—जिनसे कुछ उपकार पाया है, उनका प्रत्युपकार करनेका जिसका स्वभाव होता है, वह 'नैष्कृतिक' कहलाता है। परंतु जो दूसरोंसे उपकार पा करके भी उनका उपकार नहीं करता, प्रत्युत उनका अपकार करता है, वह 'अनैष्कृतिक' कहलाता है।

'अलसः'—अपने वर्ण-आश्रमके अनुसार आवश्यक कर्तव्य-कर्म प्राप्त हो जानेपर भी तामस पुरुषको मूढ़ताके कारण वह कर्म करना अच्छा नहीं लगता, प्रत्युत सांसारिक निरर्थक बातोंको पड़े-पड़े सोचते रहना अथवा नींदमें पड़े रहना अच्छा लगता है। इस वास्ते उसे 'अलसः' अर्थात् आलसी कहा गया है।

'विषादी'—यद्यपि तामस पुरुषमें यह विचार होता ही नहीं कि *क्या कर्तव्य होता है और क्या अकर्तव्य होता है; तथा* निद्रा, आलस्य, प्रमाद आदिमें मेरी शक्तिका, मेरे जीवनके अमूल्य समयका कितना दुरुपयोग हो रहा है, तथापि अच्छे मार्गसे और कर्तव्यसे च्युत होनेसे उसके भीतर स्वाभाविक ही विषाद (दुःख, अशान्ति) होता रहता है। इस वास्ते उसे 'विषादी' कहा गया है।

---

* मूर्खस्य पञ्च चिह्नानि गर्वी दुर्वचनी तथा।
हठी चाप्रियवादी च परोक्तं नैव मन्यते॥

'दीर्घसूत्री'—अमुक काम किस तरीकेसे बढ़िया और जल्दी हो सकता है—इस बातको यह सोचता ही नहीं । इस वास्ते वह किसी काममें अविवेकपूर्वक लग भी जाता है तो थोड़े समयमें होने-वाले काममें भी बहुत ज्यादा समय लगा देता है और उससे काम भी सुचारुरूपसे नहीं होता । ऐसा मनुष्य 'दीर्घसूत्री' कहलाता है ।

'कर्ता तामस उच्यते'—उपर्युक्त आठ लक्षणोंवाला कर्ता 'तामस' कहलाता है ।

विशेष बात—

छब्बीसवें, सत्ताईसवें और अट्ठाईसवें श्लोकमें जितनी बातें आयी हैं, वे सब कर्ताको लेकर ही कही गयी हैं । इस वास्ते कर्ताके जैसे लक्षण होते हैं, उन्हींके अनुसार कर्म होते हैं । कर्ता जिन गुणोंको स्वीकार करता है, उन गुणोंके अनुसार ही कर्मोंका रूप होता है । कर्ता जिस साधनको करता है, वह साधन कर्ताका रूप हो जाता है । कर्ताके आगे जो करण होते हैं, वे भी कर्ताके अनुरूप होते हैं । तात्पर्य यह है कि जैसा कर्ता होता है, वैसे ही कर्म, करण आदि होते हैं । कर्ता सात्त्विक, राजस अथवा तामस होगा तो कर्म आदि भी सात्त्विक, राजस अथवा तामस होंगे ।

सात्त्विक कर्ता कर्म, बुद्धि आदिको सात्त्विक बनाकर सात्त्विक सुखका अनुभव करते हुए असङ्गतापूर्वक परमात्मतत्त्वसे अभिन्न हो जाता है—'दुःखान्तं च निगच्छति'(१८ । ३६) । कारण

* तमसा ... ज्ञेय परमात्मा होता है । इस वास्ते वह ... तत्त्वसे अभिन्न हो जाता है;

क्योंकि वह तात्त्विक स्वरूपसे अभिन्न ही था। परंतु राजस-तामस कर्ता राजस-तामस कर्म, बुद्धि आदिके साथ तन्मय होकर राजस-तामस सुखमें लिप्त होता है। इसवास्ते वह परमात्मतत्त्वसे अभिन्न नहीं हो सकता। कारण कि राजस-तामस कर्ताका उद्देश्य परमात्मा नहीं होता और उसमें जड़ताका बन्धन भी अधिक होता है।

अब यहाँ शङ्का हो सकती है कि कर्ताका सात्त्विक होना तो ठीक है, पर कर्म भी सात्त्विक कैसे होते हैं? समाधान यह है कि जिस कर्मके साथ कर्ताका राग नहीं है, कर्तृत्वाभिमान नहीं है, लेश (फलेच्छा) नहीं है, वह कर्म सात्त्विक हो जाता है। ऐसे सात्त्विक कर्मसे अपना और दुनियाका बड़ा भला होता है। उस सात्त्विक कर्मका जिन-जिन वस्तु, व्यक्ति, पदार्थ, वायुमण्डल आदिके साथ सम्बन्ध होता है, उन सबमें निर्मलता आ जाती है; क्योंकि निर्मलता सत्त्वगुणका स्वभाव है—'तत्र सत्त्वं निर्मलत्वात्' (गीता १४। ६)।

दूसरी बात, पतञ्जलि महाराजने रजोगुणको क्रियात्मक ही माना है—'प्रकाशक्रियास्थितिशीलं भूतेन्द्रियात्मकं भोगापवर्गार्थं दृश्यम्।' (योगदर्शन २। १८)। परंतु गीता रजोगुणको क्रियात्मक मानते हुए भी मुख्यरूपसे रागात्मक ही मानती है—'रजो रागात्मकं विद्धि' (१४। ७)। वास्तवमें देखा जाय तो 'राग' ही बाँधनेवाला है, 'क्रिया' नहीं।

उसे ऊँचा उठनेमें बाधा लग सकती है—यह जानना साधकके लिये बहुत जरूरी है। इस वास्ते भगवान्‌ने उन दोनोंके भेद बताये हैं। भेद बतानेमें भगवान्‌का भाव यह है कि सात्त्विकी बुद्धि और धृतिसे ही साधक ऊँचा उठ सकता है, राजसी-तामसी बुद्धि और धृतिसे नहीं।

'**बुद्धेर्भेदं धृतेश्चैव गुणतस्त्रिविधं शृणु**'—भगवान् कहते हैं कि बुद्धि भी एक है और धृति भी एक है; परन्तु गुणोंकी प्रधानतासे उस बुद्धि और धृतिके भी सात्त्विक, राजस और तामस—ये तीन-तीन भेद हो जाते हैं। उनका मैं ठीक-ठीक विवेचन करूँगा और थोड़ेमें बहुत विशेष बात कहूँगा। उनको तुम मन लगाकर, ध्यान देकर ठीक तरहसे सुनो।

धृति श्रोत्रादि करणोंमें नहीं आयी है। इस वास्ते भगवान् '**चैव**' पदका प्रयोग करके कह रहे हैं जैसे बुद्धिके तीन भेद बताऊँगा, ऐसे ही धृतिके भी तीन भेद बताऊँगा। साधारण दृष्टिसे देखनेपर तो धृति भी बुद्धिका ही एक गुण दीखती है। बुद्धिका एक गुण होते हुए भी धृति बुद्धिसे अलग और विलक्षण है; क्योंकि धृति स्वयंमें अर्थात् कर्तामें रहती है। उस धृतिके कारण ही मनुष्य बुद्धिका ठीक-ठीक उपयोग कर सकता है। धृति जितनी श्रेष्ठ अर्थात् सात्त्विकी होगी, साधककी (साधनमें) बुद्धि उतनी ही स्थिर रहेगी। साधनमें बुद्धिकी स्थिरताकी जितनी आवश्यकता है, उतनी आवश्यकता मनकी-स्थिरताकी नहीं है। हाँ, एक अंशमें अणिमा आदि सिद्धियोंकी प्राप्तिमें मनकी स्थिरताकी आवश्यकता है; परन्तु पारमार्थिक उन्नतिमें

तो बुद्धिके अपने उद्देश्यपर स्थिर रहनेकी ही ज्यादा आवश्यकता है।* साधककी बुद्धि भी सात्त्विकी हो और धृति भी सात्त्विकी हो, तभी साधक अपने साधनमें दृढ़तासे लगा रहेगा। इस वास्ते इन दोनोंके भेद जाननेकी आवश्यकता है।

'प्रोच्यमानमशेषेण'—भगवान् कहते हैं कि बुद्धि और धृतिके विषयमें जाननेकी जो-जो आवश्यक बातें हैं, उन सबको पूरा-पूरा कहूँगा, जिसके बाद फिर जानना बाकी नहीं रहेगा।

'पृथक्त्वेन'—इनके भेद अलग-अलग ठीक तरहसे कहूँगा अर्थात् बुद्धि और धृतिके विषयोंमें भी क्या-क्या भेद होते हैं, उनको भी कहूँगा।

'धनञ्जय'—जब पाण्डवोंने यज्ञ किया था तो अर्जुन राजाओंको जीतकर बहुत धन लाये थे। इसीसे उनका नाम 'धनञ्जय' पड़ा था। अब भगवान् अर्जुनसे कहते हैं कि अपनी साधनामें सात्त्विकी बुद्धि और धृतिको ग्रहण करके गुणातीत तत्त्वकी प्राप्ति करना ही वास्तविक धन है; इस वास्ते तुम इस वास्तविक धनको धारण करो, इसीमें तुम्हारे 'धनञ्जय' नामकी सार्थकता है।

---

* बुद्धिके द्वारा तो अपना ध्येय (लक्ष्य) ठीक-ठीक समझमें आता है और धृतिके द्वारा कर्ता स्वयं उस लक्ष्यपर दृढ़ रहता है। अपने लक्ष्यपर दृढ़ रहनेमें साधक पहले कैसे ही आचरणोंवाला अर्थात् पापी से-पापी और दुराचारी से-दुराचारी क्यों न रहा हो, पर भी 'मुझे तो अब परमात्मप्राप्ति ही करनी है'—इस उद्देश्यपर दृढ़ रहता है तो उसके सब पाप नष्ट हो जाते हैं (गीता ९। ३०)।

सम्बन्ध—

अब सात्त्विकी बुद्धिके लक्षण बताते हैं।

श्लोक—

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च कार्याकार्ये भयाभये।
बन्धं मोक्षं च या वेत्ति बुद्धिः सा पार्थ सात्त्विकी ॥३०॥

व्याख्या—

'प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च'—साधकमात्रकी प्रवृत्ति और निवृत्ति—ये दो अवस्थाएँ होती हैं। कभी वह संसारका काम-धन्धा करता है, तो यह प्रवृत्ति-अवस्था है और कभी संसारका काम-धन्धा छोड़कर एकान्तमें भजन-ध्यान करता है, तो यह निवृत्ति-अवस्था है। परंतु इन दोनोंमें सांसारिक कामना-सहित प्रवृत्ति और वासना-सहित निवृत्ति*—ये दोनों ही अवस्थाएँ 'प्रवृत्ति' हैं अर्थात संसारमें लगानेवाली हैं, तथा सांसारिक कामना-रहित प्रवृत्ति और वासना-रहित निवृत्ति—ये दोनों ही अवस्थाएँ 'निवृत्ति' हैं अर्थात परमात्माकी तरफ ले जानेवाली हैं। इस वास्ते साधक इनको ठीक-ठीक जानकर कामना-वासना-रहित प्रवृत्ति और निवृत्तिको ही ग्रहण करे।

वास्तवमें गहरी दृष्टिसे देखा जाय तो कामना-वासनारहित प्रवृत्ति और निवृत्ति भी यदि अपने सुख, आराम आदिके लिये की जायँ तो वे दोनों ही 'प्रवृत्ति' हैं; क्योंकि वे दोनों ही बाँधनेवाली

* प्रवृत्तिको छोड़कर कोई एकान्तमें भजन-ध्यान करता है तो वहाँ उसके सामने द्रव्य, पदार्थ तो नहीं हैं, पर 'लोग मेरेको ज्ञानी, ध्यानी, साधक समझेंगे, तो मेरा आदर-सत्कार होगा' इस प्रकार भीतर एक सूक्ष्म इच्छा रहती है, जिसे 'वासना' कहते हैं।

हैं अर्थात् उनसे अपना व्यक्तित्व नहीं कटता। परंतु यदि कामना-वासनारहित प्रवृत्ति और निवृत्ति—दोनों केवल दूसरोंके सुख, आराम और हितके लिये ही की जायँ, तो ये दोनों ही 'निवृत्ति' हैं; क्योंकि उन दोनोंसे ही अपना व्यक्तित्व नहीं रहता। वह व्यक्तित्व कब नहीं रहता? जब प्रवृत्ति और निवृत्ति जिसके प्रकाशसे प्रकाशित होती हैं तथा जो प्रवृत्ति और निवृत्तिसे रहित है, उस प्रकाशक अर्थात् तत्त्वकी प्राप्तिके उद्देश्यसे ही प्रवृत्ति और निवृत्ति की जाय। प्रवृत्ति तो की जाय प्राणिमात्रकी सेवाके लिये और निवृत्ति की जाय परम विश्राम अर्थात् स्वरूपस्थितिके लिये।

'कार्याकार्ये'—शास्त्र, वर्ण, आश्रमकी मर्यादाके अनुसार जो काम किया जाता है, वह 'कार्य' है और शास्त्र आदिकी मर्यादासे विरुद्ध जो काम किया जाता है, वह 'अकार्य' है।

जिसको हम कर सकते हैं, जिसको जरूर करना चाहिये और जिसको करनेसे जीवका जरूर कल्याण होता है, वह 'कार्य' अर्थात् कर्तव्य कहलाता है; और जिसको हमें नहीं करना चाहिये तथा जिससे जीवका बन्धन होता है, वह 'अकार्य' अर्थात् अकर्तव्य कहलाता है। जिसको हम नहीं कर सकते, वह अकर्तव्य नहीं कहलाता; वह तो अपनी असामर्थ्य है।

'भयाभये'—भय और अभयके कारणको देखना चाहिये। जिस कर्मसे अभी और परिणाममें अपना और दुनियाका अनिष्ट होनेकी सम्भावना है, वह कर्म 'भय' अर्थात् भयदायक है, और जिस कर्मसे अभी और परिणाममें अपना और दुनियाका हित

होनेकी सम्भावना है, वह कर्म **'अभयः'** अर्थात् सबको अभय करनेवाला है।

मनुष्य जब करनेलायक कार्यसे च्युत होकर अकार्यमें प्रवृत्त होता है, तो उसके मनमें अपनी मान-बड़ाईकी हानि और निन्दा-अपमान होनेकी आशङ्कासे भय पैदा होता है। परंतु जो अपनी मर्यादासे कभी विचलित नहीं होता, अपने मनसे किसीका भी अनिष्ट नहीं चाहता और केवल परमात्मामें ही लगा रहता है, तो उसके मनमें सदा अभय बना रहता है। यह अभय ही मनुष्यको सर्वथा अभयपद—परमात्माको प्राप्त करा देता है।

'बन्धं मोक्षं च या वेत्ति'—जो बाहरसे तो यज्ञ, दान, तीर्थ, व्रत आदि उत्तम-से-उत्तम कार्य करता है; परंतु भीतरसे असत्, जड, नाशवान पदार्थोंको और स्वर्ग आदि लोकोंको चाहता है, उसके लिये वे सभी कर्म **'बन्ध'** अर्थात् बन्धनकारक ही हैं। केवल परमात्मासे ही सम्बन्ध रखना, परमात्माके सिवाय कभी किसी अवस्थामें असत्, संसारके साथ लेशमात्र भी सम्बन्ध न रखना **'मोक्ष'** अर्थात् मोक्षदायक है।

अपनेको जो वस्तुएँ नहीं मिली हैं, उनकी कामना होनेसे मनुष्य उनके अभावका अनुभव करता है। वह अपनेको उन वस्तुओंके परतन्त्र मानता है और वस्तुओंके मिलनेपर अपनेको स्वतन्त्र मानता है। वह समझता तो यह है कि मेरे पास वस्तुएँ होनेसे मैं स्वतन्त्र हो गया हूँ, पर हो जाता है उन वस्तुओंके परतन्त्र! वस्तुओंके अभाव और वस्तुओंके भाव—इन दोनोंकी परतन्त्रतामें

इतना ही फर्क पड़ता है कि वस्तुओंके अभावमें परतन्त्रता दीखती है, खटकती है और वस्तुओंके होनेपर वस्तुओंकी परतन्त्रता परतन्त्रताके रूपमें दीखती ही नहीं; क्योंकि उस समय मनुष्य अन्धा हो जाता है। परंतु हैं दोनों ही परतन्त्रता. और परतन्त्रता ही बन्धन है। अभावकी परतन्त्रता प्रकट विष है और भावकी परतन्त्रता छिपा हुआ मीठा विष है. पर हैं दोनो ही विष। विष तो मारनेवाला ही होता है।

निष्कर्ष यह निकला कि सांसारिक वस्तुओंकी कामनासे ही बन्धन होता है और परमात्माके सिवाय किसी वस्तु, व्यक्ति, घटना, परिस्थिति, देश, काल आदिकी कामना न होनेसे मुक्ति होती है।* यदि मनमें कामना है तो वस्तु पासमें हो तो बन्धन और पासमें न हो तो बन्धन! यदि मनमे कामना नहीं है तो वस्तु पासमें हो तो मुक्ति और पासमे न हो तो मुक्ति!

'बुद्धिः सा पार्थ सात्त्विकी'—इस प्रकार जो प्रवृत्ति-निवृत्ति, कार्य-अकार्य, भय-अभय और बन्ध-मोक्षके वास्तविक तत्त्वको जानती है, वह बुद्धि सात्त्विकी है।

---

* एक 'कामना' होती है और एक आवश्यकता होती है। संसारकी कामना होती है और परमात्माकी आवश्यकता। कामनाकी कभी पूर्ति होती ही नहीं, उसकी तो निवृत्ति होती है, पर आवश्यकताकी पूर्ति ही होती है।

परमात्माकी आवश्यकता भी संसारकी कामना होनेसे ही पैदा होती है। कामनाका अत्यन्त अभाव होनेपर आवश्यकता रहती ही नहीं अर्थात् परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है।

इनके वास्तविक तत्त्वको जानना क्या है ? प्रवृत्ति
कार्य-अकार्य, भय-अभय और बन्ध-मोक्ष—इनको गहरा
समझकर, जिसके साथ वास्तवमें हमारा सम्बन्ध नहीं है, उ
साथ सम्बन्ध न मानना और जिसके साथ हमारा स्वतः सि
है, ऐसे (प्रवृत्ति-निवृत्ति आदिके आश्रय तथा प्रकाशक) प
तत्त्वसे ठीक-ठीक जानना—यही सात्त्विक बुद्धिके द्वारा
तत्त्वको ठीक-ठीक जानना है ।

सम्बन्ध—

अब राजसी बुद्धिके लक्षण बताते हैं ।

श्लोक—

यया धर्ममधर्मं च कार्यं चाकार्यमेव च
अयथावत्प्रजानाति बुद्धिः सा पार्थ राजसी

व्याख्या—

'यया धर्ममधर्मं च'—शास्त्रोंने जो कुछ भी विधान
वह 'धर्म' है अर्थात् शास्त्रोंने जिसकी आज्ञा दी है
परलोकमें सद्गति होती है, वह धर्म है । शास्त्रोंने जिस
किया है, वह 'अधर्म' है अर्थात् शास्त्रोंने जिसकी आ
है और जिससे परलोकमें दुर्गति होती है, वह अधर्म
अपने माता-पिता, बड़े-बूढ़ोंकी सेवा करनेमें, दूसरोंको सुख
दूसरोंका हित करनेकी चेष्टामें, अपने तन, मन, धन, यो
अधिकार, सामर्थ्य आदिको लगा देना 'धर्म' है । ऐसे ही कु
खुदवाना, धर्मशाला-औषधालय बनवाना, प्याऊ-सदावर्त
देश, ग्राम, मोहल्लेके, अनाथ तथा गरीब बालकोंकी औ

उन्नतिके लिये अपनी कहलानेवाली चीजोंको आवश्यकतानुसार उनकी ही समझकर निष्कामभावसे उदारतापूर्वक खर्च करना 'धर्म' है। इसके विपरीत अपने स्वार्थ, सुख, आरामके लिये दूसरोंकी धन-सम्पत्ति, हक, पद, अधिकार छीनना; दूसरोंका अपकार, अहित, हत्या आदि करना; अपने तन, मन, धन, योग्यता, पद, अधिकार आदिके द्वारा दूसरोंको दुःख देना 'अधर्म' है।

वास्तवमें धर्म वह है, जो जीवका कल्याण कर दे; और अधर्म वह है, जो जीवको बन्धनमें डाल दे।

'कार्यं चाकार्यमेव च'—वर्ण, आश्रम, देश, काल, लोक-मर्यादा, परिस्थिति आदिके अनुसार शास्त्रोंने हमारे लिये जिस कर्मको करनेकी आज्ञा दी है, वह कर्म हमारे लिये 'कर्तव्य' है। अवसरपर प्राप्त हुए कर्तव्यका पालन न करना तथा न करनेलायक कामको करना 'अकर्तव्य' है। जैसे, भिक्षा माँगना, यज्ञ, विवाह आदि कराना और उनमें दान-दक्षिणा लेना आदि कर्म ब्राह्मणके लिये तो कर्तव्य हैं, पर क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रके लिये अकर्तव्य हैं। इसी प्रकार शास्त्रोंने जिन-जिन वर्ण और आश्रमोंके लिये जो-जो कर्म बताये हैं, वे सब उन-उनके लिये कर्तव्य हैं; और जिनके लिये निषेध किया है, उनके लिये वे सब अकर्तव्य हैं।

जहाँ नौकरी करते हैं, वहाँ ईमानदारीसे अपना पूरा समय देना, कार्यको सुचारुरूपसे करना, जिस तरहसे मालिकका हित हो, ऐसा काम करना—ये सब कर्मचारियोंके लिये 'कर्तव्य' हैं। अपने स्वार्थ, सुख और आराममें फँसकर कार्यमें पूरा समय न लगाना,

इनके वास्तविक तत्त्वको जानना क्या है ? प्रवृत्ति-निवृत्ति, कार्य-अकार्य, भय-अभय और बन्ध-मोक्ष—इनको गहरी रीतिसे समझकर, जिसके साथ वास्तवमें हमारा सम्बन्ध नहीं है, उस संसारके साथ सम्बन्ध न मानना और जिसके साथ हमारा स्वतः सिद्ध सम्बन्ध है, ऐसे (प्रवृत्ति-निवृत्ति आदिके आश्रय तथा प्रकाशक) परमात्माको तत्त्वसे ठीक-ठीक जानना—यही सात्त्विक बुद्धिके द्वारा वास्तविक तत्त्वको ठीक-ठीक जानना है ।

सम्बन्ध—

अब राजसी बुद्धिके लक्षण बताते हैं ।

श्लोक—

यया धर्ममधर्मं च कार्यं चाकार्यमेव च ।
अयथावत्प्रजानाति बुद्धिः सा पार्थ राजसी ॥ ३१ ॥

व्याख्या—

'यया धर्ममधर्मं च'—शास्त्रोंने जो कुछ भी विधान किया है, वह 'धर्म' है अर्थात् शास्त्रोंने जिसकी आज्ञा दी है और जिससे परलोकमें सद्गति होती है, वह धर्म है । शास्त्रोंने जिसका निषेध किया है, वह 'अधर्म' है अर्थात् शास्त्रोंने जिसकी आज्ञा नहीं दी है और जिससे परलोकमें दुर्गति होती है, वह अधर्म है । जैसे, अपने माता-पिता, बड़े-बूढ़ोंकी सेवा करनेमें, दूसरोंको सुख पहुँचानेमें दूसरोंका हित करनेकी चेष्टामें, अपने तन, मन, धन, योग्यता, पद, अधिकार, सामर्थ्य आदिको लगा देना **'धर्म'** है । ऐसे ही कुआँ-बावड़ी खुदवाना, धर्मशाला-औषधालय बनवाना, प्याऊ-सदावर्त चलाना; देश, ग्राम, मोहल्लेके अनाथ तथा गरीब बालकोंकी और समाजकी

उन्नतिके लिये अपनी कहलानेवाली चीजोंको आवश्यकतानुसार उनकी ही समझकर निष्कामभावसे उदारतापूर्वक खर्च करना 'धर्म' है। इसके विपरीत अपने स्वार्थ, सुख, आरामके लिये दूसरोंकी धन-सम्पत्ति, हक, पद, अधिकार छीनना; दूसरोंका अपकार, अहित, हत्या आदि करना; अपने तन, मन, धन, योग्यता, पद, अधिकार आदिके द्वारा दूसरेको दुःख देना 'अधर्म' है।

वास्तवमें धर्म वह है, जो जीवका कल्याण कर दे; और अधर्म वह है, जो जीवको बन्धनमें डाल दे।

'कार्यं चाकार्यमेव च'—वर्ण, आश्रम, देश, काल, लोक-मर्यादा, परिस्थिति आदिके अनुसार शास्त्रोंने हमारे लिये जिस कर्मको करनेकी आज्ञा दी है, वह कर्म हमारे लिये 'कर्तव्य' है। अवसरपर प्राप्त हुए कर्तव्यका पालन न करना तथा न करनेलायक कामको करना 'अकर्तव्य' है। जैसे, भिक्षा माँगना, यज्ञ, विवाह आदि कराना और उनमें दान-दक्षिणा लेना आदि काम ब्राह्मणके लिये तो कर्तव्य हैं, पर क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रके लिये अकर्तव्य हैं। इसी प्रकार शास्त्रोंने जिन-जिन वर्ण और आश्रमोंके लिये जो-जो कर्म बताये हैं, वे सब उन-उनके लिये कर्तव्य हैं; और जिनके लिये निषेध किया है, उनके लिये वे सब अकर्तव्य हैं।

जहाँ नौकरी करते हैं, वहाँ ईमानदारीसे अपना पूरा समय देना, कार्यको सुचारुरूपसे करना, जिस तरहसे मालिकका हित हो, ऐसा काम करना—ये सब कर्मचारियोंके लिये 'कर्तव्य' हैं। अपने स्वार्थ, सुख और आराममें फँसकर कार्यमें पूरा समय न लगाना,

इनके वास्तविक तत्त्वको जानना क्या है? प्रवृत्ति-निवृत्ति, कार्य-अकार्य, भय-अभय और बन्ध-मोक्ष—इनको गहरी रीतिसे समझकर, जिसके साथ वास्तवमें हमारा सम्बन्ध नहीं है, उस संसारके साथ सम्बन्ध न मानना और जिसके साथ हमारा स्वतः सिद्ध सम्बन्ध है, ऐसे (प्रवृत्ति-निवृत्ति आदिके आश्रय तथा प्रकाशक) परमात्माको तत्त्वसे ठीक-ठीक जानना—यही सात्त्विक बुद्धिके द्वारा वास्तविक तत्त्वको ठीक-ठीक जानना है।

सम्बन्ध—

अब राजसी बुद्धिके लक्षण बताते हैं।

श्लोक—

यया धर्ममधर्मं च कार्यं चाकार्यमेव च।
अयथावत्प्रजानाति बुद्धिः सा पार्थ राजसी॥ ३१॥

व्याख्या—

'यया धर्ममधर्मं च'—शास्त्रोंने जो कुछ भी विधान किया है और जि

वह 'धर्म' है अर्थात् शास्त्रोंने जिसकी आज्ञा दी है और जि

परलोकमें सद्गति होती है, वह धर्म है। शास्त्रोंने जिसका नि

किया है, वह 'अधर्म' है अर्थात् शास्त्रोंने जिसकी आज्ञा नहीं दी है और जिससे परलोकमें दुर्गति होती है, वह अधर्म है। जैसे, अपने माता-पिता, बड़े-बूढ़ोंकी सेवा करनेमें, दूसरोंको सुख पहुँचानेमें, दूसरोंका हित करनेकी चेष्टामें, अपने तन, मन, धन, योग्यता, पद, अधिकार, सामर्थ्य आदिको लगा देना 'धर्म' है। ऐसे ही कुआँ-बावड़ी खुदवाना, धर्मशाला-औषधालय बनवाना, प्याऊ-सदावर्त चलाना; देश, ग्राम, मोहल्लेके अनाथ तथा गरीब बालकोंकी और समाजकी

उन्नतिके लिये अपनी कहलानेवाली चीजोंको आवश्यकतानुसार उनकी ही समझकर निष्कामभावसे उदारतापूर्वक खर्च करना 'धर्म' है। इसके विपरीत अपने स्वार्थ, सुख, आरामके लिये दूसरोंकी धन-सम्पत्ति, हक, पद, अधिकार छीनना; दूसरोंका अपकार, अहित, हत्या आदि करना; अपने तन, मन, धन, योग्यता, पद, अधिकार आदिके द्वारा दूसरोंको दुःख देना 'अधर्म' है।

वास्तवमें धर्म वह है, जो जीवका कल्याण कर दे; और अधर्म वह है, जो जीवको बन्धनमें डाल दे।

'कार्यं चाकार्यमेव च'—वर्ण, आश्रम, देश, काल, लोक-मर्यादा, परिस्थिति आदिके अनुसार शास्त्रोंने हमारे लिये जिस कर्मको करनेकी आज्ञा दी है, वह कर्म हमारे लिये 'कर्तव्य' है। अवसरपर प्राप्त हुए कर्तव्यका पालन न करना तथा न करनेलायक कामको करना 'अकर्तव्य' है। जैसे, भिक्षा माँगना, यज्ञ, विवाह आदि कराना और उनमें दान-दक्षिणा लेना आदि कर्म ब्राह्मणके लिये तो कर्तव्य हैं, पर क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रके लिये अकर्तव्य है। इसी प्रकार शास्त्रोंने जिन-जिन वर्ण और आश्रमोंके लिये जो-जो कर्म बताये हैं, वे सब उन-उनके लिये कर्तव्य हैं; और जिनके लिये निषेध किया है, उनके लिये वे सब अकर्तव्य हैं।

जहाँ नौकरी करते हैं, वहाँ ईमानदारीसे अपना पूरा समय देना, कार्यको सुचारुरूपसे करना, जिस तरहसे मालिकका हित हो, ऐसा काम करना—ये सब कर्मचारियोंके लिये 'कर्तव्य' है। अपने स्वार्थ, सुख और आराममें फँसकर कार्यमें पूरा समय न लगाना,

कार्यको तत्परतासे न करना, थोड़ी-सी घूस (रिश्वत) मिलनेसे मालिकका बड़ा नुकसान कर देना, दस-पाँच रुपयोंके लिये मालिकका अहित कर देना—ये सब कर्मचारियोंके लिये 'अकर्तव्य' हैं।

राजकीय जितने अफसर हैं, उनको राज्यका प्रबन्ध करनेके लिये, सबका हित करनेके लिये ही ऊँचे पदपर रखा जाता है। इस वास्ते अपने स्वार्थ और अभिमानका त्याग करके जिस प्रकार सब लोगोंका हित हो सकता है, सबको सुख-आराम, शान्ति मिल सकती है—ऐसे कामोंको करना उनके लिये 'कर्तव्य' है। अपने तुच्छ स्वार्थमें आकर राज्यका नुकसान कर देना, लोगोंको दुःख देना आदि उनके लिये 'अकर्तव्य' है।

सात्त्विक बुद्धिमें कही हुई प्रवृत्ति-निवृत्ति, भय-अभय और बन्ध-मोक्षको भी यहाँ 'एव च' पदोंसे ले लेना चाहिये।

'अयथावत्प्रजानाति'—राग होनेसे राजसी बुद्धिमें स्वार्थ, पक्षपात, विषमता आदि दोष आ जाते हैं। इन दोषोंके रहते हुए बुद्धि धर्म-अधर्म, कार्य-अकार्य, भय-अभय, बन्ध-मोक्ष आदिके वास्तविक तत्त्वको ठीक-ठीक नहीं जान सकती। इस प्रकार किस वर्ण-आश्रमके लिये किस परिस्थितिमें कौन-सा धर्म कहा जाता है और कौन-सा अधर्म कहा जाता है? वह धर्म किस वर्ण-आश्रमके लिये कर्तव्य हो जाता है और किसके लिये अकर्तव्य हो जाता है? किससे भय होता है और किससे मनुष्य अभय हो जाता है? इन बातोंको जो बुद्धि ठीक-ठीक नहीं जान सकती, वह बुद्धि राजसी है—**'बुद्धिः सा पार्थ राजसी।'**

जब सांसारिक वस्तु, व्यक्ति, घटना, परिस्थिति, क्रिया, पदार्थ आदिमें राग (आसक्ति) हो जाता है, तो वह राग दूसरोंके प्रति द्वेष पैदा करनेवाला हो जाता है। फिर मनुष्य जिसमें राग हो जाता है, उसके दोषोंको और जिसमें द्वेष हो जाता है, उसके गुणोंको नहीं देख सकता। राग और द्वेष—इन दोनोंसे संसारके साथ सम्बन्ध जुड़ता है। संसारके साथ सम्बन्ध जुड़नेपर मनुष्य संसारको नहीं जान सकता। ऐसे ही परमात्मासे अलग रहनेपर मनुष्य परमात्माको नहीं जान सकता। संसारसे अलग होकर ही संसारको जान सकता है और परमात्मासे अभिन्न होकर ही परमात्माको जान सकता है। वह अभिन्नता चाहे प्रेमसे हो, चाहे ज्ञानसे हो।

परमात्मासे अभिन्न होनेमें सात्त्विक बुद्धि ही काम करती है; क्योंकि सात्त्विक बुद्धिमें विवेकशक्ति जाग्रत रहती है। परंतु राजसी बुद्धिमें वह विवेकशक्ति रागके कारण धुँधली-सी रहती है। जैसे जलमें मिट्टी घुल जानेसे जलमें स्वच्छता, निर्मलता नहीं रहती, ऐसे ही बुद्धिमें रजोगुण आ जानेसे बुद्धिमें उतनी स्वच्छता, निर्मलता नहीं रहती। इस वास्ते धर्म-अधर्म आदिके समझनेमें कठिनता पड़ती है। राजसी बुद्धि होनेपर मनुष्य जिस-किसी विषयमें प्रवेश करता है, उसको उस विषयको समझनेमें कठिनता पड़ती है। उस विषयके गुण-दोषोंको ठीक-ठीक समझे बिना वह ग्रहण और त्यागको अपने आचरणमें नहीं ला सकता अर्थात् वह ग्राह्य वस्तुका ग्रहण नहीं कर सकता और त्याज्य वस्तुका त्याग नहीं कर सकता।

नहीं होगा, भारत परतन्त्रताकी बेड़ीमें ही जकड़ा हुआ रहेगा' आदि-आदि। इस वास्ते वे मर्यादाओंको तोड़नेमें ही धर्म मानते हैं।

'सर्वार्थान्विपरीतांश्च'—आत्माको स्वरूप न मानकर शरीरको ही स्वरूप मानना; ईश्वरको न मान करके दृश्य जगत्‌को ही सच्चा मानना, दूसरोंको तुच्छ समझकर अपनेको ही सबसे बड़ा मानना; दूसरोंको मूर्ख समझकर अपनेको ही पढ़ा-लिखा, विद्वान् समझना; जितने सन्त-महात्मा हो गये हैं, उनकी मान्यताओंसे अपनी मान्यताको श्रेष्ठ मानना; सच्चे सुखकी तरफ ध्यान न देकर वर्तमानमें मिलनेवाले संयोगजन्य सुखको ही सच्चा मानना; न करनेयोग्य कार्यको ही अपना कर्तव्य समझना, अपवित्र वस्तुओंको ही पवित्र मानना—यह सम्पूर्ण चीजोंको उलटा मानना है।

'बुद्धिः सा पार्थ तामसी'—तमोगुणसे आवृत जो बुद्धि अधर्मको धर्म, धर्मको अधर्म और अच्छेको बुरा, बुरेको अच्छा मानती है, वह बुद्धि तामसी है। यह तामसी बुद्धि ही मनुष्यको अधोगतिमें ले जानेवाली है—**'अधो गच्छन्ति तामसाः'** (गीता १४।१८)। इस वास्ते अपना उद्धार चाहनेवालेको इसका सर्वथा त्याग कर देना चाहिये।

सम्बन्ध—

अब सात्त्विकी धृतिके लक्षण बताते हैं।

श्लोक—

धृत्या यया धारयते मनःप्राणेन्द्रियक्रियाः।
योगेनाव्यभिचारिण्या धृतिः सा पार्थ सात्त्विकी॥

सम्बन्ध—

अब तामसी बुद्धिके लक्षण बताते हैं।

श्लोक—

अधर्मं धर्ममिति या मन्यते तमसावृता।
सर्वार्थान्विपरीतांश्च बुद्धिः सा पार्थ तामसी ॥ ३२ ॥

व्याख्या—

'अधर्मं धर्ममिति'—ईश्वरकी निन्दा करना; शास्त्र, वर्ण, आश्रम और लोकमर्यादाके विपरीत काम करना; माता-पिताके साथ अच्छा बर्ताव न करना; सन्त-महात्मा, गुरु-आचार्य आदिका अपमान करना; झूठ, कपट, बेईमानी, जालसाजी, अभक्ष्य-भोजन, परस्त्रीगमन आदि शास्त्रनिषिद्ध पाप-कर्मोंको धर्म मानना—यह सब अधर्मको धर्म मानना है।

अपने शास्त्र, वर्ण, आश्रमकी मर्यादामें चलना; माता-पिताकी आज्ञाका पालन करना तथा उनकी तन-मन-धनसे सेवा करना; सन्त-महात्माओंके उपदेशोंके अनुसार अपना जीवन बनाना; धार्मिक ग्रन्थोंका पठन-पाठन करना; दूसरोंकी सेवा-उपकार करना; शुद्ध-पवित्र भोजन करना आदि शास्त्रविहित कर्मोंको उचित न मानना—यह धर्मको 'अधर्म' मानना है।

तामसी बुद्धिवाले पुरुषोंके विचार होते हैं कि 'शास्त्रकारोंने, ब्राह्मणोंने अपनेको बड़ा बता दिया और तरह-तरहके नियम बनाकर लोगोंको बाँध दिया, जिससे भारत परतन्त्र हो गया; जबतक ये शास्त्र रहेंगे, ये धार्मिक पुस्तकें रहेंगी, तबतक भारतका उत्थान

नहीं होगा, भारत परतन्त्रताकी बेड़ीमें ही जकड़ा हुआ रहेगा' आदि-आदि। इस वास्ते वे मर्यादाओंको तोड़नेमें ही धर्म मानते हैं।

'सर्वार्थान्विपरीतांश्च'—आत्माको स्वरूप न मानकर शरीरको ही स्वरूप मानना; ईश्वरको न मान करके दृश्य जगत्‌को ही सच्चा मानना; दूसरोंको तुच्छ समझकर अपनेको ही सबसे बड़ा मानना; दूसरोंको मूर्ख समझकर अपनेको ही पढ़ा-लिखा, विद्वान् समझना; जितने सन्त-महात्मा हो गये हैं, उनकी मान्यताओंसे अपनी मान्यताको श्रेष्ठ मानना; सच्चे सुखकी तरफ ध्यान न देकर वर्तमानमें मिलनेवाले संयोगजन्य सुखको ही सच्चा मानना; न करनेयोग्य कार्यको ही अपना कर्तव्य समझना; अपवित्र वस्तुओंको ही पवित्र मानना—यह सम्पूर्ण चीजोंको उल्टा मानना है।

'बुद्धिः सा पार्थ तामसी'—तमोगुणसे आवृत जो बुद्धि अधर्मको धर्म, धर्मको अधर्म और अच्छेको बुरा, सुलटेको उल्टा मानती है, वह बुद्धि तामसी है। यह तामसी बुद्धि ही मनुष्यको अधोगतिमें ले जानेवाली है—**'अधो गच्छन्ति तामसाः'** (गीता १४। १८)। इस वास्ते अपना उद्धार चाहनेवालेको इसका सर्वथा त्याग कर देना चाहिये।

सम्बन्ध—

अब सात्त्विकी धृतिके लक्षण बताते हैं।

श्लोक—

धृत्या यया धारयते मनःप्राणेन्द्रियक्रियाः।
योगेनाव्यभिचारिण्या धृतिः सा पार्थ सात्त्विकी ॥

व्याख्या—

'योगेनाव्यभिचारिण्या यया धृत्या'—सांसारिक लाभ-हानि, जय-पराजय, सुख-दुःख, आदर-निरादर, सिद्धि-असिद्धिमें सम रहनेका नाम 'योग' (समता) है।

परमात्माको चाहनेके साथ-साथ इस लोकमें सिद्धि, प्रसिद्धि, वस्तु, पदार्थ, सत्कार, पूजा आदि और परलोकमें सुख-भोग चाहनेका नाम 'व्यभिचार' है; और इस लोक तथा परलोकके सुख, भोग, वस्तु, पदार्थ आदिकी किञ्चिन्मात्र भी इच्छा न रखकर केवल परमात्माको चाहना 'अव्यभिचार' है। यह अव्यभिचार जिसमें होता है, वह धृति 'अव्यभिचारिणी' कहलाती है।

अपनी मान्यता, सिद्धान्त, लक्ष्य, भाव, क्रिया, वृत्ति, विचार आदिको दृढ़, अटल रखनेकी शक्तिका नाम 'धृति' है।

'धारयते मनःप्राणेन्द्रियक्रियाः'—योग अर्थात् समतासे युक्त जिस धृतिके द्वारा मनुष्य मन, प्राण और इन्द्रियोंकी क्रियाओंको धारण करता है।

मनमें राग-द्वेषको लेकर होनेवाले चिन्तनसे रहित होना, मनको जहाँ लगाना चाहें, वहाँ लग जाना और जहाँसे हटाना चाहें, वहाँसे हट जाना आदि धृतिके द्वारा मनकी क्रियाओंको धारण करना है।

प्राणायाम करते हुए रेचकमें पूरक न होना, पूरकमें रेचक न होना और बाह्य कुम्भकमें पूरक न होना तथा आभ्यन्तर कुम्भकमें

व्याख्या—

'योगेनाव्यभिचारिण्या यया धृत्या'—सांसारिक लाभ-हानि, जय-पराजय, सुख-दुःख, आदर-निरादर, सिद्धि-असिद्धिमें सम रहनेका नाम 'योग' (समता) है।

परमात्माको चाहनेके साथ-साथ इस लोकमें सिद्धि, प्रसिद्धि, वस्तु, पदार्थ, सत्कार, पूजा आदि और परलोकमें सुख-भोग चाहनेका नाम 'व्यभिचार' है; और इस लोक तथा परलोकके सुख, भोग, वस्तु, पदार्थ आदिकी किञ्चिन्मात्र भी इच्छा न रखकर केवल परमात्माको चाहना 'अव्यभिचार' है। यह अव्यभिचार जिसमें होता है, वह धृति 'अव्यभिचारिणी' कहलाती है।

अपनी मान्यता, सिद्धान्त, लक्ष्य, भाव, क्रिया, वृत्ति, विचार आदिको दृढ़, अटल रखनेकी शक्तिका नाम 'धृति' है।

'धारयते मनःप्राणेन्द्रियक्रियाः'—योग अर्थात् समतासे युक्त जिस धृतिके द्वारा मनुष्य मन, प्राण और इन्द्रियोंकी क्रियाओंको धारण करता है।

मनमें राग-द्वेषको लेकर होनेवाले चिन्तनसे रहित होना, मनको जहाँ लगाना चाहें, वहाँ लग जाना और जहाँसे हटाना चाहें, वहाँसे हट जाना आदि धृतिके द्वारा मनकी क्रियाओंको धारण करना है।

प्राणायाम करते हुए रेचकमें पूरक न होना, पूरकमें रेचक न होना और बाह्य कुम्भकमें पूरक न होना तथा आभ्यन्तर कुम्भकमें

वक न होना अर्थात् प्राणायामके नियमसे विरुद्ध श्वास-प्रश्वासोंका होना ही धृतिके द्वारा प्राणोंकी क्रियाओंको धारण करना है।

शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध—इन विषयोंको लेकर इन्द्रियोंकी क्रियाओंका उच्छृङ्खल न होना, जिस विषयमें जैसे प्रवृत्त होना चाहे, उसमें प्रवृत्त होना और जिस विषयसे निवृत्त होना चाहे, उससे निवृत्त होना ही धृतिके द्वारा इन्द्रियोंकी क्रियाओंको धारण करना है।

'धृतिः सा पार्थ सात्त्विकी'—जिस धृतिसे मन, प्राण और इन्द्रियोंकी क्रियाओंपर आधिपत्य हो जाता है, हे पार्थ! वह धृति सात्त्विकी है।

सम्बन्ध—

अब राजसी धृतिके लक्षण बताते हैं।

श्लोक—

यया तु धर्मकामार्थान्धृत्या धारयतेऽर्जुन।
प्रसङ्गेन फलाकाङ्क्षी धृतिः सा पार्थ राजसी॥ ३४॥

व्याख्या—

'यया तु धर्मकामार्थान्धृत्या धारयतेऽर्जुन'—राजस पुरुष जिस धारणा-शक्तिसे अपनी कामना-पूर्तिके लिये धर्मका अनुष्ठान करता है, काम अर्थात् भोग-पदार्थोंको भोगता है और अर्थ अर्थात् धनका संग्रह करता है।

धर्म, काम और अर्थको धारण करना क्या है?

अमावस्या, पूर्णिमा, व्यतिपात आदि अवसरोंपर दान देना; तीर्थोंमें अन्नदान करना; पर्वोंपर उत्सव मनाना; तीर्थ-यात्रा करना;

धार्मिक संस्थाओंमें चन्दा-चिट्ठाके रूपमें कुछ चढ़ा देना; कभी वक्तपर कथा-कीर्तन, भागवत-सप्ताह आदि करवा लेना—यह सब केवल कामना-पूर्तिके लिये करना ही धर्मको धारण करना है ।*

सांसारिक भोग-पदार्थ तो प्राप्त होने ही चाहिये; क्योंकि भोग-पदार्थोंसे ही सुख मिलता है; संसारमें कोई भी प्राणी ऐसा नहीं है, जो भोग-पदार्थोंकी कामना न करता हो; यदि मनुष्य भोगोंकी कामना न करे तो उसका जीवन ही व्यर्थ है—ऐसी धारणाके साथ भोग-पदार्थोंकी कामनापूर्तिमें ही लगे रहना कामको धारण करना है ।

धनके बिना दुनियामें किसीका भी काम नहीं चलता; धनसे ही धर्म होता है; यदि पासमें धन न हो तो आदमी धर्म कर ही नहीं सकता; जितने आयोजन किये जाते हैं, वे सब धनसे ही तो होते हैं; आज जितने आदमी बड़े कहलाते हैं, वे सब धनके कारण ही तो बड़े बने हैं; धन होनेसे ही लोग आदर-सम्मान करते हैं; जिसके पास धन नहीं होता, उसको संसारमें कोई पूछता ही नहीं; इस वास्ते धनका खूब संग्रह करना चाहिये—इस प्रकार धनमें ही रचे-पचे रहना अर्थको धारण करना है ।

* धर्मका अनुष्ठान धनके लिये किया जाय और धनका खर्चा धर्मके लिये किया जाय, तो धर्मसे धन और धनसे धर्म—दोनों परस्पर बढ़ते रहते हैं । परन्तु धर्मका अनुष्ठान और धनका खर्चा केवल कामना-पूर्तिके लिये ही किया जाय तो धर्म (पुण्य) और धन—दोनों ही कामनापूर्ति करके नष्ट हो जाते हैं ।

'प्रसङ्गेन फलाकाङ्क्षी'—संसारमें राग होनेके कारण राजस पुरुष जो कुछ भी शुभ काम करता है, उसमें उसकी यही कामना रहती है कि इस कर्मका मुझे इस लोकमें सुख, आराम, मान, सत्कार आदि मिलें और परलोकमें सुख-भोग मिले। ऐसे फलकी कामनावाले तथा संसारमें अत्यन्त आसक्त पुरुषकी धारणाशक्ति राजसी होती है—'धृतिः सा पार्थ राजसी'।

सम्बन्ध—

अब तामसी धृतिके लक्षण बताते हैं।

श्लोक—

यया स्वप्नं भयं शोकं विषादं मदमेव च।
न विमुञ्चति दुर्मेधा धृतिः सा पार्थ तामसी ॥ ३५ ॥

व्याख्या—

भगवान्‌ने तैंतीसवें-चौंतीसवें श्लोकोंमें 'धारयते' पदसे सात्त्विक और राजस पुरुषके द्वारा क्रमशः सात्त्विकी और राजसी धृतिको धारण करनेकी बात कही है; परंतु यहाँ तामस पुरुषके द्वारा तामसी धृतिको धारण करनेकी बात नहीं कही। कारण यह है कि जिसकी बुद्धि बहुत ही दुष्ट है, जिसकी बुद्धिमें अज्ञता, मूढ़ता भरी हुई है, ऐसा मलिन अन्तःकरणवाला तामस पुरुष निद्रा, भय, शोक आदि भावोंको छोड़ता ही नहीं।

'यया स्वप्नं भयं शोकं विषादं मदमेव च'—तामसी धारणा-शक्तिके द्वारा मनुष्य ज्यादा निद्रा, बाहर और भीतरका भय, चिन्ता, दुःख और घमण्ड—इनका त्याग नहीं करता, प्रत्युत इन सबमें

रचा-पचा रहता है। वह कभी ज्यादा नींदमें पड़ा रहता है, कभी मृत्यु, बीमारी, अपयश, अपमान, स्वास्थ्य, धन आदिके भयसे भयभीत होता रहता है, कभी शोक-चिन्तामें डूबा रहता है, कभी दुःखमें मग्न रहता है और कभी अनुकूल पदार्थोंके मिलनेसे घमण्डमें चूर रहता है।

निद्रा, भय, शोक आदिके सिवाय प्रमाद, अभिमान, दम्भ, द्वेष, ईर्ष्या आदि दुर्गुणोंको तथा हिंसा, दूसरोंका अपकार करना, कष्ट देना, दूसरोंके धनका किसी तरहसे अपहरण करना आदि दुराचारोंको भी **'एव च'** पदोंसे मान लेना चाहिये।

'न विमुञ्चति दुर्मेधा धृतिः सा पार्थ तामसी'—इस प्रकार निद्रा, भय आदिको और दुर्गुण-दुराचारोंको पकड़े रहनेवाली अर्थात् न छोड़नेवाली धृति तामसी होती है।

मानवशरीर विवेक-प्रधान है। मनुष्य जो कुछ करता है, उसे वह विचारपूर्वक ही करता है। वह ज्यों ही विचारपूर्वक काम करता है, त्यों ही विवेक ज्यादा स्पष्ट प्रकट होता है। सात्त्विक पुरुषकी धृति-(धारणाशक्ति-)में यह विवेक साफ-साफ प्रकट होता है कि मुझे तो केवल परमात्माकी तरफ ही चलना है। राजस पुरुषकी धृतिमें संसारके पदार्थों और भोगोंमें रागकी प्रधानता होनेके कारण विवेक वैसा स्पष्ट नहीं होता; फिर भी इस लोकमें सुख-आराम, मान-आदर मिले और परलोकमें अच्छी गति मिले, भोग मिलें—इस विषयमें विवेक काम करता है। परन्तु तामस पुरुषकी धृतिमें विवेक बिल्कुल ही दब जाता है। तामसी

भावोंमें उसकी इतनी दृढ़ता हो जाती है कि उसे उन भावोंको धारण करनेकी आवश्यकता ही नहीं रहती। वह तो निद्रा, भय आदि तामसी भावोंमें ही रचा-पचा रहता है।

पारमार्थिक मार्गमें क्रिया इतना काम नहीं करती, जितना अपना उद्देश्य काम करता है। क्रियाकी प्रधानता स्थूलशरीरमें, चिन्तनकी प्रधानता सूक्ष्मशरीरमें और स्थिरताकी प्रधानता कारणशरीरमें होती है, यह सब क्रिया ही है। क्रिया शरीरोंमें होती है, पर 'मेरेको तो केवल पारमार्थिक मार्गमें ही चलना है'—ऐसा उद्देश्य या लक्ष्य स्वयं-(चेतनस्वरूप-) में ही रहता है। स्वयंमें जैसा लक्ष्य होता है, उसके अनुसार स्वतः क्रियाएँ होती हैं। जो चीज स्वयंमें रहती है, वह कभी बदलती नहीं। उस लक्ष्यकी दृढ़ताके लिये सात्त्विक बुद्धिकी आवश्यकता है और बुद्धिके निश्चयको अटल रखनेके लिये सात्त्विक धृतिकी आवश्यकता है। इस वास्ते यहाँ तीसवेंसे पैंतीसवें श्लोकतकके छः श्लोकोंमें छः बार 'पार्थ' सम्बोधनका प्रयोग करके भगवान् मनुष्यमात्रके प्रतिनिधि अर्जुनको मानो चेताते हैं कि 'पृथानन्दन! लौकिक वस्तुओं और व्यक्तियोंके लिये चिन्ता न करके तुम अपने लक्ष्यको दृढ़तासे धारण किये रहो। अपनेमें कभी भी राजसी-तामसी भाव न आने पायें—इसके लिये निरन्तर सजग रहो!'

भगवान्‌ने पहले भी इसी व्यवसायात्मिका बुद्धिकी बड़ी प्रशंसा की है। दूसरे अध्यायके इकतालीसवें श्लोकमें कर्मयोगीके लिये, छठे अध्यायके पचीसवें श्लोकमें ध्यानयोगीके लिये, नवें

अध्यायके तीसवें-इकतीसवें श्लोकोंमें भक्तियोगीके लिये, और इसी
अध्यायके तीसवें तथा तैंतीसवें श्लोकमें (बुद्धि और धृतिके नामसे)
सांख्ययोगीके लिये व्यवसायात्मिका बुद्धिकी बात कही गयी है।
आगे इक्यावनवें श्लोकमें भी कहेंगे—**'बुद्ध्या विशुद्धया युक्तो धृत्यात्मानं नियम्य च'** (गीता १८। ५१)।

सम्बन्ध—

मनुष्योंकी कर्मोंमें प्रवृत्ति सुखके लोभसे ही होती है अर्थात् सुख कर्म-संग्रहमें हेतु है। इस वास्ते अगले चार श्लोकोंमें सुखके भेद बताते हैं।

श्लोक—

सुखं त्विदानीं त्रिविधं शृणु मे भरतर्षभ।
अभ्यासाद्रमते यत्र दुःखान्तं च निगच्छति ॥ ३६ ॥

व्याख्या

'सुखं तु इदानीम्'—ज्ञान, कर्म, कर्ता, बुद्धि और धृतिके तीन-तीन भेद बताकर यहाँ 'तु' पदका प्रयोग करके भगवान् कहते हैं कि सुख भी तीन तरहका होता है। इसमें यह विशेष ख्याल करनेकी बात है कि आज पारमार्थिक मार्गपर चलनेवाले जितने भी साधक हैं, उन साधकोंकी ऊँची स्थिति न होनेमें अथवा उनको परमात्मतत्त्वका अनुभव न होनेमें अगर कोई विघ्न-बाधा है, तो वह है—सुखकी इच्छा।

सात्त्विक सुख भी आसक्तिके कारण बन्धनकारक हो जाता है। तात्पर्य यह कि अगर साधनजन्य—ध्यान और एकाग्रताका सुख भी लिया जाय, तो वह भी बन्धनकारक हो जाता है। इतना ही

नहीं, अगर समाधिका सुख भी लिया जाय, तो वह भी परमात्मतत्त्वकी प्राप्तिमें बाधक हो जाता है—'सुखसङ्गेन बध्नाति' (गीता १४ । ६) । इस विषयमें कोई कहे कि परमात्मतत्त्वका सुख आ जाय तो क्या उस सुखको भी हम न लें ? वास्तवमें परमात्मतत्त्वका सुख लिया नहीं जाता, प्रत्युत उस अक्षय सुखका स्वतः अनुभव होता है* । साधनजन्य सुखका भोग न करनेसे वह अक्षय सुख स्वतः-स्वाभाविक प्राप्त हो जाता है । उस अक्षय सुखकी तरफ विशेष ख्याल करानेके लिये भगवान् यहाँ 'तु' पदका प्रयोग करते हैं ।

यहाँ 'इदानीम्' कहनेका तात्पर्य यह है कि अर्जुन संन्यास और त्यागके तत्त्वको जानना चाहते हैं; अतः उनकी जिज्ञासाके उत्तरमें भगवान्‌ने त्याग, ज्ञान, कर्म, कर्ता, बुद्धि और धृतिके तीन-तीन भेद बताये । परंतु इन सबमें ध्येय तो सुखका ही रहता है । अब उसी ध्येयकी सिद्धिके लिये सुखके भेद सुनो ।

'त्रिविधं शृणु मे भरतर्षभ'—लोग रात-दिन राजसी और तामसी सुखमें लगे रहते हैं और उसीको वास्तविक सुख मानते हैं । इस कारण 'सांसारिक भोगोंसे ऊँचा उठकर भी कोई सुख मिल सकता है; प्रमादसे मोहसे ऊँचा उठकर भी कोई सुख मिल सकता है; शरीरके सम्बन्धके बिना भी कोई सुख मिल सकता है; राजस-तामस सुखसे आगे भी कोई सात्त्विक सुख है'—ये बातें उन

* स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा सुखमक्षयमश्नुते ॥ (गीता ५ । २१)
सुखमात्यन्तिकं यत्तद्बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम् । (गीता ६ । २१)
सुखेन ब्रह्मसंस्पर्शमत्यन्तं सुखमश्नुते ॥ (गीता [illegible])

लोगोंकी समझमें ही नहीं आतीं और वे इन बातोंको समझ ही नहीं सकते । इस वास्ते भगवान् मानो कहते हैं कि. भैया ! वह सुख तीन प्रकारका होता है, उसे तुम सुनो और उनमेंसे सात्त्विक सुखका ग्रहण करो और राजस-तामस सुखका त्याग करो । कारण कि सात्त्विक सुख परमात्माकी तरफ चलनेमें सहायता करनेवाला है और राजस-तामस सुख संसारमें फँसाकर पतन करनेवाले हैं ।

'भरतर्षभ'—सम्बोधन देनेमें भगवान्‌का भाव यह है कि भरत-वंशियोंमें श्रेष्ठ अर्जुन ! तुम राजस-तामस सुखमें लुब्ध, मोहित होनेवाले नहीं हो; क्योंकि तुम्हारे लिये राजस और तामस सुखोंपर विजय करना कोई बड़ी बात नहीं है । तुमने राजस सुखपर विजय भी कर ली है; क्योंकि स्वर्गकी उर्वशी-जैसी सुन्दरी अप्सराको भी तुमने ठुकरा दिया है । इसी प्रकार तुमने तामस सुखपर भी विजय कर ली है; क्योंकि प्राणिमात्रके लिये आवश्यक जो निद्राका तामस सुख है, उसको तुमने जीत लिया है । इसीसे तुम्हारा नाम 'गुडाकेश' हुआ है ।

राजस सुखका त्याग तो हरेक मनुष्य कर सकता है, पर तामस सुख अर्थात् निद्राका त्याग करना सबके लिये बड़ा कठिन है । यद्यपि नींदका सुख तामस माना गया है*, तथापि उस सुखमें एक

* निद्राको तामस सुख कहनेका अभिप्राय यह है कि इसमें बुद्धि मोहित हो जाती है अर्थात् उसमें बेहोशी आ जाती है । उस बेहोशीसे संसारकी सर्वथा विस्मृति हो जाती है और जाग्रत्-अवस्था सर्वथा दब जाती है, इस वास्ते इसको तामस-सुख कहा गया है । अगर इन्द्रियोंसहित बुद्धि मोहित न हो तो यही अवस्था समाधि हो जाती है । समाधिसे भी विश्राम

विश्राम मिलता है । विश्रामसे बुद्धि आदिमें एक ताजगी आती है। स्थूलशरीरका स्वास्थ्य भी अच्छा होता है । उस ताजगीके कारण सभी काम ढंगसे होते हैं, और वह ताजगी सात्त्विक कार्योंमें सहायक भी होती है । उस नींदके सुखपर भी अर्जुन विजय कर लेते हैं। इसी दृष्टिको लेकर भगवान् यहाँ अर्जुनके लिये 'भरतर्षभ' सम्बोधन-का प्रयोग करते हैं ।

'अभ्यासाद्रमते यत्र'— सात्त्विक सुखमें अभ्याससे रमण होता है । साधारण मनुष्योंको अभ्यासके बिना इस सुखका अनुभव नहीं होता । राजस-तामस सुखमें अभ्यास नहीं करना पड़ता । उसमें तो प्राणिमात्रका स्वतः-स्वाभाविक ही आकर्षण होता है ।

राजस-तामस सुखमें इन्द्रियोंका विषयोंकी ओर, मन-बुद्धिका भोग-संग्रहकी ओर और थकावट होनेपर निद्रा आदिकी ओर स्वतः आकर्षण होता है । विषयजन्य, अभिमानजन्य, प्रशंसाजन्य और

मिलता है । इस विश्राममें निद्रासे मिलनेवाली जो ताजगी है, वह मिल जाती है; परंतु इस ताजगीका सुख लेनेसे गुणातीत नहीं होता । गुणातीत तो समाधिके सुखसे असङ्ग होनेसे ही होता है ।

प्रकृति क्रियाशील, परिवर्तनशील है और परमात्मतत्त्व अपरिवर्तन-शील, निर्विकार, शान्त, निश्चल है । निद्रावस्थामें उस निश्चल तत्त्वमें स्थिति हो जाती है; परंतु अन्तःकरणमें भोगोंका महत्त्व रहनेसे निद्राके बाद मनुष्यकी फिर भोग और संग्रहमें ही रुचि हो जाती है और वह उसीमें लग जाता है । इस प्रकार रागके कारण प्राणी उस निश्चल तत्त्वसे लाभ नहीं ले सकता और निद्रासे केवल थकावट दूर कर लेता है । अगर वह भोग और ऐश्वर्यकी आसक्तिका सर्वथा त्याग कर दे तो निद्रामें और निद्राके बाद भी स्वरूपमें स्वतः स्वाभाविक अटल स्थिति रहेगी ।

निद्राजन्य सुख सभी प्राणियोंको स्वतः ही अच्छे लगते हैं। कुत्ते आदि जो नीच प्राणी हैं, उनका भी आदर करते हैं तो वे राजी होते हैं और निरादर करते हैं तो नाराज हो जाते हैं, दुःखी हो जाते हैं। तात्पर्य यह है कि राजस-तामस सुखमें अभ्यासकी जरूरत नहीं है; क्योंकि इस सुखको सभी प्राणी अन्य योनियोंमें भी लेते आये हैं।

इस सात्त्विक सुखमें अभ्यास क्या है? श्रवण-मनन भी अभ्यास है, शास्त्रोंको समझना भी अभ्यास है, और राजसी-तामसी वृत्तियोंको हटाना भी अभ्यास है। जिस राजस-तामस सुखमें प्राणिमात्रकी स्वतः-स्वाभाविक प्रवृत्ति हो रही है, उससे भिन्न नई प्रवृत्ति करनेका नाम 'अभ्यास' है, सात्त्विक सुखमें अभ्यास करना तो आवश्यक है, पर रमण करना बाधक है।

यहाँ **'अभ्यासाद्रमते'** पदका यह भाव नहीं है कि सात्त्विक सुखका भोग किया जाय, प्रत्युत सात्त्विक सुखमें अभ्याससे ही रुचि-प्रियता-प्रवृत्ति आदिक होनेको ही यहाँ रमण करना कहा गया है।

'दुःखान्तं च निगच्छति'—उस सात्त्विक सुखमें अभ्याससे ज्यों-ज्यों रुचि, प्रियता बढ़ती जाती है, त्यों-त्यों परिणाममें दुःखोंका नाश होता जाता है और प्रसन्नता, सुख तथा आनन्द बढ़ते जाते हैं।

'च' अव्यय देनेका तात्पर्य है कि जबतक सात्त्विक सुखमें रमण होगा अर्थात् साधक सात्त्विक सुख लेता रहेगा, तबतक दुःखोंका अत्यन्त अभाव नहीं होगा। कारण कि सात्त्विक सुख भी

परमात्मविषयक बुद्धिकी प्रसन्नतासे पैदा हुआ है—'आत्मबुद्धिप्रसादजम्' (गीता १८ । ३७) । तो जो उत्पन्न होनेवाला होता है, वह जरूर नष्ट होता है । ऐसे सुखसे दुःखोंका अन्त कैसे होगा ? इस वास्ते सात्त्विक सुखमें भी आसक्ति नहीं होनी चाहिये । सात्त्विक सुखसे भी ऊँचा उठनेसे मनुष्य दुःखके अन्तको प्राप्त हो जाता है, गुणातीत हो जाता है ।

श्लोक—

यत्तदग्रे विषमिव परिणामेऽमृतोपमम् ।
तत्सुखं सात्त्विकं प्रोक्तमात्मबुद्धिप्रसादजम् ॥ ३७ ॥

व्याख्या—

'यत्तदग्रे विषमिव'—यहाँ 'यत्तदग्रे' कहनेका भाव यह है कि 'यत्'—जो सात्त्विक सुख है, 'तत्'—वह परोक्ष है अर्थात् उसका अभी अनुभव नहीं हुआ है । अभी तो उस सुखका केवल उद्देश्य बनाया है, जब कि राजस-तामस सुखका अभी अनुभव होता है । इस वास्ते अनुभवजन्य राजस-तामस सुखका त्याग करनेमें कठिनता आती है और लक्ष्यरूपमें जो सात्त्विक सुख है, उसकी प्राप्तिके लिये किया हुआ रसहीन परिश्रम (अभ्यास) आरम्भमें जहरकी तरह होता है—'अग्रे विषमिव' तात्पर्य यह है कि अनुभवजन्य राजस-तामस सुखको तो त्याग दिया और लक्ष्यवाला सात्त्विक सुख मिला नहीं —उसका रस अभी मिला नहीं; इस वास्ते वह सात्त्विक सुख आरम्भमें जहरकी तरह प्रतीत होता है ।

राजस-तामस सुखको अनेक योनियोंमें भोगते आये हैं और उसे इस जन्ममें भी भोगा है । उस भोगे हुए सुखकी स...

राजस-तामस सुखमें स्वाभाविक ही मन लग जाता है। परंतु सात्त्विक सुख उतना भोगा हुआ नहीं है; इस वास्ते इसमें जल्दी मन नहीं लगता। इस कारण सात्त्विक सुख आरम्भमें विषकी तरह लगता है।

वास्तवमें सात्त्विक सुख विषकी तरह नहीं है, प्रत्युत राजस-तामस सुखका त्याग विषकी तरह होता है। जैसे, बालकको खेल-कूद छोड़कर पढ़ाईमें लगाया जाय तो उसको पढ़ाईमें कैदीकी तरह होकर अभ्यास करना पड़ता है और उसमें मन नहीं लगता तथा इधर उच्छृङ्खलता, खेल-कूद छूट जाता है तो उसको पढ़ाई विषकी तरह मालूम देती है। परंतु वही बालक पढ़ता रहे और एक-दो परीक्षामें पास हो जाय तो उसका पढ़ाईमें मन लग जाता है अर्थात् उसको पढ़ाई अच्छी लगने लग जाती है। तब उसकी पढ़ाईके अभ्याससे रुचि, प्रियता होने लगती है।

वास्तवमें देखा जाय तो सात्त्विक सुख आरम्भमें विषकी तरह उन्हीं लोगोंके लिये होता है, जिनका राजस-तामस सुखमें राग है। परंतु जिनका सांसारिक भोगोंसे स्वाभाविक वैराग्य है, जिनकी पारमार्थिक शास्त्राध्ययन, सत्सङ्ग, कथा-कीर्तन, साधन-भजन आदिमें स्वाभाविक रुचि है और जिनके ज्ञान, कर्म, बुद्धि और धृति सात्त्विक हैं, उन साधकोंको यह सात्त्विक सुख आरम्भसे ही अमृतकी तरह आनन्द देनेवाला होता है। उनको इसमें कष्ट, परिश्रम, कठिनता आदि मालूम ही नहीं होते।

'परिणामेऽमृतोपमम्'—साधन करनेसे साधकमें सत्त्वगुण आता है। सत्त्वगुणके आनेपर इन्द्रियों और अन्तःकरणमें स्वच्छता,

निर्मलता, ज्ञानकी दीप्ति, शान्ति, निर्विकारता आदि सद्भाव-सद्गुण प्रकट हो जाते हैं*। इन सद्गुणोंका प्रकट होना ही परिणाममें अमृतकी तरह होना है। इसका उपभोग न करनेसे अर्थात् इसमें रस न लेनेसे वास्तविक अक्षय सुखकी प्राप्ति हो जाती है—

बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा विन्दत्यात्मनि यत्सुखम्।
स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा सुखमक्षयमश्नुते॥
(गीता ५। २१)

अर्थात् बाहरके विषयोंमें आसक्तिरहित अन्तःकरणवाला पुरुष जड़ताके त्यागसे होनेवाले परमात्मविषयक सुखको प्राप्त होता है, जो कि सात्त्विक सुख है। उसके बाद परमात्माके सम्बन्धसे युक्त वह पुरुष अक्षय सुखका अनुभव करता है, जो कि गुणातीत है।

परिणाममें सात्त्विक सुख राजस-तामस सुखसे ऊँचा उठाकर जड़तासे सम्बन्ध-विच्छेद करा देता है और इसमें आसक्ति न होनेसे अन्तमें परमात्माकी प्राप्ति करा देता है। इस वास्ते यह परिणाममें अमृतकी तरह है।

'आत्मबुद्धिप्रसादजम्'—जिस बुद्धिमें सांसारिक मान-आदर, बड़ाई, धन-संग्रह, विषयजन्य सुख आदिका महत्त्व नहीं रहता, केवल परमात्मविषयक विचार ही रहता है, उस बुद्धिकी प्रसन्नता अर्थात् स्वच्छतासे यह सुख पैदा होता है †।

---

* सात्त्विक, राजस और तामस—ये तीनों गुण अन्तःकरणमें अमूर्तरूपसे रहते हैं। इनका पता वृत्तियोंसे ही लगता है, जिनका वर्णन चौदहवें अध्यायमें ग्यारहवेंसे तेरहवें श्लोकोंमें हुआ है।

† यहाँ सात्त्विक सुखको परमात्मविषयक बुद्धिसे जन्य बताया गया है अर्थात् यह सुख उत्पन्न होता है और सदा एकरस नहीं रहता। परंतु

राजस-तामस सुखमें स्वाभाविक ही मन लग जाता है । परंतु सात्त्विक सुख उतना भोगा हुआ नहीं है; इस वास्ते इसमें जल्दी मन नहीं लगता । इस कारण सात्त्विक सुख आरम्भमें विषकी तरह लगता है ।

वास्तवमें सात्त्विक सुख विषकी तरह नहीं है, प्रत्युत राजस-तामस सुखका त्याग विषकी तरह होता है । जैसे, बालकको खेल-कूद छोड़कर पढ़ाईमें लगाया जाय तो उसको पढ़ाईमें कैदीकी तरह होकर अभ्यास करना पड़ता है और उसमें मन नहीं लगता तथा इधर उच्छृङ्खलता, खेल-कूद छूट जाता है तो उसको पढ़ाई विषकी तरह मालूम देती है । परंतु वही बालक पढ़ता रहे और एक-दो परीक्षामें पास हो जाय तो उसका पढ़ाईमें मन लग जाता है अर्थात् उसको पढ़ाई अच्छी लगने लग जाती है । तब उसकी पढ़ाईके अभ्याससे रुचि, प्रियता होने लगती है ।

वास्तवमें देखा जाय तो सात्त्विक सुख आरम्भमें विषकी तरह उन्हीं लोगोंके लिये होता है, जिनका राजस-तामस सुखमें राग है । परंतु जिनका सांसारिक भोगोंसे स्वाभाविक वैराग्य है, जिनकी पारमार्थिक शास्त्राध्ययन, सत्सङ्ग, कथा-कीर्तन, साधन-भजन आदिमें स्वाभाविक रुचि है और जिनके ज्ञान, कर्म, बुद्धि और धृति सात्त्विक हैं, उन साधकोंको यह सात्त्विक सुख आरम्भसे ही अमृतकी तरह आनन्द देनेवाला होता है । उनको इसमें कष्ट, परिश्रम, कठिनता आदि मालूम ही नहीं होते ।

'परिणामेऽमृतोपमम्'—साधन करनेसे साधकमें सत्त्वगुण आता है । सत्त्वगुणके आनेपर इन्द्रियों और अन्तःकरणमें स्वच्छता,

निर्मलता, ज्ञानकी दीप्ति, शान्ति, निर्विकारता आदि सद्भाव-सद्गुण प्रकट हो जाते हैं*। इन सद्गुणोंका प्रकट होना ही परिणाममें अमृतकी तरह होना है। इसका उपभोग न करनेसे अर्थात् इसमें रस न लेनेसे वास्तविक अक्षय सुखकी प्राप्ति हो जाती है—

बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा विन्दत्यात्मनि यत्सुखम्।
स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा सुखमक्षयमश्नुते॥
(गीता ५। २१)

अर्थात् बाहरके विषयोंमें आसक्तिरहित अन्तःकरणवाला पुरुष जड़ताके त्यागसे होनेवाले परमात्मविषयक सुखको प्राप्त होता है, जो कि सात्त्विक सुख है। उसके बाद परमात्माके सम्बन्धसे युक्त वह पुरुष अक्षय सुखका अनुभव करता है, जो कि गुणातीत है।

परिणाममें सात्त्विक सुख राजस-तामस सुखसे ऊँचा उठाकर जड़तासे सम्बन्ध-विच्छेद करा देता है और इसमें आसक्ति न होनेसे अन्तमें परमात्माकी प्राप्ति करा देता है। इस वास्ते यह परिणाममें अमृतकी तरह है।

'आत्मबुद्धिप्रसादजम्'—जिस बुद्धिमें सांसारिक मान-आदर, बड़ाई, धन-संग्रह, विषयजन्य सुख आदिका महत्त्व नहीं रहता, केवल परमात्मविषयक विचार ही रहता है, उस बुद्धिकी प्रसन्नता अर्थात् स्वच्छतासे यह सुख पैदा होता है†।

* सात्त्विक, राजस और तामस—ये तीनों गुण अन्तःकरणमें अमूर्तरूपसे रहते हैं। इनका पता वृत्तियोंसे ही लगता है, जिनका वर्णन चौदहवें अध्यायमें ग्यारहवेंसे तेरहवें श्लोकोंमें हुआ है।

† यहाँ सात्त्विक सुखको परमात्मविषयक बुद्धिसे जन्य बताया गया है अर्थात् यह सुख उत्पन्न होता है और सदा एकरस नहीं रहता। परंतु

सम्बन्ध—

अब राजस सुखका वर्णन करते हैं।

श्लोक—

विषयेन्द्रियसंयोगाद्यत्तदग्रेऽमृतोपमम्।
परिणामे विषमिव तत्सुखं राजसं स्मृतम्॥ ३८॥

व्याख्या—

'विषयेन्द्रियसंयोगात्'—विषयों और इन्द्रियोंके संयोगसे होनेवाला जो सुख है, उसमें अभ्यास नहीं करना पड़ता। कारण कि यह प्राणी किसी भी योनिमें जाता है तो उसको वहाँ विषयों और इन्द्रियोंके संयोगसे होनेवाला सुख मिलता ही है। शब्द, स्पर्श आदि पाँचों विषयोंका सुख पशु-पक्षी, कीट-पतङ्ग आदि सभी प्राणियोंको मिलता है। अतः उस सुखमें प्राणिमात्रका स्वाभाविक अभ्यास रहता है। मनुष्यजीवनमें भी बचपनसे देखा जाय तो अनुकूलतामें राजी होना और प्रतिकूलतामें नाराज होना स्वाभाविक ही होते आये हैं। इस वास्ते इस राजस सुखमें अभ्यासकी जरूरत नहीं है।

'यत्तदग्रे अमृतोपमम्'—राजस सुखको आरम्भमें अमृतकी तरह कहनेका भाव यह है कि सांसारिक विषयोंकी प्राप्तिकी सम्भावनाके समय मनमें जितना सुख होता है, उतना सुख, मस्ती और राजीपन विषयोंके मिलनेपर नहीं रहता। मिलनेपर भी आरम्भमें (संयोग होते ही) जैसा सुख होता है, थोड़े समयके बाद वैसा सुख नहीं रहता; और उस विषयको भोगते-भोगते जब भोगनेकी

शक्ति क्षीण हो जाती है, तो उस समय सुख नहीं होता, प्रत्युत विषयभोगसे अरुचि हो जाती है। भोग भोगनेकी शक्ति क्षीण होनेके बाद भी अगर विषयोंको भोगा जाय तो दुःख, जलन पैदा हो जायगी, चित्तमें सुख नहीं रहेगा। इस वास्ते यह राजस सुख आरम्भमें अमृतकी तरह दीखता है।

अमृतकी तरह कहनेका दूसरा भाव यह है कि जब मन विषयोंमें खिंचता है तो मनको वे विषय बड़े प्यारे लगते हैं। विषयों और भोगोंकी बातें सुननेमें जितना रस आता है, उतना भोगोंमें नहीं आता। इस वास्ते गीतामें आया है—'**यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः**' (२। ४२)। राजस पुरुष स्वर्गके भोगोंका सुख सुनते हैं तो उनको वह सुख बड़ा प्रिय लगता है और वे उसके लिये ललचा उठते हैं। [illegible] है कि वे स्वर्गके सुख दूरसे सुनकर ही बड़े प्रिय लगते हैं, परन्तु स्वर्गमें जाकर सुख भोगनेसे उनको उतना सुख नहीं मिलता और वह उतना प्रिय भी नहीं लगता।

'**परिणामे विषमिव**'—आरम्भमें विषय बड़े सुन्दर लगते हैं, उनमें बड़ा सुख मालूम देता है, परन्तु उनको भोगते-भोगते जब परिणाममें वह सुख नीरसतामें परिणत हो जाता है, उस सुखमें बिल्कुल अरुचि हो जाती है, तो वही सुख जहरकी तरह मालूम देता है।

संसारमें जितने प्राणी फँदेमें पड़े हैं, जितने चौरासी लाख योनियों और नरकोंमें पड़े हैं, उन सबका कारण [illegible] ही

। विषयोंका भोग किया है, उनसे सुख लिया है। उसीसे वे नरक आदिमें दुःख पा रहे हैं; क्योंकि राजस सुखका परिणाम त्र होता ही है—'रजसस्तु फलं दुःखम्' (गीता १४। १६)।

आज भी जो लोग घबरा रहे हैं, दुःखी हो रहे हैं, वे सब पदार्थोंके रागके कारण ही दुःख पा रहे हैं। जो धनी होकर फिर निर्धन हो गया है, वह जितना दुःखी और संतप्त है उतना दुःख और सन्ताप स्वाभाविक निर्धनको नहीं है; क्योंकि उसके भीतर सुखके संस्कार अधिक नहीं पड़े हैं। परंतु धनीने राजसी सुख अधिक भोगा है, उसके भीतर सुखके संस्कार अधिक पड़े हैं, इसलिये उसको धनके अभावका दुःख ज्यादा है। जैसे, जो मनुष्य तरह-तरहकी सामग्री भोजन करनेवाला है, उसके भोजनमें कमी थोड़ी-सी भी कमी हो जाय तो उसको वह कमी बड़ी खटकती है कि आज भोजनमें चटनी नहीं है, खटाई नहीं है, मिठाई नहीं है; अमुक-अमुक चीज नहीं है—इस प्रकार नहीं-नहींका ही ताँता लगा रहता है। परंतु साधारण आदमी बाजरेकी रूखी-सूखी रोटी खाकर भी मौजसे रहता है, उसको भोजनमें किसी चीजकी कमी खटकती ही नहीं। तात्पर्य यह हुआ कि पदार्थोंके संयोगसे जितना ज्यादा सुख लिया है, उतना ही उसके अभावका अनुभव होता है। अभावके अनुभवमें दुःख ही होता है।

जिस पदार्थकी कामना होती है, उसकी प्राप्तिके लिये मनुष्य उद्योग करते हैं। उद्योग करनेपर भी वस्तु मिलेगी या न मिलेगी, इसमें संदेह रहता है। वस्तु न मिले तो उसके अभावका

दुःख होता है, और वस्तु मिल जाय तो 'जिमि प्रतिलाभ लोभ अधिकाई' की तरह उस वस्तुको और भी अधिक प्राप्त करनेकी इच्छा हो जाती है। इस प्रकार इच्छापूर्ति नयी इच्छाका कारण बन जाती है, और इच्छापूर्ति तथा फिर इच्छाकी उत्पत्ति—यह चक्कर चलता ही रहता है, इसका कभी अन्त नहीं आता। तात्पर्य यह है कि इच्छा कभी मिटती नहीं और इच्छाके रहते हुए अभाव खटकता रहता है। यह अभाव ही विषकी तरह है अर्थात् दुःखदायी है।

जब राजसी सुख परिणाममें विषकी तरह है तो राजसी सुख लेनेवाले जितने लोग हैं, वे सब मर जाने चाहिये ? परंतु राजसी सुख विषकी तरह मारता नहीं, प्रत्युत विषकी तरह अरुचि-कारक हो जाता है। उसमें पहले जैसी रुचि होती है, वैसी रुचि अन्तमें नहीं रहती अर्थात् वह सुख विषकी तरह हो जाता है, साक्षात् विष नहीं होता।

राजस सुख विषकी तरह क्यों है ? क्योंकि विष तो एक जन्ममें ही मारता है, पर राजस सुख कई जन्मोंतक मारता है। राजस सुख लेनेवाला रागी पुरुष शुभ-कर्म करके यदि स्वर्गमें भी चला जाता है तो वहाँ भी उसको सुख-शान्ति नहीं मिलती। स्वर्गमें भी अपनेसे ऊँची श्रेणीवालोंको देखकर ईर्ष्या होती है कि ये हमारेसे ऊँचे क्यों हो गये हैं ! समान पदवालोंको देखकर दुःख होता है कि ये हमारे समान पदपर आकर क्यों बैठ गये हैं ! और नीची श्रेणीवालोंको देखकर अभिमान आता है कि हम

इनसे ऊँचे हैं ! इस प्रकार उसके मनमें ईर्ष्या, दुःख और अभिमान होते ही रहते हैं, फिर उसके मनमें सुख कहाँ और शान्ति कहाँ ? इतना ही नहीं, पुण्योंके क्षीण हो जानेपर उसको पुनः मृत्युलोकमें आना पड़ता है—**'क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति'** (गीता ९। २१)। यहाँ आकर फिर शुभ-कर्म करता है और फिर स्वर्गमें जाता है। इस प्रकार जन्म-मरणके चक्करमें चढ़ा ही रहता है— **'गतागतं कामकामा लभन्ते'** (९।२१)। यदि वह रागके कारण पाप-कर्मोंमें लग जाता है तो परिणाममें चौरासी लाख योनियों और नरकोंमें पड़ता हुआ न जाने कितने जन्मोंतक जन्मता-मरता रहता है, जिसका कोई अन्त नहीं आता। इस वास्ते इस सुखको विषकी तरह कहा है।

'तत्सुखं राजसं स्मृतम्'—सात्त्विक सुखके लिये तो (सैंतीसवें श्लोकमें) **'प्रोक्तम्'** पद कहा है, पर राजस सुखके लिये यहाँ **'स्मृतम्'** पद कहनेका तात्पर्य है कि पहले भी मनुष्यने राजस सुखका फल दुःख पाया है; परंतु रागके कारण वह संयोगकी तरफ पुनः ललचा उठता है। कारण कि संयोगका प्रभाव उसपर पड़ा हुआ है और परिणामके प्रभावको वह स्वीकार नहीं करता। अगर वह परिणामके प्रभावको स्वीकार कर ले तो फिर राजस सुखमें फँसेगा नहीं। स्मृति, शास्त्र, पुराण आदिमें ऐसे बहुत-से इतिहास आते हैं, जिनमें मनुष्योंके द्वारा राजस सुखके कारण बहुत दुःख पानेकी बात आयी है। इसी उनको स्मरण करानेके लिये यहाँ **'स्मृतम्'** पद आया है।

जिसकी वृत्ति जितनी सात्त्विक होती है, वह उतना ही हरेक विषयके परिणामकी तरफ सोचता है। अतः तात्कालिक सुखकी तरफ वह ध्यान नहीं देता। परंतु राजसी वृत्तिवाला परिणामकी तरफ सोचता ही नहीं, उसकी वृत्ति तात्कालिक सुखकी तरफ ही जाती है। इस वास्ते वह संसारमें फँसा रहता है। राजसीको संसार-का सम्बन्ध वर्तमानमें तो अच्छा मालूम देता है; परंतु परिणाममें वह हानिकारक है—'ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते' (गीता ५। २२)। इस वास्ते साधकको संसारसे विरक्त हो जाना चाहिये; राजसी सुखमें नहीं फँसना चाहिये।

सम्बन्ध—

अब तामस सुखका वर्णन करते हैं।

श्लोक—

यदग्रे चानुबन्धे च सुखं मोहनमात्मनः।
निद्रालस्यप्रमादोत्थं तत्तामसमुदाहृतम्॥ ३९॥

व्याख्या—

'निद्रालस्यप्रमादोत्थम्'—जब राग अत्यधिक बढ़ जाता है, तो वह तमोगुणका रूप धारण कर लेता है। इसीको मोह कहते हैं। इस मोह (मूढ़ता)के कारण मनुष्यको अधिक सोना अच्छा लगता है। अधिक सोनेवाले मनुष्यको गाढ़ नींद नहीं आती। गाढ़ नींद न आनेसे तन्द्रा ज्यादा आती है और स्वप्न भी ज्यादा आते हैं। तन्द्रा और स्वप्नमें तमस मनुष्यका बहुत समय बरबाद हो जाता है। परन्तु तामस मनुष्यको इसीसे ही सुख मिलता है, इस वास्ते इस सुखको निद्रासे उत्पन्न बताया है।

जब तमोगुण अधिक बढ़ जाता है, तो मनुष्यकी वृत्तियाँ भारी हो जाती हैं। फिर वह आलस्यमें समय बरबाद कर देता है। आवश्यक काम सामने आनेपर वह कह देता है कि 'फिर कर लेंगे, अभी तो आराम कर रहे हैं'। इस प्रकार आलस्य-अवस्थामें उसको सुख मालूम देता है। परन्तु निकम्मा रहनेके कारण उसकी इन्द्रियों और अन्तःकरणमें शिथिलता आ जाती है, मनमें संसारका फालतू चिन्तन होता रहता है और मनमें अशान्ति, शोक, विषाद, चिन्ता, दुःख होते रहते हैं।

जब इससे भी अधिक तमोगुण बढ़ जाता है, तो मनुष्य प्रमाद करने लग जाता है। वह प्रमाद दो तरहका होता है— अक्रिय प्रमाद और सक्रिय प्रमाद। घर, परिवार, शरीर आदिके आवश्यक कामोंको न करना और निठल्ले बैठे रहना 'अक्रिय प्रमाद'* है। व्यर्थ क्रियाएँ (देखना, सुनना, सोचना आदि) करना; बीड़ी, सिगरेट, शराब, भाँग, तंबाकू, खेल, तमाशा आदि दुर्व्यसनोंमें लगना; और चोरी, डकैती, झूठ, कपट, बेईमानी, व्यभिचार, अभक्ष्य-भक्षण आदि दुराचारोंमें लगना 'सक्रिय प्रमाद' है। तामस पुरुषको इन व्यर्थ क्रियाओं, दुर्व्यसनों और दुराचारोंमें लगे रहनेसे ही सुख होता है। इस वास्ते इस सुखको प्रमादसे उत्पन्न बताया है।

---

* आलस्य और अक्रिय प्रमाद एक-जैसे दीखते हुए भी उनमें थोड़ा अन्तर है। आलस्यमें वृत्तियोंके भारी होनेसे सुख होता है और अक्रिय प्रमादमें कर्तव्य-कर्मोंको छोड़नेसे सुख होता है।

जब तमोगुणी प्रमाद-वृत्ति आती है तो वह सत्त्वगुणके विवेक-ज्ञानको ढक देती है और जब तमोगुणी निद्रा-आलस्य-वृत्ति आती है तो वह सत्त्वगुणके प्रकाशको ढक देती है। विवेक-ज्ञानके ढकनेपर प्रमाद होता है तथा प्रकाशके ढकनेपर आलस्य और निद्रा आती है। तामस पुरुषको निद्रा, आलस्य और प्रमाद—तीनोंसे सुख मिलता है, इस वास्ते तामस सुखको इन तीनोंसे उत्पन्न बताया गया है।

निद्रा दो प्रकारकी होती है—युक्तनिद्रा और अतिनिद्रा।

(१) युक्तनिद्रा—निद्रामें एक विश्राम मिलता है। विश्रामसे शरीर, मन, बुद्धि, अन्तःकरणमें नीरोगता, स्फूर्ति, स्वच्छता, निर्मलता और ताजगी आती है। ताजगी आनेसे साधन-भजन करनेमें और सांसारिक काम करनेमें भी शक्ति मिलती है और उत्साह रहता है। इस वास्ते युक्तनिद्रा दोषी नहीं है, प्रत्युत सबके लिये आवश्यक है। भगवान्‌ने भी युक्तनिद्राको आवश्यक बताया है—'युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा' (गीता ६। १७)।

ताजगीमात्रके लिये निद्रा साधकके लिये आवश्यक है। जिस साधकके रागपूर्वक संसारके संकल्प नहीं होते, उसको नींद बहुत जल्दी आ जाती है, और जो ज्यादा संकल्पशील है, उसको नींद जल्दी नहीं आती। इससे यह सिद्ध हुआ कि संसारका जो सम्बन्ध है, यह निद्राका सुख भी नहीं लेने देता। निद्रा आवश्यक क्यों है? क्योंकि निद्रामें जो स्थिर तत्त्व है, वह साधकको साधनमें प्रवृत्त करनेमें और सांसारिक कार्य करनेमें बल देता है, इस वास्ते निद्रा आवश्यक है।

जब तमोगुण अधिक बढ़ जाता है, तो मनुष्यकी वृत्तियाँ भारी हो जाती हैं। फिर वह आलस्यमें समय बरबाद कर देता है। आवश्यक काम सामने आनेपर वह कह देता है कि 'फिर कर लेंगे, अभी तो आराम कर रहे हैं'। इस प्रकार आलस्य-अवस्थामें उसको सुख मालूम देता है। परन्तु निकम्मा रहनेके कारण उसकी इन्द्रियों और अन्तःकरणमें शिथिलता आ जाती है, मनमें संसारका फालतू चिन्तन होता रहता है और मनमें अशान्ति, शोक, विषाद, चिन्ता, दुःख होते रहते हैं।

जब इससे भी अधिक तमोगुण बढ़ जाता है, तो मनुष्य प्रमाद करने लग जाता है। वह प्रमाद दो तरहका होता है— अक्रिय प्रमाद और सक्रिय प्रमाद। घर, परिवार, शरीर आदिके आवश्यक कामोंको न करना और निठल्ले बैठे रहना 'अक्रिय प्रमाद'* है। व्यर्थ क्रियाएँ (देखना, सुनना, सोचना आदि) करना; बीड़ी, सिगरेट, शराब, भाँग, तंबाकू, खेल, तमाशा आदि दुर्व्यसनोंमें लगना; और चोरी, डकैती, झूठ, कपट, बेईमानी, व्यभिचार, अभक्ष्य-भक्षण आदि दुराचारोंमें लगना 'सक्रिय प्रमाद' है। तामस पुरुषको इन व्यर्थ क्रियाओं, दुर्व्यसनों और दुराचारोंमें रत रहनेसे ही सुख होता है। इस वास्ते इस सुखको प्रमादसे उत्पन्न बताया है।

---

* आलस्य और अक्रिय प्रमाद एक-जैसे दीखते हुए भी उनमें थोड़ा अन्तर है। आलस्यमें वृत्तियोंके भारी होनेसे सुख होता है और अक्रिय प्रमादमें कर्तव्य-कर्मोंको छोड़नेसे सुख होता है।

जब तमोगुणी प्रमाद-वृत्ति आती है तो वह सत्त्वगुणके विवेक-ज्ञानको ढक देती है और जब तमोगुणी निद्रा-आलस्य-वृत्ति आती है तो वह सत्त्वगुणके प्रकाशको ढक देती है। विवेक-ज्ञानके ढकनेपर प्रमाद होता है तथा प्रकाशके ढकनेपर आलस्य और निद्रा आती है। तामस पुरुषको निद्रा, आलस्य और प्रमाद—तीनोंसे सुख मिलता है, इस वास्ते तामस सुखको इन तीनोंसे उत्पन्न बताया गया है।

निद्रा दो प्रकारकी होती है—युक्तनिद्रा और अतिनिद्रा।

(१) युक्तनिद्रा—निद्रामें एक विश्राम मिलता है। विश्रामसे शरीर, मन, बुद्धि, अन्तःकरणमें नीरोगता, स्फूर्ति, स्वच्छता, निर्मलता और ताजगी आती है। ताजगी आनेसे साधन-भजन करनेमें और सांसारिक काम करनेमें भी शक्ति मिलती है और उत्साह रहता है। इस वास्ते युक्तनिद्रा दोषी नहीं है, प्रत्युत सबके लिये आवश्यक है। भगवान्‌ने भी युक्तनिद्राको आवश्यक बताया है—'युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा' (गीता [illegible])।

ताजगीमात्रके लिये निद्रा साधकके लिये आवश्यक है। जिस साधकके रागपूर्वक संसारके संकल्प नहीं होते, उसको नींद बहुत जल्दी आ जाती है, और जो ज्यादा संकल्पशील है, उसको नींद जल्दी नहीं आती। इससे यह सिद्ध हुआ कि संसारसे जो सम्बन्ध है, वह निद्राका सुख भी नहीं लेने देता। निद्रा आवश्यक क्यों है? क्योंकि निद्रामें जो विश्राम मिलता है, वह साधकको साधनमें प्रवृत्त करनेमें और सांसारिक कार्य करनेमें मदद देता है, इस वास्ते निद्रा आवश्यक है।

यद्यपि नींद तामसी है, तथापि नींदका जो बेहोशीपना है, वह त्याज्य है और जो विश्रामपना है, वह ग्राह्य है। परन्तु हरेक आदमी बेहोशीके बिना विश्रामपना ग्रहण नहीं कर सकता; अतः उनके लिये नींदका बेहोशीभाग भी ग्राह्य है। हाँ, जो साधना करके ऊँचे उठ गये हैं, उनको नींदके बेहोशीभागके बिना भी जाग्रत्-सुषुप्तिमें ही विश्राम मिल जाता है। कारण कि जाग्रत्-अवस्थामें संसारके चिन्तनका सर्वथा त्याग होकर परमात्मतत्त्वमें स्थिति हो जाती है तो महान् विश्राम, सुख मिलता है; इस स्थितिसे भी असङ्ग होनेपर वास्तविक तत्त्वकी प्राप्ति हो जाती है।

जो साधक हैं, उनको विश्रामके लिये नहीं सोना चाहिये। उनका तो यही भाव होना चाहिये कि पहले काम-धन्धा करते हुए भगवान्‌का भजन करते थे, अब लेटे-लेटे भजन करना है।

(२) अतिनिद्रा—इस निद्राके आदि और अन्तमें शरीरमें आलस्य भरा रहता है। शरीरमें भारीपन रहता है। अधिक नींद लेनेका स्वभाव होनेसे हरेक कार्यमें नींद आती रहती है। समयपर सोना और समयपर जागना युक्तनिद्रा है, और अधिक सोना अतिनिद्रा है।

चौदहवें अध्यायके आठवें श्लोकमें भगवान्‌ने पहले प्रमादको, दूसरे नंबरमें आलस्यको और तीसरे नंबरमें निद्राको रखा है—**'प्रमादालस्यनिद्राभिस्तन्निबध्नाति भारत'**। परंतु यहाँ पहले निद्राको, दूसरे नंबरमें आलस्यको और तीसरे नंबरमें प्रमादको रखा है—**'निद्रालस्यप्रमादोत्थम्'**। इस व्यतिक्रममें भगवान्‌का तात्पर्य है कि वहाँ इन तीनोंके द्वारा मनुष्यको बाँधनेका प्रसङ्ग है और

यहाँ मनुष्यका पतन करनेका प्रसङ्ग है। बाँधनेके विषयमें प्रमाद सबसे अधिक बन्धनकारक है, इस वास्ते इसको सबसे पहले रखा है। कारण कि सक्रिय-प्रमाद निषिद्ध आचरणोंमें प्रवृत्त करता है, जिससे अधोगति होती है। आलस्य केवल अच्छी प्रवृत्तिको रोकनेवाला होनेसे इसको दो नंबरमें रखा है। निद्रा आवश्यक होनेसे बन्धनकारक नहीं है, प्रत्युत अतिनिद्रा ही बन्धनकारक है, इस वास्ते इसे तीसरे नंबरमें रखा है। यहाँ उलटे क्रम रखनेका अभिप्राय है कि सबके लिये आवश्यक होनेसे निद्रा इतना पतन करनेवाली नहीं है। निद्रासे अधिक आलस्य पतन करता है, और आलस्यसे भी अधिक प्रमाद पतन करता है। कारण कि मनुष्य ज्यादा नींद लेगा तो वृक्ष आदि मूढ़-योनियोंकी प्राप्ति होगी; परंतु आलस्य और प्रमाद करेगा तो कर्तव्यच्युत होकर दुराचार करनेसे नरकमें जाना पड़ेगा*।

'यदग्रे चानुबन्धे च सुखं मोहनमात्मनः'—निद्रा, आलस्य और प्रमादसे उत्पन्न हुआ सुख आरम्भमें और परिणाममें मोहित करनेवाला है। इस सुखमें न आरम्भमें विवेक रहता है और न परिणाममें विवेक रहता है अर्थात् यह सुख विवेकको जाग्रत्

* तमोगुणकी वृत्ति जो अक्रिय प्रमाद है, वह तो अच्छी प्रवृत्तिको रोककर खेल-कूद आदि सामान्य पापमय क्रियाओंमें लगाता है; परन्तु जब सक्रिय-प्रमादके साथ राग मिल जाता है (जो कि रजोगुणका रूप है) तो उससे कामना पैदा हो जाती है। कामनासे फिर अनेक तरहके पाप, अनर्थ होते हैं, जिनका परिणाम बड़ा भयंकर होता है।

नहीं होने देता। पशु-पक्षी, कीट-पतङ्ग आदिमें भी विवेक-शक्ति जाग्रत् न रहनेसे वे क्रियाके आरम्भ और परिणामको सोच नहीं पाते। ऐसे ही जिस सुखके कारण मनुष्य यह सोच नहीं सकता कि इस निद्रा आदिसे उत्पन्न हुए सुखका परिणाम हमारे लिये क्या होगा ? उससे क्या लाभ होगा ? क्या हानि होगी ? क्या हित होगा ? क्या अहित होगा, उस सुखको तामस कहा गया है—'तत्तामसमुदाहृतम्'।

विशेष बात

(१) प्रकृति और पुरुष—दोनों अनादि हैं, और 'ये दो हैं' इस प्रकार इनकी पृथक्ताका विवेक भी अनादि है। यह विवेक पुरुषमें ही रहता है, प्रकृतिमें नहीं। जब यह पुरुष इस विवेकका अनादर करके अविवेकके कारण प्रकृतिके साथ सम्बन्ध जोड़ लेता है, तो इस सम्बन्धके कारण पुरुषमें राग पैदा हो जाता है*।

जब राग बहुत सूक्ष्म रहता है, तब विवेक प्रबल रहता है। जब राग बढ़ जाता है, तब विवेक दब जाता है, मिटता नहीं। पर विवेक ठीक तरहसे जाग्रत् हो जाय तो फिर राग टिकता नहीं

* रागसे अनेक विकार पैदा होते हैं, पर वे सब विकार प्रकृतिमें ही होते हैं, पुरुषमें नहीं। प्रकृतिके साथ तादात्म्य होनेसे पुरुष प्रकृतिके उन विकारोंको अपनेमें मान लेता है तो यह पुरुष भोगी हो जाता है। परंतु जब इसको यह बोध हो जाता है कि विकार आते हैं और जाते हैं, उत्पन्न होते हैं और नष्ट होते हैं, पर विकारोंके आदि और अन्तको देखनेवाली अपनी नित्य सत्ता ज्यों-की-त्यों ही रहती है, तब उस अवस्थामें पुरुष योगी हो जाता है।

अर्थात् रागका अभाव हो जाता है। उस समय पुरुष मुक्त कहलाता है।

उस रागके कारण मनुष्यकी प्रकृतिजन्य सुखमें आसक्ति हो जाती है। उस आसक्तिके रहते हुए जब मनुष्य किसी कारणवश सात्त्विक सुखको प्राप्त करना चाहता है तो राजसी-तामसी सुखको त्यागनेमें उसे कठिनता मालूम देती है—'यत्तदग्रे विषमिव'। परंतु जब राग मिट जाता है, तो वह सुख अमृतकी तरह हो जाता है—'परिणामेऽमृतोपमम्'।

रागके कारण ही रजोगुणी सुख आरम्भमें अमृतकी तरह दीखता है। पर वह सुख परिणाममें प्राणीके लिये जहरकी तरह अनिष्टकारक अर्थात् महान् दुःखरूप हो जाता है। प्रकृतिजन्य सुखकी आसक्ति होनेपर दुःखकी परम्पराका कोई अन्त नहीं आता।

जब वही राग तमोगुणका रूप धारण कर लेता है तो मनुष्यकी वृत्तियाँ भारी हो जाती हैं। फिर मनुष्य नींद और आलस्यमें समय बरबाद कर देता है तथा आवश्यक कर्तव्यसे विमुख होकर अकर्तव्यमें लग जाता है। परंतु तामसी पुरुषको इन्हींमें सुख मालूम देता है। इस वास्ते यह तामसी सुख आदि और अन्तमें मोहित करनेवाला है।

(२) जो प्रतिक्षण अभावमें जा रहा है, वह वास्तवमें 'नहीं' ही है। पर जो 'नहीं' को प्रकाशित करनेवाला तथा उसका आधार है, वह वास्तवमें 'है' तत्त्व है। उसी तत्त्वको 'सच्चिदानन्द' कहते हैं। निरन्तर सत्तारूपसे रहनेके कारण उसे 'सत्' कहते हैं,

ज्ञानस्वरूप होनेके कारण उसे 'चित्' कहते हैं और आनन्दस्वरूप
होनेके कारण उसे 'आनन्द' कहते हैं। उस सच्चिदानन्द परमात्माका
ही अंश होनेसे यह प्राणी भी सच्चिदानन्दस्वरूप है। परंतु जब
प्राणी असत् वस्तुकी इच्छा करता है कि अमुक वस्तु मुझे मिले,
तो उस इच्छासे वह स्वतः-स्वाभाविक आनन्द—सुख ढक जाता है।
जब असत् वस्तुकी इच्छा मिट जाती है, तो उस इच्छाके मिटते ही
वह स्वतः-स्वाभाविक सुख प्रकट हो जाता है।

नित्य-निरन्तर रहनेवाला जो सुख-रूप 'तत्त्व' है, उसमें जब
सात्त्विक बुद्धि तल्लीन हो जाती है तो बुद्धिमें स्वच्छता, निर्मलता आ
जाती है। उस स्वच्छ और निर्मल बुद्धिसे अनुभवमें आनेवाला वह
स्वाभाविक सुख ही सात्त्विक कहलाता है। बुद्धिसे भी जब सम्बन्ध
टूट जाता है तो वास्तविक सुख रह जाता है। सात्त्विक बुद्धिके
सम्बन्धसे ही उस सुखकी सात्त्विक संज्ञा होती है। बुद्धिसे सम्बन्ध
टूटते ही उसकी सात्त्विक संज्ञा नहीं रहती।

मनमें जब किसी वस्तुको प्राप्त करनेकी इच्छा होती है तो
वह वस्तु मनमें बस जाती है अर्थात् मन और बुद्धिका उसके साथ
सम्बन्ध हो जाता है। जब वह मनोवाञ्छित वस्तु मिल जाती है तो
वह वस्तु मनसे निकल जाती है अर्थात् वस्तुका मनमें जो खिंचाव
था, वह निकल जाता है। उसके निकलते ही अर्थात् वस्तुसे
सम्बन्ध-विच्छेद होते ही वस्तुके अभावका जो दुःख था, वह निवृत्त
हो जाता है और नित्य रहनेवाले स्वतःसिद्ध सुखका तात्कालिक
अनुभव हो जाता है। वास्तवमें यह सुख वस्तुके मिलनेसे नहीं हुआ

है, प्रत्युत रागके तात्कालिक मिटनेसे हुआ है, पर राजसी पुरुष भूलसे उस सुखको वस्तुके मिलनेसे होनेवाला मान लेता है। वास्तवमें देखा जाय तो वस्तुका संयोग बाहरसे होता है और प्रसन्नता भीतरसे होती है। भीतरमें जो प्रसन्नता पैदा होती है, वह बाहरके संयोगसे पैदा नहीं होती; प्रत्युत भीतर मनमें बसी हुई वस्तुके साथ जो सम्बन्ध था, उस वस्तुसे सम्बन्ध-विच्छेद होनेपर पैदा होती है। तात्पर्य यह कि वस्तुके मिलनेसे अर्थात् वस्तुका संयोग होते ही भीतरसे उस वस्तुसे सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है और सम्बन्ध-विच्छेद होते ही नित्य रहनेवाले स्वाभाविक सुखका आभास हो जाता है।

जब नींदमें बुद्धि तमोगुणमें लीन हो जाती है तो बुद्धिकी स्थिरताको लेकर वह सुख प्रकट हो जाता है। कारण कि तमोगुणके प्रभावसे नींदमें जाग्रत् और स्वप्नके पदार्थोंकी विस्मृति हो जाती है। पदार्थोंकी स्मृति दुःखोंका कारण है। पदार्थोंकी विस्मृति होनेसे निद्रावस्थामें पदार्थोंका वियोग हो जाता है तो उस वियोगके कारण स्वाभाविक सुखका आभास होता है, इसीको निद्राका सुख कहते हैं। परंतु बुद्धिकी मलिनतासे वह स्वाभाविक सुख जैसा है, वैसा अनुभवमें नहीं आता। तात्पर्य है कि बुद्धिके तमोगुणी होनेसे बुद्धिमें स्वच्छता नहीं रहती और स्वच्छता न रहनेसे वह सुख स्पष्ट अनुभवमें नहीं आता। इस वास्ते इस सुखको तामस कहा गया है।

इन सबका तात्पर्य यह है कि सात्त्विक पुरुषको संसारसे विमुख होकर स्वरूपमें बुद्धिके तल्लीन होनेसे सुख होता है, राजस

पुरुषको रागके कारण अन्तःकरणमें बसी हुई वस्तुके बाहर निकलनेसे सुख होता है; और तामस पुरुषको वस्तुओंके लिये किये जानेवाले कर्तव्य-कर्मोंकी विस्मृतिसे और निरर्थक क्रिया तथा प्रमादमें लगनेसे सुख होता है। इससे यह सिद्ध हुआ कि जो नित्य-निरन्तर रहनेवाला सुखरूप तत्त्व है, वह असत्‌के सम्बन्धसे आच्छादित रहता है। विवेकपूर्वक असत्‌से सम्बन्ध-विच्छेद हो जानेपर, रागवाली वस्तुओंके मनसे निकल जानेपर और बुद्धिके तमोगुणमें लीन हो जानेपर जो सुख होता है, वह उसी सुखका आभास है। तात्पर्य यह हुआ कि संसारसे विवेकपूर्वक विमुख होनेपर सात्त्विक सुख, भीतरसे वस्तुओंके निकलनेपर राजस सुख और मूढ़तासे निद्रा-आलस्यमें संसारको भूलनेपर तामस सुख होता है; परंतु वास्तविक सुख तो प्रकृतिजन्य पदार्थोंसे सर्वथा सम्बन्ध-विच्छेदसे ही होता है। इन सुखोंमें जो प्रियता, आकर्षण और (सुखका) भोग है, वही पारमार्थिक उन्नतिमें बाधा देनेवाला और पतन करनेवाला है। इस वास्ते पारमार्थिक उन्नति चाहनेवाले साधकोंको इन तीनों सुखोंसे सम्बन्ध-विच्छेद करना अत्यावश्यक है।

सम्बन्ध—

बीसवेंसे उन्तालीसवें श्लोकतक भगवान्‌ने गुणोंकी मुख्यताको लेकर ज्ञान, कर्म आदिके तीन-तीन भेद बताये। अब इनके सिवाय गुणोंको लेकर सृष्टिकी सम्पूर्ण वस्तुओंके भी तीन-तीन भेद होते हैं—इसका लक्ष्य कराते हुए भगवान् अगले श्लोकमें प्रकरणका उपसंहार करते हैं।

श्लोक—

न तदस्ति पृथिव्यां वा दिवि देवेषु वा पुनः।
सत्त्वं प्रकृतिजैर्मुक्तं यदेभिः स्यात्त्रिभिर्गुणैः ॥ ४० ॥

व्याख्या—

अठारहवें अध्यायके आरम्भमें अर्जुनने संन्यास और त्यागका तत्त्व जानना चाहा तो भगवान्‌ने पहले त्याग—कर्मयोगका वर्णन किया। उस प्रकरणका उपसंहार करते हुए भगवान्‌ने कहा कि जो त्यागी नहीं हैं, उनको अनिष्ट, इष्ट और मिश्र—यह तीन प्रकारका कर्मोंका फल मिलता है और जो संन्यासी हैं, उनको कभी नहीं मिलता। ऐसा कहकर तेरहवें श्लोकसे संन्यास—सांख्ययोगका प्रकरण आरम्भ करके पहले कर्मोंके होनेमें अधिष्ठानादि पाँच हेतु बताये। सोलहवें-सत्रहवें श्लोकोंमें कर्तृत्व माननेवालोंकी निन्दा और कर्तृत्वका त्याग करनेवालोंकी प्रशंसा की। अठारहवें श्लोकमें कर्म—प्रेरक और कर्म-संग्रहका वर्णन किया। परंतु जो वास्तविक तत्त्व है, वह न कर्म-प्रेरक है और न कर्म-संग्राहक है। कर्म-प्रेरक और कर्म-संग्रह तो प्रकृतिके गुणोंके साथ सम्बन्ध रखनेसे ही होते हैं। फिर गुणोंके अनुसार ज्ञान, कर्म, कर्ता, बुद्धि, धृति और सुखके तीन-तीन भेदोंका वर्णन किया। सुखका वर्णन करते हुए यह बताया कि प्रकृतिके साथ यत्किञ्चित् सम्बन्ध रखते हुए ऊँचा-से-ऊँचा जो सुख होता है, वह सात्त्विक होता है। परंतु जो वास्तविक स्वरूपका सुख है, वह गुणातीत है, विलक्षण है, अलौकिक है (जिसका वर्णन छठे अध्यायके इक्कीसवें श्लोकमें हुआ है)।

सात्त्विक सुखको 'आत्मबुद्धिप्रसादजम्' कहकर भगवान्‌ने उसको जन्य (उत्पन्न होनेवाला) बताया । जन्य वस्तु नित्य नहीं होती । इस वास्ते उसको जन्य बतानेका तात्पर्य है कि उस जन्य सुखसे भी ऊपर उठना है । अर्थात् प्रकृति और प्रकृतिके तीनों गुणोंसे रहित होकर उस परमात्मतत्त्वको प्राप्त करना है, जो कि सबका अपना स्वाभाविक स्वरूप है । इस वास्ते कहते हैं—

'न तदस्ति पृथिव्यां वा दिवि देवेषु वा पुनः'—यहाँ **'पृथिव्याम्'** पदसे मृत्युलोक और पृथ्वीके नीचेके अतल, वितल आदि सभी लोकोंका, **'दिवि'** पदसे स्वर्ग आदि लोकोंका, **'देवेषु'** पदको प्राणिमात्रके उपलक्षणके रूपमें लेकर उन-उन स्थानोंमें रहनेवाले मनुष्य, देवता, असुर, राक्षस, नाग, पशु, पक्षी, कीट, पतंग, वृक्ष आदि सभी चर-अचर प्राणियोंका, और **'वा पुनः'** पदोंसे अनन्त ब्रह्माण्डोंका संकेत किया गया है । तात्पर्य यह हुआ कि त्रिलोकी और अनन्त ब्रह्माण्ड तथा उनमें रहनेवाली कोई भी वस्तु ऐसी नहीं है, जो प्रकृतिसे उत्पन्न इन तीनों गुणोंसे रहित हो* अर्थात् सब-के-सब त्रिगुणात्मक हैं—**'सत्त्वं प्रकृतिजैर्मुक्तं यदेभिः स्यात्त्रिभिर्गुणैः'** ।

---

* इस वास्ते साधकको अपने कल्याणके लिये सात्त्विकका ग्रहण और राजस-तामसका त्याग करना है । गीतामें सात्त्विक, राजस और तामस—तीनों गुणोंका वर्णन कहाँ-कहाँ हुआ है, इसे बताया जाता है—

सातवें अध्यायके बारहवें श्लोकमें सात्त्विक, राजस और तामस भावोंका वर्णन हुआ है । चौदहवें अध्यायके पाँचवें श्लोकमें प्रकृतिजन्य सत्त्व, रज और तम—तीनों गुणोंको बन्धनकारक बतलाकर छठेसे आठवें श्लोकतक क्रमशः तीनों गुणोंके बाँधनेका अलग-अलग प्रकार बताया है;

प्रकृति और प्रकृतिका कार्य—यह सब-का-सब ही त्रिगुणात्मक और परिवर्तनशील है। इनसे सम्बन्ध जोड़नेसे ही बन्धन होता है और इनसे सम्बन्ध-विच्छेद करनेसे ही मुक्ति होती है; क्योंकि खुद (स्वयं) का स्वरूप असङ्ग है। स्वरूप 'स्व' है और प्रकृति 'पर' है। प्रकृतिसे सम्बन्ध जुड़ते ही अहंकार पैदा हो जाता है, जो कि पराधीनताको पैदा करनेवाला है। यह एक विचित्र बात है कि अहंकारमें स्वाधीनता मालूम देती है, पर है वास्तवमें पराधीनता! कारण कि अहंकारसे प्रकृतिजन्य पदार्थोंमें आसक्ति, वासना आदि

फिर नवें श्लोकमें गुणोंकी विजयका दसवें श्लोकमें दो गुणोंको दबाकर एक गुणके बढ़नेका, ग्यारहवेंसे तेरहवें श्लोकतक बढ़े हुए गुणोंके लक्षणोंका, चौदहवें-पंद्रहवें श्लोकोंमें तात्कालिक गुणवृद्धिसे मरनेवालेकी गतिका, सोलहवें श्लोकमें त्रिगुणात्मक कर्मोंके फलका, सत्रहवें श्लोकमें तीनों गुणोंसे उत्पन्न होनेवाली वृत्तियोंका और अठारहवें श्लोकमें स्वाभाविक गुणोंकी स्थितिके अनुसार गतिका वर्णन हुआ है। सत्रहवें अध्यायके पहले श्लोकमें तीनों गुणोंसे होनेवाली निष्ठाके विषयमें अर्जुनका प्रश्न है; फिर दूसरे श्लोकमें त्रिविध श्रद्धाका, चौथे श्लोकमें त्रिविध यजनका, आठवेंसे दसवें श्लोकतक त्रिविध आहारीके लक्षण, ग्यारहवेंसे तेरहवें श्लोकतक त्रिविध यज्ञका, सत्रहवेंसे उन्नीसवें श्लोकतक त्रिविध तपका और बीसवेंसे बाईसवें श्लोकतक त्रिविध दानका वर्णन हुआ है। अठारहवें अध्यायके सातवेंसे नवें श्लोकतक त्रिविध त्यागका, बीसवेंसे बाईसवें श्लोकतक त्रिविध ज्ञानका, तेईसवेंसे पचीसवें श्लोकतक त्रिविध कर्मका, छब्बीसवेंसे अट्ठाईसवें श्लोकतक त्रिविध कर्ताका, उनतीसवेंसे बत्तीसवें श्लोकतक त्रिविध बुद्धिका, तैंतीसवेंसे पैंतीसवें श्लोकतक त्रिविध धृतिका और छत्तीसवेंसे उन्तालीसवें श्लोकतक त्रिविध सुखका वर्णन हुआ है। इस प्रकार तीनों गुणोंका वर्णन चौबीस बार हुआ है।

पैदा हो जाती है, जिससे पराधीनतामें भी स्वाधीनता दीखने लग जाती है । इस वास्ते प्रकृतिजन्य गुणोंसे रहित होना आवश्यक है ।

प्रकृतिजन्य गुणोंमें रजोगुण और तमोगुणका त्याग करके सत्त्वगुण बढ़ानेकी आवश्यकता है और सत्त्वगुणमें भी प्रसन्नता और विवेक तो आवश्यक हैं, परंतु सात्त्विक सुख और ज्ञानकी आसक्ति नहीं होनी चाहिये; क्योंकि सुख और ज्ञानकी आसक्ति बाँधनेवाली है । इस वास्ते इनकी आसक्तिका त्याग करके सत्त्वगुणसे ऊँचा उठे । इससे ऊँचा उठनेके लिये ही यहाँ गुणोंका प्रकरण आया है ।

साधकको तो सात्त्विक ज्ञान, कर्म, कर्ता, बुद्धि, धृति और सुख—इनपर ध्यान देकर इनके अनुरूप अपना जीवन बनाना चाहिये और सावधानीसे राजस-तामसका त्याग करना चाहिये । इनका त्याग करनेमें सावधानी ही साधन है । सावधानीसे सब साधन स्वतः प्रकट होते हैं । प्रकृतिसे सम्बन्ध-विच्छेद करनेमें सात्त्विकता बहुत आवश्यक है । कारण कि इसमें प्रकाश अर्थात् विवेक जाग्रत रहता है, जिससे प्रकृतिसे मुक्त होनेमें बड़ी सहायता मिलती है । वास्तवमें तो इससे भी असङ्ग होना है ।

सम्बन्ध—

त्यागके प्रकरणमें भगवान्‌ने यह बतलाया कि नियत कर्मोंका त्याग करना उचित नहीं है । उनका मूढ़तापूर्वक त्याग करनेसे वह त्याग तामस हो जाता है (१८ । ७); शारीरिक क्लेशके भयसे नियत कर्मोंका त्याग करनेसे वह त्याग राजस हो जाता है (१८ । ८) और उन नियत कर्मोंको फल और आसक्ति

त्याग करके करनेसे वह त्याग सात्त्विक हो जाता है (१८ । ९)। सांख्ययोगकी दृष्टिसे सम्पूर्ण कर्मोंकी सिद्धिसे पाँच हेतु बताते हुए जहाँ सात्त्विक कर्मका वर्णन हुआ है, वहाँ नियत कर्मको कर्तृत्वाभिमानसे रहित, राग-द्वेषसे रहित और फलेच्छासे रहित पुरुषके द्वारा किये जानेका उल्लेख किया है (१८ । २३)। अब यहाँ भगवान् यह बताना चाहते हैं कि उन कर्मोंमें किस वर्णके लिये कौन-से कर्म 'नियत-कर्म' हैं और परमात्माका सम्बन्ध रखते हुए नियत कर्मोंको कैसे किया जाय। इसको बतानेके लिये भगवान् अगला प्रकरण प्रारम्भ करते हैं।

श्लोक—

ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्राणां च परंतप।
कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभावप्रभवैर्गुणैः ॥ ४१ ॥

व्याख्या—

सम्पूर्ण कर्मों और पदार्थोंको प्रकृतिके कार्यरूप संसारकी सेवामें अर्पण करनेको 'कर्मप्रधान कर्मयोग' कहते हैं, जिसका वर्णन इसी अध्यायके चौथेसे बारहवें श्लोकतक हुआ है। उन्हीं कर्मों और पदार्थोंके द्वारा प्रकृति और उसके कार्यरूप संसारके मालिक परमात्माका पूजन करनेको 'भक्तिमिश्रित कर्मयोग' कहते हैं। इसी भक्तिमिश्रित कर्मयोगका वर्णन यहाँ इकतालीसवेंसे अड़तालीसवें श्लोकतक किया गया है।

'ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्राणां च परंतप'—यहाँ ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य—इन तीनोंके लिये एक पद और शूद्रोंके लिये

अलग एक पद देनेका तात्पर्य है कि ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य—ये द्विजाति हैं और शूद्र द्विजाति नहीं है। इस वास्ते इनके कर्मोंका विभाग अलग-अलग है और कर्मोंके अनुसार शास्त्रीय अधिकार भी अलग-अलग है।

'कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभावप्रभवैर्गुणैः'—स्वभावसे उत्पन्न होनेवाले गुणोंके अनुसार ही चारों वर्णोंके कर्म अलग-अलग विभक्त किये गये हैं। चौथे अध्यायके तेरहवें श्लोकमें भगवान्‌ने कहा है—

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः।

तात्पर्य यह है कि मनुष्य जो कुछ भी कर्म करता है, उससे दो चीजें बनती हैं—(१) स्वभाव, जिसे 'गुण' कहा गया है और (२) अदृष्ट अर्थात् सञ्चित, जिसे 'कर्म' कहा गया है, जो कि आगे प्रारब्ध बनकर फल देता है। गुण अर्थात् स्वभाव और कर्ममें भी परस्पर सम्बन्ध है। मनुष्यका जैसा स्वभाव होता है, वह प्रायः वैसे ही कर्म करता है और जैसे कर्म करता है, उसका प्रायः वैसा ही स्वभाव बनता है। इन्हीं गुण (स्वभाव) और कर्मोंके अनुसार भगवान्‌ने महासर्गके आदिमें चारों वर्णोंकी रचना की है। प्रजापति ब्रह्माने भी सर्गके आदिमें (पूर्व कर्मोंका फल भुगतानेके लिये) गुण और कर्मोंके अनुसार सृष्टिकी रचना की है। उस सृष्टिमें कर्तव्योंके सहित मनुष्योंको पैदा किया है—**'सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः'** (गीता ३। १०)। इससे यह सिद्ध होता है कि कर्तव्यका विधान केवल मनुष्योंके लिये ही है; क्योंकि मनुष्य कर्मयोनि है। मनुष्योंके सिवाय देवता, पशु, पक्षी,

वृक्ष, लता आदि जितने भी स्थावर-जङ्गम प्राणी हैं, उनके लिये कर्तव्यका विधान नहीं है; क्योंकि वे सभी भोगयोनियाँ हैं। उन भोगयोनियोंमें भी पुण्य-प्रधान फल भोगनेके लिये स्वर्ग आदि ऊँचे लोक हैं, पाप-प्रधान फल भोगनेके लिये नरक हैं और पाप-पुण्य-मिश्रित फलसे होनेवाला मनुष्यजन्म पाप-पुण्य दोनोंसे ऊँचा उठनेके लिये है। इस प्रकार अपने पूर्वकृत कर्मोंका फल भोगनेके लिये वे प्राणी बार-बार उत्पन्न होते रहते हैं और अपने कर्मफलभोगके अनुसार ही अनेक योनियोंमें उनका जन्म होता रहता है।

यह प्राणी पूर्वजन्मके अपने-अपने सात्त्विक, राजस और तामस—इन गुणों और कर्मोंकी प्रधानताको लेकर जिस-जिस वर्णमें पैदा होता है, उन्हीं गुणों और कर्मोंके अनुसार शास्त्रोंने उस-उस वर्णके लिये कर्मोंका अलग-अलग विधान कर दिया है—**'कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभावप्रभवैर्गुणैः'**। इसका तात्पर्य यह हुआ कि गुणों और कर्मोंके अनुसार ही महासर्गके आदिमें भगवान् और सर्गके आदिमें ब्रह्मा चारों वर्णोंकी रचना करते हैं तथा उनके कर्मोंका विधान करते हैं।

यदि मनुष्य अपने स्वार्थ और अभिमानका त्याग करके शास्त्रद्वारा नियत कर्मोंसे भगवान्‌का पूजन करता है तो वे ही कर्म उसका कल्याण कर देते हैं। कल्याणका अर्थ है कि पुराने सञ्चित-कर्म भस्म हो जाते हैं, प्रारब्ध-कर्म फल देकर नष्ट हो जाते हैं और निष्कामभावसे किये हुए क्रियमाण-कर्म फलजनक नहीं बनते, जिससे संसारका बन्धन छूट जाता है।

सम्बन्ध—

अब ब्राह्मणके स्वाभाविक कर्म बताते हैं ।

श्लोक—

शमो दमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च ।
ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम् ॥ ४२ ॥

व्याख्या—

'शमः'—मनको जहाँ लगाना चाहें, वहाँ लग जाय और जहाँसे हटाना चाहें, वहाँसे हट जाय—इस प्रकार मनके निग्रहको 'शम' कहते हैं ।

'दमः'—जिस इन्द्रियसे जब जो काम करना चाहें, तब वह काम कर लें और जिस इन्द्रियको जब जहाँसे हटाना चाहें, तब वहाँसे हटा लें—इस प्रकार इन्द्रियोंको वशमें करना 'दम' है ।

'तपः'—गीतामें शरीर, वाणी और मनके तपका वर्णन आता है (१७ । १४-१६), उस तपको लेते हुए भी यहाँ वास्तवमें 'तप'का अर्थ है—अपने धर्मका पालन करते हुए जो कष्ट हो अथवा कष्ट आ जाय, उसको प्रसन्नतापूर्वक सहना अर्थात् कष्टके आनेपर चित्तमें प्रसन्नताका होना ।

'शौचम्'—अपने मन, बुद्धि, इन्द्रियाँ, शरीर आदिको पवित्र रखना तथा अपने खान-पान, व्यवहार आदिकी पवित्रता रखना—इस प्रकार 'शौचाचार-सदाचारका ठीक पालन करनेका नाम 'शौच' है ।

'क्षान्तिः'—कोई कितना ही अपमान करे, निन्दा करे, दुःख दे और अपनेमें उसको दण्ड देनेकी योग्यता, बल, अधिकार भी हो, फिर भी उसको दण्ड न देकर उसके क्षमा माँगे बिना ही प्रसन्नतापूर्वक माफ कर देनेका नाम 'क्षान्ति' है।

'आर्जवम्'—शरीर, वाणी आदिके व्यवहारमें सरलता हो और मनमें छल, कपट, छिपाव आदि दुर्भाव न हों अर्थात् सीधा-सादापन हो, उसका नाम 'आर्जव' है।

'ज्ञानम्'—वेद, शास्त्र, पुराण, इतिहास आदिका अच्छी तरह अध्ययन होना और उनके भावोंका ठीक तरहसे बोध होना तथा कर्तव्य-अकर्तव्यका बोध होना 'ज्ञान' है।

'विज्ञानम्'—यज्ञमें स्रुक्, स्रुवा आदि वस्तुओंका किस अवसरपर किस विधिसे प्रयोग करना चाहिये—इसका अर्थात् यज्ञविधिका अनुभव कर लेने (अच्छी तरह करके देख लेने) का नाम 'विज्ञान' है।

'आस्तिक्यम्'—परमात्मा, वेदादि शास्त्र, परलोक आदिका हृदयमें आदर हो, श्रद्धा हो और उनकी सत्यतामें कभी सन्देह न हो तथा उनके अनुसार अपना आचरण हो, इसका नाम 'आस्तिक्य' है।

'ब्रह्मकर्म स्वभावजम्'—ये शम, दम आदि ब्राह्मणके स्वाभाविक गुण हैं अर्थात् इन गुणोंको धारण करनेमें ब्राह्मणको परिश्रम नहीं पड़ता।

जिन ब्राह्मणोंमें सत्त्वगुणकी प्रधानता है, जिनकी वंश-परम्परा परम शुद्ध है और जिनके पूर्वजन्मकृत कर्म भी शुद्ध हैं, ऐसे ब्राह्मणोंके लिये ही शम, दम आदि गुण स्वाभाविक होते हैं और उनमें किसी गुणके न होनेपर अथवा किसी गुणमें कमी होनेपर भी उसकी पूर्ति करना उन ब्राह्मणोंके लिये सहज है।

चारों वर्णोंकी रचना गुणोंकी तारतम्यतासे की गयी है, इस वास्ते गुणोंके अनुसार उस-उस वर्णमें वे-वे कर्म स्वाभाविक प्रकट हो जाते हैं और दूसरे कर्म गौण हो जाते हैं। जैसे, ब्राह्मणमें सत्त्वगुणकी प्रधानता होनेसे उसमें शम, दम आदि कर्म स्वाभाविक आते हैं और जीविकाके कर्म गौण हो जाते हैं और दूसरे वर्णोंमें रजोगुण तथा तमोगुणकी प्रधानता होनेसे उन वर्णोंके जिविकाके कर्म भी स्वाभाविक कर्मोंमें सम्मिलित हो जाते हैं। इसी दृष्टिसे गीतामें ब्राह्मणके स्वभावज कर्मोंमें जीविकाके कर्म न कह करके शम, दम आदि कर्म ही कहे गये हैं।

सम्बन्ध—

अब क्षत्रियके स्वाभाविक कर्म बताते हैं—

श्लोक—

शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम्।
दानमीश्वरभावश्च क्षात्रं कर्म स्वभावजम्॥ ४३॥

व्याख्या—

'शौर्यम्'—मनमें अपने धर्मका पालन करनेकी तत्परता हो, धर्ममय युद्ध* प्राप्त होनेपर युद्धमें चोट लगने, अङ्ग कट जाने, मर

* अपना युद्ध करनेका विचार भी नहीं है, कोई स्वार्थ भी नहीं है, पर परिस्थितिवशात् केवल कर्तव्यरूपसे प्राप्त हुआ है, वह 'धर्ममय युद्ध' है।

जाने आदिका किञ्चिन्मात्र भी भय न हो, घाव होनेपर भी मनमें प्रसन्नता और उत्साह रहे और सिर कटनेपर भी पहले-जैसे ही अस्त्र-शस्त्र चलाता रहे, उसका नाम 'शौर्य' है।

'*तेजः*'—*जिस प्रभाव या शक्तिके सामने पापी-दुराचारी मनुष्य* भी पाप-दुराचार करनेमें हिचकते हैं, जिसके सामने लोगोंकी मर्यादा-विरुद्ध चलनेकी हिम्मत नहीं होती अर्थात् लोग स्वाभाविक ही मर्यादामें चलते हैं, उसका नाम 'तेज' है।

'**धृतिः**'—विपरीत-से-विपरीत अवस्थामें भी अपने धर्मसे विचलित न होने और शत्रुओंके द्वारा धर्म तथा नीतिसे विरुद्ध अनुचित व्यवहारसे सताये जानेपर भी धर्म तथा नीति-विरुद्ध कार्य न करके धैर्यपूर्वक उसी मर्यादामें चलनेका नाम 'धृति' है।

'**दाक्ष्यम्**'—*प्रजापर शासन करनेकी, प्रजाको यथायोग्य* व्यवस्थित रखनेकी और उसका संचालन करनेकी विशेष योग्यता, चतुराईका नाम 'दाक्ष्य' है।

'**युद्धे चाप्यपलायनम्**'—युद्धमें कभी पीठ न दिखाना, मनमें कभी हार स्वीकार न करना, युद्ध छोड़कर कभी न भागना—यह युद्धमें 'अपलायन' है।

'**दानम्**'—क्षत्रियलोग दान देते हैं तो देनेमें कमी नहीं [illegible] बड़ी उदारतापूर्वक देते हैं। वर्तमानमें दान-पुण्य करनेका [illegible] वैश्योंमें देखनेमें आता है; परंतु वैश्यलोग दान देनेमें [illegible] करते हैं अर्थात् इतनेसे ही काम चल [illegible]

जाय—ऐसा द्रव्यका लोभ उनमें रहता है। द्रव्यका लोभ रहनेसे धर्मका पालन करनेमें बाधा आ जाती है, कमी आ जाती है, जिससे सात्त्विक दान (गीता १७ । २०) देनेमें कठिनता पड़ती है। परंतु क्षत्रियोंमें दानवीरता होती है। इस वास्ते यहाँ 'दान' शब्द क्षत्रियोंके स्वभावमें आया है।

'ईश्वरभावश्च'—क्षत्रियोंमें स्वाभाविक ही शासन करनेकी प्रवृत्ति होती है। लोगोंके नीति, धर्म और मर्यादा-विरुद्ध आचरण देखनेपर उनके मनमें स्वाभाविक ही ऐसी बात आती है कि ये लोग ऐसा क्यों कर रहे हैं; और उनको नीति, धर्मके अनुसार चलानेकी इच्छा होती है। अपने शासन द्वारा सबको अपनी-अपनी मर्यादाके अनुसार चलानेका भाव रहता है। इस ईश्वरभावमें अभिमान नहीं होता; क्योंकि क्षत्रियजातिमें नम्रता, सरलता आदि गुण देखनेमें आते हैं।

'क्षात्रं कर्म स्वभावजम्'—जो मात्र प्रजाकी दुःखोंसे रक्षा करे, उसका नाम 'क्षत्रिय' है—**'क्षतात् त्रायत इति क्षत्रियः'**। उस क्षत्रियके जो स्वाभाविक कर्म हैं, वे क्षात्रकर्म कहलाते हैं।

सम्बन्ध—

अब वैश्य और शूद्रके स्वाभाविक कर्म बताते हैं।

श्लोक—

कृषिगौरक्ष्यवाणिज्यं वैश्यकर्म स्वभावजम्।
परिचर्यात्मकं कर्म शूद्रस्यापि स्वभावजम् ॥४४॥

व्याख्या—

'कृषिगौरक्ष्यवाणिज्यं वैश्यकर्म स्वभावजम्'—खेती करना, गायोंकी रक्षा करना, उनकी वंश वृद्धि करना और शुद्ध व्यापार करना—ये गुण वैश्यमें स्वाभाविक होते हैं।

शुद्ध व्यापार करनेका तात्पर्य है—जिस देशमें, जिस समय, जिस वस्तुकी आवश्यकता हो, लोगोंके हितकी भावनासे उस वस्तुको (जहाँ वह मिलती हो, वहाँसे ला करके) उसी देशमें पहुँचाना; प्रजाकी आवश्यक वस्तुओंके अभावकी पूर्ति कैसे हो, वस्तुओंके अभावमें कोई कष्ट न पावे—इस भावसे सचाईके साथ वस्तुओंका यातायात करते हुए वितीर्ण करना।

भगवान् श्रीकृष्ण (नन्दबाबाको लेकर) अपनेको वैश्य ही मानते हैं*। इस वास्ते उन्होंने स्वयं गायों और बछड़ोंको चराया और यहाँ मनु महाराजने वैश्य-वृत्तिमें 'पशूनां रक्षणम्' (मनुस्मृति १। ९०) (पशुओंकी रक्षा करना) कहा है, पर यहाँ भगवान् (उपर्युक्त पदोंसे) अपने जाति-भाइयोंसे मानो यह कहते हैं कि तुमलोग सब पशुओंका पालन, उनकी रक्षा न कर सको तो कम-से-कम गायोंका पालन और उनकी रक्षा जरूर करना। गायोंकी वृद्धि न कर सको तो कोई बात नहीं; परंतु उनकी रक्षा जरूर करना, जिससे हमारा गोधन घट न जाय। इस वास्ते वैश्य-समाजको चाहिये कि वह

* कृषिवाणिज्यगोरक्षा कुसीदं तुर्यमुच्यते।
वार्ता चतुर्विधा तत्र वयं गोवृत्तयोऽनिशम्॥
(श्रीमद्भा० १०। २४। २१)

गायोंकी रक्षामें अपना तन-मन-धन लगा दे, उनकी रक्षामें अपनी शक्ति बचाकर न रखे ।

'परिचर्यात्मकं कर्म शूद्रस्यापि स्वभावजम्'—चारों वर्णोंकी सेवा करना, सेवाकी सामग्री तैयार करना और चारों वर्णोंके कार्यमें कोई बाधा, अड़चन न हो, सबको सुख-आराम हो—इस भावसे अपनी बुद्धि, योग्यता, बलके द्वारा सबकी सेवा करना शूद्रका स्वाभाविक कर्म है ।

यहाँ एक शङ्का पैदा होती है कि भगवान्‌ने चारों वर्णोंकी उत्पत्तिमें सत्त्व, रज और तम—इन तीन गुणोंको कारण बताया । उसमें तमोगुणकी प्रधानतासे शूद्रकी उत्पत्ति बतायी और गीतामें जहाँ तमोगुणका वर्णन हुआ है, वहाँपर अज्ञान, प्रमाद, आलस्य, निद्रा, अप्रकाश, अप्रवृत्ति और मोह—ये सात अवगुण बताये हैं* । तो ऐसे तमोगुणकी प्रधानतावाले शूद्रसे 'सेवा' कैसे होगी ? क्योंकि वह आलस्य, प्रमाद आदिमें पड़ा रहेगा तो सेवा कैसे कर सकेगा ? सेवा बहुत ऊँचे दर्जेकी चीज है । ऐसे ऊँचे कर्मका भगवान्‌ने जटायुके लिये कैसे विधान किया ?

---

* तमस्त्वज्ञानजं विद्धि मोहनं सर्वदेहिनाम् ।
प्रमादालस्यनिद्राभिस्तन्निबध्नाति भारत ॥
(गीता १४ । ८)

अप्रकाशोऽप्रवृत्तिश्च प्रमादो मोह एव च ।
(गीता १४ । १३)

प्रमादमोहौ तमसो भवतोऽज्ञानमेव च ॥
(गीता १४ । १७)

इसका समाधान इस प्रकार है—यदि इस शङ्कापर गुणोंकी दृष्टिसे विचार किया जाय तो गीतामें आया है कि सत्त्वगुणवाले ऊँचे लोकोंमें जाते हैं, रजोगुणवाले मरकर पीछे मध्यलोक अर्थात् मृत्युलोकमें आते हैं और तमोगुणवाले अधोगतिमें जाते हैं* । इसमें भी वास्तवमें देखा जाय तो रजोगुणके बढ़नेपर जो मरता है, वह कर्मप्रधान मनुष्ययोनिमें जन्म लेता है—'रजसि प्रलयं गत्वा कर्मसङ्गिषु जायते' (गीता १४ । १५) इन सबका तात्पर्य यह हुआ कि मनुष्यमात्र रजःप्रधान (रजोगुणकी प्रधानतावाला) है । रजःप्रधानवालोंमें जो सात्त्विक, राजस और तामस—तीन गुण होते हैं, उन तीनों गुणोंसे ही चारों वर्णोंकी रचना की गयी है । इस वास्ते कर्म करना सबमें मुख्य होता है और इसीको लेकर मनुष्योंको कर्मयोनि कहा गया है तथा गीतामें भी चारों वर्णोंके कर्मोंके लिये 'स्वभावज कर्म', 'स्वभावनियत कर्म' आदि पद आये हैं । इस वास्ते शूद्रका परिचर्या अर्थात् सेवा करना 'स्वभावज कर्म' है, जिसमें उसे परिश्रम नहीं होता ।

मनुष्यमात्र कर्मयोनि होनेपर भी ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यमें विवेक-विचारकी विशेष तारतम्यता रहती है और शुद्धि भी रहती है, परंतु शूद्रमें मोहकी प्रधानता रहनेसे उसमें विवेक बहुत दब जाता है । इस दृष्टिसे शूद्रके सेवा-कर्ममें विवेककी प्रधानता न होकर आज्ञाकी प्रधानता रहती है—'अग्या सम न सुसाहिब सेवा' (मानस

* ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्था मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः ।
जघन्यगुणवृत्तिस्था अधो गच्छन्ति तामसाः ॥
(गीता १४ । १८)

२ । ३० । २) इस वास्ते चारों वर्णोंकी आज्ञाके अनुसार सेवा करना, सुख-सुविधा जुटा देना शूद्रके लिये स्वाभाविक होता है ।

शूद्रोंके कर्म परिचर्यात्मक अर्थात् सेवास्वरूप होते हैं। उनके शारीरिक, सामाजिक, नागरिक, ग्रामणिक आदि सब-के-सब कर्म ठीक तरहसे सम्पन्न होते हैं, जिनसे चारों ही वर्णोंके जीवन-निर्वाहके लिये सुख-सुविधा, अनुकूलता और आवश्यकताकी पूर्ति होती है ।

स्वाभाविक कर्मोंका तात्पर्य—

वास्तवमें चेतन-तत्त्व स्वतः-स्वाभाविक निर्विकार, सम और शान्तरूपसे स्थित है । उसी चेतन-तत्त्व परमात्माकी शक्ति प्रकृति स्वतः-स्वाभाविक क्रियाशील है । उसमें नित्य-निरन्तर क्रिया होती रहती है—**'प्रकर्षेण करणं प्रकृतिः'** । यद्यपि प्रकृतिको सक्रिय और अक्रिय—दो अवस्थावाली (सर्ग-अवस्थामें सक्रिय और प्रलय-अवस्थामें अक्रिय) कहते हैं, तथापि सूक्ष्म विचार करें तो प्रलय-अवस्थामें भी क्रियाशीलता मिटती नहीं है । कारण कि जब प्रलयका आरम्भ होता है, तब प्रकृति लय-अवस्थाकी तरफ चलती है और जब प्रलयका मध्यभाग आता है, तब प्रकृति सर्गकी तरफ चलती है । इस प्रकार प्रकृतिमें सूक्ष्म क्रिया चलती ही रहती है । प्रकृतिकी सूक्ष्म क्रियाको ही अक्रिय-अवस्था कहते हैं; क्योंकि इस अवस्थामें सृष्टिकी रचना नहीं होती । परंतु महासर्गमें जब सृष्टिकी रचना होती है, तब सर्गके आदिसे सर्गके मध्यतक प्रकृति सर्गकी तरफ चलती है और सर्गका मध्यभाग आनेपर प्रकृति प्रलयकी तरफ चलती है । इस प्रकार प्रकृतिकी स्थूल क्रियाको सक्रिय-अवस्था कहते हैं ।

सूर्यका उदय होता है, फिर वह मध्यमें आ जाता है, और फिर वह अस्त हो जाता है, तो इससे माल्रूम होता है कि प्रातः सूर्योदय होनेपर प्रकाश मध्याह्नतक बढ़ता जाता है और मध्याह्नसे सूर्यास्ततक प्रकाश घटता जाता है। सूर्यास्त होनेके बाद आधी राततक अन्धकार बढ़ता जाता है और आधी रातसे सूर्योदयतक अन्धकार घटता जाता है। वास्तवमें सूक्ष्म प्रकाश और अन्धकारकी सन्धि मध्याह्न और मध्य रात ही है, पर वह दीखती है सूर्योदय और सूर्यास्तके समय। इस दृष्टिसे प्रकाश और अन्धकारकी क्रिया मिटती नहीं, प्रत्युत निरन्तर होती ही रहती है। ऐसे ही सर्ग और प्रलय, महासर्ग और महाप्रलयमें भी प्रकृतिमें क्रिया होती ही रहती है।

इस क्रियाशील प्रकृतिके कार्य शरीरके साथ जब यह प्राणी सम्बन्ध जोड़ लेता है, तब शरीरद्वारा होनेवाली स्वाभाविक क्रियाएँ (तादात्म्यके कारण) अपनेमें प्रतीत होने लगती हैं। प्रकृतिके साथ सम्बन्ध स्वयं चेतनने ही जोड़ा है, प्रकृतिने नहीं; क्योंकि सम्बन्ध जोड़नेकी शक्ति चेतनमें ही है, जड़ प्रकृतिमें नहीं। इस वास्ते सम्बन्ध-विच्छेद करनेकी जिम्मेवारी भी इसपर ही है, क्योंकि पुरुषने ही सम्बन्ध माना है। वास्तवमें संसारके साथ माना हुआ सम्बन्ध भी प्रतिक्षण छूटता जा रहा है। जैसे, मनुष्य मानता था कि मैं बच्चा हूँ, पर उस बचपन अवस्थासे उसको सम्बन्ध-विच्छेद करना नहीं पड़ा, प्रत्युत अपने-आप सम्बन्धविच्छेद हो गया। इसी प्रकार युवा और वृद्ध अवस्थासे भी सम्बन्ध-विच्छेद हो रहा है। ऐसे ही देश, काल, वस्तु, परिस्थिति, व्यक्ति आदि

सभी अभावमें जा रहे हैं, पर मैं (स्वयं—अपना स्वरूप) ज्यों-का-त्यों ही रह रहा हूँ अर्थात् मैं जब बच्चा था तो वह शरीर और परिस्थिति, वस्तु, व्यक्ति आदि सभी बदल गये, पर मैं ज्यों-का-त्यों हूँ। तात्पर्य यह है कि यदि हम इन आने-जानेवाली परिस्थिति, अवस्था, वस्तु, देश, काल, घटना आदिको देखते रहें और इनके साथ न मिलें तथा इनको अपने साथ न मिलावें तो हम स्वतःसिद्ध मुक्तिका अनुभव करेंगे।

चेतन परमात्मा और जड़ प्रकृति—दोनोंका स्वभाव भिन्न-भिन्न है। चेतन स्वाभाविक ही निर्विकार अर्थात् परिवर्तनरहित है और प्रकृति स्वाभाविक ही विकारी अर्थात् परिवर्तनशील है। अतः इन दोनोंका स्वभाव भिन्न-भिन्न होनेसे इनका सम्बन्ध स्वाभाविक नहीं हैं; किंतु चेतनने प्रकृतिके साथ अपना सम्बन्ध मानकर उस सम्बन्धकी सद्भावना कर ली है अर्थात् 'सम्बन्ध है' ऐसा मान लिया है। इसीको गुणोंका सङ्ग कहते हैं, जो जीवात्माके अच्छी-बुरी योनियोंमें जन्म लेनेका कारण है—**'कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु'** (गीता १३। २१) इस सङ्गके कारण, गुणोंकी तारतम्यतासे जीवका ब्राह्मणादि वर्णमें जन्म होता है; जैसे—सत्त्वगुण प्रधान, रजोगुण गौण और तमोगुण अत्यन्त न्यून होनेपर 'ब्राह्मण' होता है; रजोगुण प्रधान, सत्त्वगुण गौण और तमोगुण अत्यन्त कम होनेपर 'क्षत्रिय' होता है; रजोगुण प्रधान, तमोगुण गौण और सत्त्वगुण बहुत थोड़ा होनेपर 'वैश्य' होता है; और तमोगुण प्रधान, रजोगुण गौण और सत्त्वगुण बहुत थोड़ा होनेपर 'शूद्र' होता है। इस प्रकार

गुणोकी तारतम्यतासे जिस वर्णमें जन्म होता है, उन गुणोंके अनुसार ही उस वर्णके कर्म स्वाभाविक, सहज होते हैं; जैसे—ब्राह्मणके लिये शम, दम आदि, क्षत्रियके लिये शौर्य, तेज आदि, वैश्यके लिये खेती, गौरक्षा आदि और शूद्रके लिये सेवा—ये कर्म स्वतः-स्वाभाविक होते हैं। तात्पर्य है कि चारों वर्णोंको इन कर्मोंको करनेमें परिश्रम नहीं होता; क्योंकि गुणोंके अनुसार स्वभाव और स्वभावके अनुसार उनके लिये कर्मोंका विधान है। इस वास्ते इन कर्मोंमें उनकी स्वाभाविक ही रुचि होती है। मनुष्य इन स्वाभाविक कर्मोंको जब अपने लिये अर्थात् अपने स्वार्थ, भोग और आरामके लिये करता है तो वह उन कर्मोंसे बँध जाता है। जब उन्हीं कर्मोंको स्वार्थ और अभिमानका त्याग करके निष्कामभावपूर्वक संसारके हितके लिये करता है तो 'कर्मयोग' हो जाता है, और उन्हीं कर्मोंसे सब संसारमें व्यापक परमात्माका पूजन करता है तो 'भक्तिमिश्रित कर्मयोग' हो जाता है। जब भगवत्परायण होकर केवल भगवत्सम्बन्धी कर्म (जप, ध्यान, सत्सङ्ग, स्वाध्याय आदि) करता है तो वह भक्तियोग हो जाता है। फिर प्रकृतिके गुणोका सर्वथा सम्बन्ध-विच्छेद हो जानेपर केवल एक परमात्मतत्त्व ही रह जाता है, जिसमें सिद्ध महापुरुषके स्वरूपकी स्वतः-सिद्ध स्वतन्त्रता, अखण्डता, निर्विकारताकी अनुभूति रह जाती है। फिर भी उसके शरीर, मन, बुद्धि और इन्द्रियोंके द्वारा अपने-अपने वर्ण, आश्रमकी मर्यादाके अनुसार निर्लिप्ततापूर्वक शास्त्रविहित कर्म स्वाभाविक होते हैं, जो कि संसारमात्रके लिये आदर्श होते हैं। प्रभुकी तरफ आकृष्ट होनेसे प्रतिक्षण प्रेम बढ़ता रहता है, जो अनन्त आनन्दस्वरूप है।

जाति जन्मसे मानी जाय या कर्मसे ?

ऊँच-नीच योनियोंमें जितने भी शरीर मिलते हैं, वे सब गुण और कर्मके अनुसार ही मिलते हैं* । गुण और कर्मके अनुसार ही मनुष्यका जन्म होता है; इस वास्ते मनुष्यकी जाति जन्मसे ही मानी जाती है । अतः स्थूलशरीरकी दृष्टिसे विवाह, भोजन आदि जन्मकी प्रधानतासे ही करना चाहिये अर्थात् अपनी जाति या वर्णके अनुसार ही भोजन, विवाह आदि कर्म होने चाहिये ।

दूसरी बात, जिस प्राणीका सांसारिक भोग, धन, मान, आराम, सुख आदिका उद्देश्य रहता है, उसके लिये वर्णके अनुसार कर्तव्य-कर्म करना और वर्णकी मर्यादामें चलना अनिवार्य हो जाता है । यदि वह वर्णकी मर्यादामें नहीं चलता तो उसका पतन हो जाता है† । परंतु जिसका उद्देश्य केवल परमात्मा ही है, संसारके भोग

---

* कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु ॥
(गीता १३ । २१)

कर्मणः सुकृतस्याहुः सात्त्विकं निर्मलं फलम् ।
रजसस्तु फलं दुःखमज्ञानं तमसः फलम् ॥
(गीता १४ । १६)

ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्था मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः ।
जघन्यगुणवृत्तिस्था अधो गच्छन्ति तामसाः ॥
(गीता १४ । १८)

† आचारहीनं न पुनन्ति वेदा यद्यप्यधीताः सह षड्भिरङ्गैः ।
छन्दांस्येनं मृत्युकाले त्यजन्ति नीडं शकुन्ता इव जातपक्षाः ॥
(वसिष्ठस्मृति)

आदि प्राप्त करना नहीं है, उसके लिये सत्सङ्ग, स्वाध्याय, जप, ध्यान, कथा, कीर्तन, परस्पर विचार-विनिमय आदि भगवत्सम्बन्धी काम मुख्य होंगे। तात्पर्य है कि परमात्माकी प्राप्तिमें प्राणीके पारमार्थिक भाव, आचरण आदिकी मुख्यता है जाति या वर्णकी नहीं।

तीसरी बात, जिसका उद्देश्य परमात्माकी प्राप्तिका है, वह भगवत्सम्बन्धी कार्योंको मुख्यतासे करते हुए भी वर्ण-आश्रमके अनुसार अपने कर्तव्य-कर्मोंको पूजन-बुद्धिसे केवल भगवत्प्रीत्यर्थ ही करता है। इस वास्ते आगे भगवान्‌ने कहा है—

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः॥

(१८।४६)

इस श्लोकमें बड़ी श्रेष्ठ बात बतायी है कि जिससे सम्पूर्ण संसार पैदा हुआ है और जिससे सम्पूर्ण संसार व्याप्त है, उस परमात्माका ही लक्ष्य रखकर, उसके प्रीत्यर्थ ही पूजन-रूपसे अपने-अपने वर्णके अनुसार कर्म किये जायँ। इसमें मनुष्यमात्रका अधिकार है। देवता, असुर, पशु, पक्षी आदिका स्वतः अधिकार नहीं है; परंतु उनके लिये परमात्माकी तरफसे निषेध नहीं है। कारण कि सभी परमात्माका

'शिक्षा, कल्प, निरुक्त, छन्द, व्याकरण और ज्योतिष—इन छहों अङ्गोंसहित अध्ययन किये हुए वेद आचारहीन पुरुषको पवित्र नहीं करते। पर पैदा होनेपर पक्षी जैसे अपने घोंसलेको छोड़ देता है, वैसे ही मृत्यु-समयमें आचारहीन पुरुषको वेद छोड़ देते हैं।'

अंश होनेसे परमात्माकी प्राप्तिके सभी अधिकारी हैं। प्राणिमात्रका भगवान्‌पर पूरा अधिकार है। इससे भी यह सिद्ध होता है कि आपसके व्यवहारमें अर्थात् रोटी-बेटी और शरीर आदिके साथ बर्ताव करनेमें तो जन्मकी मुख्यता है, और परमात्माकी प्राप्तिमें भाव, विवेक और कर्मकी प्रधानता है। इसी आशयको लेकर भागवतकारने कहा है कि जिस पुरुषके वर्णको बतानेवाला जो लक्षण कहा गया है, वह यदि दूसरे वर्णवालेमें भी मिले तो उसे भी उसी वर्णका समझ लेना चाहिये*। अभिप्राय यह है कि ब्राह्मणके शम-दम आदि जितने लक्षण हैं, वे लक्षण या गुण स्वाभाविक ही किसीमें हों तो जन्ममात्रसे नीचा होनेपर भी उसको नीचा नहीं मानना चाहिये। ऐसे ही महाभारतमें युधिष्ठिर और नहुषके संवादमें आया है कि जो शूद्र आचरणोंमें श्रेष्ठ है, उस शूद्रको शूद्र नहीं मानना चाहिये और ब्राह्मण ब्राह्मणोचित कर्मोंसे रहित है, उस ब्राह्मणको ब्राह्मण नहीं मानना चाहिये† अर्थात् वहाँ कर्मोंकी ही प्रधानता ली गयी है, जन्मकी नहीं।

---

* यस्य यल्लक्षणं प्रोक्तं पुंसो वर्णाभिव्यञ्जकम्।
यदन्यत्रापि दृश्येत तत् तेनैव विनिर्दिशेत्॥
(श्रीमद्भा० ७।११।३५)

† शूद्रे तु यद् भवेल्लक्ष्म द्विजे तच्च न विद्यते।
न वै शूद्रो भवेच्छूद्रो ब्राह्मणो न च ब्राह्मणः॥
यत्रैतल्लक्ष्यते सर्प वृत्तं स ब्राह्मणः स्मृतः।
यत्रैतन्न भवेत् सर्प तं शूद्रमिति निर्दिशेत्॥
(महाभारत, वनपर्व १८०।२५-२६)

शास्त्रोंमें जो ऐसे वचन आते हैं, उन सबका तात्पर्य है कि कोई भी नीचे वर्णवाला साधारण-से-साधारण मनुष्य अपनी पारमार्थिक उन्नति कर सकता है, इसमें सन्देहकी कोई बात नहीं है। इतना ही नहीं, वह उसी वर्णमें रहता हुआ शम, दम आदि जो सामान्य धर्म हैं, उनका साङ्गोपाङ्ग पालन करता हुआ अपनी श्रेष्ठताको प्रकट कर सकता है। जन्म तो पूर्वकर्मोंके अनुसार हुआ है*, इसमें वह बेचारा क्या कर सकता है; परंतु वहीं (नीचे वर्णमें) रहकर भी वह अपनी नयी उन्नति कर सकता है। उस नयी उन्नतिमें प्रोत्साहित करनेके लिये ही शास्त्र-वचनोंका आशय मालूम देता है कि नीचे वर्णवाला भी नयी उन्नति करनेमें हिम्मत न हारे। जो ऊँचे वर्णवाला होकर भी वर्णोचित काम नहीं करता, उसको अपने वर्णोचित काम करनेके लिये शास्त्रोंमें प्रोत्साहित किया है; जैसे—

'ब्राह्मणस्य हि देहोऽयं क्षुद्रकामाय नेष्यते।'
(श्रीमद्भा० ११ । १७ । ४२)

जिन ब्राह्मणोंका खान-पान, आचरण, सर्वथा भ्रष्ट है, उन ब्राह्मणोंका वचनमात्रसे भी आदर नहीं करना चाहिये—ऐसा स्मृतिमें आया है। परंतु जिनके आचरण श्रेष्ठ हैं, जो भगवान्के भक्त हैं, उन ब्राह्मणोंकी भागवत आदि पुराणोंमें और महाभारत, रामायण आदि इतिहास-ग्रन्थोंमें बहुत महिमा गायी गयी है।

---

* सति मूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगाः।
(योगदर्शन २।१३)

भगवान्‌का भक्त चाहे कितनी ही नीची जातिका क्यों न हो, वह भक्तिहीन विद्वान् ब्राह्मणसे भी श्रेष्ठ है * ।

* अहो बत श्वपचोऽतो गरीयान् यज्जिह्वाग्रे वर्तते नाम तुभ्यम् ।
तेपुस्तपस्ते जुहुवुः सस्नुरार्या ब्रह्मानूचुर्नाम गृणन्ति ये ते ॥
(श्रीमद्भा० ३ । ३३ । ७)

'अहो ! वह चाण्डाल भी सर्वश्रेष्ठ है, जिसकी जीभके अग्रभागपर आपका नाम विराजता है । जो श्रेष्ठ पुरुष आपका नाम उच्चारण करते हैं, उन्होंने तप, हवन, तीर्थस्नान, सदाचारका पालन और वेदाध्ययन—सब कुछ कर लिया ।

विप्राद् द्विषड्गुणयुतादरविन्दनाभपादारविन्दविमुखाच्छ्वपचं वरिष्ठम् ।
मन्ये तदर्पितमनोवचनेहितार्थप्राणं पुनाति स कुलं न तु भूरिमानः ॥
(श्रीमद्भा० ७ । ९ । १०)

'मेरी समझसे बारह गुणोंसे युक्त ब्राह्मण भी यदि भगवान् कमलनाभके चरण-कमलोंसे विमुख हो तो उससे वह चाण्डाल श्रेष्ठ है जिसने अपने मन, वचन, कर्म, धन और प्राणोंको भगवान्‌के अर्पण कर दिया है; क्योंकि वह चाण्डाल तो अपने कुलतकको पवित्र कर देता है; परंतु बड़प्पनका अभिमान रखनेवाला भगवद्विमुख ब्राह्मण अपनेको भी पवित्र नहीं कर सकता ।'

चाण्डालोऽपि मुनेः श्रेष्ठो विष्णुभक्तिपरायणः ।
विष्णुभक्तिविहीनस्तु द्विजोऽपि श्वपचोऽधमः ॥
(पद्मपुराण)

'हरिभक्तिमें लीन रहनेवाला चाण्डाल भी मुनिसे श्रेष्ठ है, और हरिभक्तिसे रहित ब्राह्मण चाण्डालसे भी अधम है ।'

अवैष्णवाद् द्विजाद् विप्र चाण्डालो वैष्णवो वरः ।
सगणः श्वपचो मुक्तो ब्राह्मणो नरकं व्रजेत् ॥
(ब्रह्मवैवर्त० ब्रह्म० ११ । ३९)

ब्राह्मणको विराट्‌रूप भगवान्‌का मुख, क्षत्रियको हाथ, वैश्यको ऊरु (मध्यभाग) और शूद्रको पैर बताया गया है। ब्राह्मणको मुख बतानेका तात्पर्य है कि उनके पास ज्ञानका संग्रह है, इस वास्ते चारों वर्णोंको पढ़ाना, अच्छी शिक्षा देना और उपदेश सुनाना—यह मुखका ही काम है। इस दृष्टिसे ब्राह्मण ऊँचे हो गये।

क्षत्रियको हाथ बतानेका तात्पर्य है कि वे चारों वर्णोंकी शत्रुओंसे रक्षा करते हैं। रक्षा करना मुख्यरूपसे हाथोंका ही काम है; जैसे शरीरमें फोड़ा-फुंसी आदि हो जाय तो हाथोंसे ही रक्षा की जाती है; शरीरपर चोट आती हो तो रक्षाके लिये हाथ ही आड़ देते हैं, और अपनी रक्षाके लिये दूसरोंपर हाथोंसे ही चोट पहुँचायी जाती है; आदमी कहीं गिरता है तो पहले हाथ ही टिकते हैं। इस वास्ते क्षत्रिय हाथ हो गये। अराजकता फैल जानेपर तो अपने जन, धन आदिकी रक्षा करना चारों वर्णोंका धर्म हो जाता है।

वैश्यको मध्यभाग कहनेका तात्पर्य है कि जैसे पेटमें अन्न, जल, औषध आदि डाले जाते हैं तो उनसे शरीरके सम्पूर्ण

'अवैष्णव ब्राह्मणसे वैष्णव चाण्डाल श्रेष्ठ है; क्योंकि वह वैष्णव चाण्डाल अपने बन्धुगणोंसहित भवबन्धनसे मुक्त हो जाता है और वह अवैष्णव ब्राह्मण नरकमें पड़ता है।'

न शूद्रा भगवद्भक्ता विप्रा भागवताः स्मृताः।
सर्ववर्णेषु ते शूद्रा ये ह्यभक्ता जनार्दने॥

(महाभारत)

'यदि भगवद्भक्त शूद्र है तो वह शूद्र नहीं, परमश्रेष्ठ ब्राह्मण है। वास्तवमें सभी वर्णोंमें शूद्र वह है, जो भगवान्‌की भक्तिसे रहित है।'

भगवान्‌का भक्त चाहे कितनी ही नीची जातिका क्यों न हो, वह भक्तिहीन विद्वान् ब्राह्मणसे भी श्रेष्ठ है * ।

---

* अहो बत श्वपचोऽतो गरीयान् यज्जिह्वाग्रे वर्तते नाम तुभ्यम् ।
तेपुस्तपस्ते जुहुवुः सस्नुरार्या ब्रह्मानूचुर्नाम गृणन्ति ये ते ॥
(श्रीमद्भा० ३ । ३३ । ७)

'अहो ! वह चाण्डाल भी सर्वश्रेष्ठ है, जिसकी जीभके अग्रभागपर आपका नाम विराजता है । जो श्रेष्ठ पुरुष आपका नाम उच्चारण करते हैं, उन्होंने तप, हवन, तीर्थस्नान, सदाचारका पालन और वेदाध्ययन —सब कुछ कर लिया ।

विप्राद् द्विषड्गुणयुतादरविन्दनाभपादारविन्दविमुखाच्छ्वपचं वरिष्ठम् ।
मन्ये तदर्पितमनोवचनेहितार्थप्राणं पुनाति स कुलं न तु भूरिमानः ॥
(श्रीमद्भा० ७ । ९ । १०)

'मेरी समझसे बारह गुणोंसे युक्त ब्राह्मण भी यदि भगवान् कमलनाभके चरण-कमलोंसे विमुख हो तो उससे वह चाण्डाल श्रेष्ठ है जिसने अपने मन, वचन, कर्म, धन और प्राणोंको भगवान्‌के अर्पण कर दिया है; क्योंकि वह चाण्डाल तो अपने कुलतकको पवित्र कर देता है; परंतु बड़प्पनका अभिमान रखनेवाला भगवद्विमुख ब्राह्मण अपनेको भी पवित्र नहीं कर सकता ।'

चाण्डालोऽपि मुनेः श्रेष्ठो विष्णुभक्तिपरायणः ।
विष्णुभक्तिविहीनस्तु द्विजोऽपि श्वपचोऽधमः ॥
(पद्मपुराण)

'हरिभक्तिमें लीन रहनेवाला चाण्डाल भी मुनिसे श्रेष्ठ है, और हरिभक्तिसे रहित ब्राह्मण चाण्डालसे भी अधम है ।'

अवैष्णवाद् द्विजाद् विप्र चाण्डालो वैष्णवो वरः ।
सगणः श्वपचो मुक्तो ब्राह्मणो नरकं व्रजेत् ॥
(ब्रह्मवैवर्त० ब्रह्म० ११ । ३९)

ब्राह्मणको विराट्‌रूप भगवान्‌का मुख, क्षत्रियको हाथ, वैश्यको ऊरु (मध्यभाग) और शूद्रको पैर बताया गया है। ब्राह्मणको मुख बतानेका तात्पर्य है कि उनके पास ज्ञानका संग्रह है, इस वास्ते चारों वर्णोंको पढ़ाना, अच्छी शिक्षा देना और उपदेश सुनाना—यह मुखका ही काम है। इस दृष्टिसे ब्राह्मण ऊँचे हो गये।

क्षत्रियको हाथ बतानेका तात्पर्य है कि वे चारों वर्णोंकी शत्रुओंसे रक्षा करते हैं। रक्षा करना मुख्यरूपसे हाथोंका ही काम है; जैसे शरीरमें फोड़ा-फुंसी आदि हो जाय तो हाथोंसे ही रक्षा की जाती है; शरीरपर चोट आती हो तो रक्षाके लिये हाथ ही आड़ देते हैं, और अपनी रक्षाके लिये दूसरोंपर हाथोंसे ही चोट पहुँचायी जाती है; आदमी कहीं गिरता है तो पहले हाथ ही टिकते हैं। इस वास्ते क्षत्रिय हाथ हो गये। अराजकता फैल जानेपर तो अपने जन, धन आदिकी रक्षा करना चारों वर्णोंका धर्म हो जाता है।

वैश्यको मध्यभाग कहनेका तात्पर्य है कि जैसे पेटमें अन्न, जल, औषध आदि डाले जाते हैं तो उनसे शरीरके सम्पूर्ण

'अवैष्णव ब्राह्मणसे वैष्णव चाण्डाल श्रेष्ठ है; क्योंकि वह वैष्णव चाण्डाल अपने बन्धुगणोंसहित भवबन्धनसे मुक्त हो जाता है और वह अवैष्णव ब्राह्मण नरकमें पड़ता है।'

'न शूद्रा भगवद्भक्ता विप्रा भागवताः स्मृताः।
सर्ववर्णेषु ते शूद्रा ये ह्यभक्ता जनार्दने॥

(महाभारत)

'यदि भगवद्भक्त शूद्र है तो वह शूद्र नहीं, परमश्रेष्ठ ब्राह्मण है। वास्तवमें सभी वर्णोंमें शूद्र वह है, जो भगवान्‌की भक्तिसे रहित है।'

अवयवोंको खुराक मिलती है और सभी अवयव पुष्ट होते हैं, ऐसे ही वस्तुओंका संग्रह करना, उनका यातायात करना, जहाँ जिस चीजकी कमी हो वहाँ पहुँचाना, प्रजाको किसी चीजका अभाव न होने देना वैश्यका काम है। पेटमें अन्न-जलका संग्रह सब शरीरके लिये होता है और साथमें पेटको भी पुष्टि मिल जाती है; क्योंकि मनुष्य केवल पेटके लिये पेट नहीं भरता। ऐसे ही वैश्य केवल संसारके लिये ही संग्रह करे, केवल अपने लिये नहीं। वह ब्राह्मण आदिको दान देता है, क्षत्रियोंको टैक्स देता है, अपना पालन करता है और शूद्रोंको मेहनताना देता है। इस प्रकार वह सबका पालन करता है। यदि वह संग्रह नहीं करेगा, कृषि, गोरक्ष और वाणिज्य नहीं करेगा तो क्या देगा?

शूद्रको चरण बतानेका तात्पर्य है कि जैसे चरण सारे शरीरको उठाये फिरते हैं और पूरे शरीरकी सेवा चरणोंसे ही होती है, ऐसे ही सेवाके आधारपर ही चारों वर्ण चलते हैं। शूद्र अपने सेवा-कर्मके द्वारा सबके आवश्यक कार्योंकी पूर्ति करता है।

उपर्युक्त विवेचनमें ध्यान देनेकी एक बात है कि गीतामें चारों वर्णोंके उन स्वाभाविक कर्मोंका वर्णन है, जो कर्म स्वतः होते हैं, अर्थात् उनको करनेमें अधिक परिश्रम नहीं पड़ता। चारों वर्णोंके लिये और भी दूसरे कर्मोंका विधान है, उनको स्मृति-ग्रन्थोंमें देखना चाहिये और उनके अनुसार अपने आचरण बनाने चाहिये। यही बात गीताजीने कही है—

तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि॥
(१६। २४)

'इसलिये तेरे लिये इस कर्तव्य और अकर्तव्यकी व्यवस्थामें शास्त्र ही प्रमाण है। ऐसा जानकर तू शास्त्रविधिसे नियत कर्म ही करने योग्य है।'

वर्तमानमें चारों वर्णोंमें गड़बड़ी आ जानेपर भी यदि चारों वर्णोंके समुदायोंको इकट्ठा करके अलग-अलग समुदायमें देखा जाय तो ब्राह्मण-समुदायमें शम, दम आदि गुण जितने अधिक मिलेंगे, उतने क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र-समुदायमें नहीं मिलेंगे। क्षत्रिय-समुदायमें शौर्य, तेज आदि गुण जितने अधिक मिलेंगे, उतने ब्राह्मण, वैश्य और शूद्र-समुदायमें नहीं मिलेंगे। वैश्य-समुदायमें व्यापार करना, धनका उपार्जन करना, धनको पचाना (धनका भभका ऊपरसे न दीखने देना) आदि गुण जितने अधिक मिलेंगे, उतने ब्राह्मण, क्षत्रिय और शूद्र-समुदायमें नहीं मिलेंगे। शूद्र-समुदायमें सेवा करनेकी प्रवृत्ति जितनी अधिक मिलेगी, उतनी ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य-समुदायमें नहीं मिलेगी। तात्पर्य यह है कि आज सभी वर्ण मर्यादारहित और उच्छृङ्खल होनेपर भी उनके स्वभावज कर्म उनके समुदायोंमें विशेषतासे देखनेमें आते हैं, अर्थात् यह चीज व्यक्तिगत न दीखकर समुदायगत देखनेमें आती है।

जो लोग शास्त्रके गहरे रहस्यको नहीं जानते, वे कह देते हैं कि ब्राह्मणोंके हाथमें कलम रही, इस वास्ते उन्होंने 'ब्राह्मण सबसे श्रेष्ठ है' ऐसा लिखकर ब्राह्मणोंको सर्वोच्च कह दिया। जिनके पास राज्य था, उन्होंने ब्राह्मणोंसे कहा—क्यों महाराज! हमलोग कुछ नहीं हैं क्या? तो ब्राह्मणोंने कह दिया—नहीं-नहीं, ऐसी बात नहीं।

आपलोग भी हैं, आपलोग दो नम्बरमें हैं। वैश्योंने ब्राह्मणोंसे कहा—क्यों महाराज! हमारे बिना कैसे जीविका चलेगी आपकी? ब्राह्मणोंने कहा—हाँ, हाँ, आपलोग तीसरे नम्बरमें हो। जिनके पास न राज्य था, न धन था, वे ऊँचे उठने लगे तो ब्राह्मणोंने कह दिया—आपके भाग्यमें राज्य और धन लिखा नहीं है। आपलोग तो इन ब्राह्मणों, क्षत्रियों और वैश्योंकी सेवा करो। इस वास्ते चौथे नम्बरमें आपलोग हैं। इस तरह सबको भुलावेमें डालकर विद्या, राज्य और धनके प्रभावसे अपनी एकता करके चौथे वर्णको पददलित कर दिया—यह लिखनेवालोंका अपना स्वार्थ और अभिमान ही है।'

इसका समाधान यह है कि ब्राह्मणोंने कहीं भी अपने ब्राह्मण-धर्मके लिये ऐसा नहीं लिखा है कि ब्राह्मण सर्वोपरि है, इस वास्ते उनको बड़े आरामसे रहना चाहिये, धन-सम्पत्तिसे युक्त होकर मौज करनी चाहिये इत्यादि। प्रत्युत ब्राह्मणोंके लिये ऐसा लिखा है कि उनको त्याग करना चाहिये, कष्ट सहना चाहिये, तपश्चर्या करनी चाहिये। गृहस्थमें रहते हुए भी धन-संग्रह नहीं करना चाहिये, अन्नका संग्रह भी थोड़ा ही होना चाहिये—कुम्भीधान्य अर्थात् एक घड़ा भरा हुआ अनाज हो, लौकिक भोगोंमें आसक्ति नहीं होनी चाहिये, और जीवन-निर्वाहके लिये किसीसे दान भी लिया जाय तो उसका काम करके अर्थात् यज्ञ, होम, जप, पाठ आदि करके ही लेना चाहिये। गोदान आदि लिया जाय तो उसका प्रायश्चित्त करना चाहिये।

यदि ब्राह्मणको श्राद्धका निमन्त्रण देना चाहें तो वह श्राद्धके पहले दिन दें, जिससे ब्राह्मण उनके पितरोंका अपनेमें आवाहन

करके रात्रिमें ब्रह्मचर्य और संयमपूर्वक रह सके। दूसरे दिन वह यजमानके पितरोंका पिण्डदान, तर्पण ठीक विधि-विधानसे करवाये। उसके बाद वहाँ भोजन करे। निमन्त्रण भी एक ही यजमानका स्वीकार करे और भोजन भी एक ही घरका करे। श्राद्धका अन्न खानेके बाद गायत्री-जप आदि करके शुद्ध होना चाहिये। दान लेना, श्राद्धका भोजन करना ब्राह्मणके लिये ऊँचा दर्जा नहीं है। ब्राह्मणका ऊँचा दर्जा त्यागमें है। वे केवल यजमानके पितरोंका कल्याण करनेकी भावनासे ही श्राद्धका भोजन और दक्षिणा स्वीकार करते हैं, स्वार्थकी भावनासे नहीं, तो यह भी उनका त्याग ही है।

ब्राह्मणोंने अपनी जीविकाके लिये ऋत, अमृत, मृत, सत्यानृत और प्रमृत—ये पाँच वृत्तियाँ बतायी हैं*—

(१) ऋत-वृत्ति सर्वोच्च वृत्ति मानी गयी है। इसको शिलोञ्छ या कपोत-वृत्ति भी कहते हैं। खेती करनेवाले खेतमेंसे धान काटकर ले जायँ, उसके बाद वहाँ जो अन्न (ऊमी, मेंढ़ा आदि) पृथ्वीपर गिरा पड़ा हो, वह भूदेवों (ब्राह्मणों) का होता है, अतः उनको चुनकर अपना निर्वाह करना 'शिलोञ्छवृत्ति' है अथवा धान्यमण्डीमें

---

* ऋतामृताभ्यां जीवेत्तु मृतेन प्रमृतेन वा।
सत्यानृताभ्यामपि वा न श्ववृत्त्या कदाचन॥
(मनुस्मृति ४।४)

'ऋत, अमृत, मृत, प्रमृत और सत्यानृत—इनमेंसे किसी भी वृत्तिसे जीवन-निर्वाह करे, परंतु श्वानवृत्ति अर्थात् सेवावृत्तिसे कभी भी जीवन-निर्वाह न करे।'

जहाँ धान्य तौला जाता है, वहाँ पृथ्वीपर गिरे हुए दाने भूदेवोंके होते हैं; अतः उनको चुनकर जीवन-निर्वाह करना 'कपोतवृत्ति' है।

(२) बिना याचना किये और बिना इशारा किये कोई यजमान आकर देता है तो निर्वाहमात्रकी वस्तु लेना अमृत-वृत्ति है। इसको अयाचितवृत्ति भी कहते हैं।

(३) सुबह भिक्षाके लिये गाँवमें जाना और लोगोंको वार, तिथि, मुहूर्त आदि बताकर (इस रूपमें काम करके) भिक्षामें जो कुछ मिल जाय, उसीसे अपना जीवन-निर्वाह करना मृत-वृत्ति है।

(४) व्यापार करके जीवन-निर्वाह करना सत्यानृत-वृत्ति है।

(५) उपर्युक्त चारों वृत्तियोंसे जीवन-निर्वाह न हो तो खेती करे, पर वह भी कठोर विधि-विधानसे करे; जैसे—एक बैलसे हल न चलाये, धूपके समय हल न चलाये आदि। यह प्रमृत-वृत्ति है।

उपर्युक्त वृत्तियोंमेंसे किसी भी वृत्तिसे निर्वाह किया जाय, उसमें पञ्चमहायज्ञ, अतिथि-सेवा करके यज्ञशेष भोजन करना चाहिये।*

---

* ब्राह्मण और क्षत्रियके लिये यह निषेध आया है कि वह श्ववृत्ति (कुत्तेकी वृत्ति) अर्थात् सेवावृत्ति कभी न करे—'न श्ववृत्त्या कदाचन' (मनु० ४।४), 'सेवा श्ववृत्तिराख्याता तस्मात्तां परिवर्जयेत्' (मनु० ४।६)। वास्तवमें सेवावृत्तिका ही निषेध किया गया है, सेवाका नहीं। माता-पिताकी तरह वे नीचे-से-नीचे वर्णकी नीची-से-नीची सेवा कर सकते हैं। नीचे वर्णोंकी सेवा करनेमें उनकी महत्ता ही है। इस वास्ते निन्दा वृत्तिकी ही की गयी है अर्थात् मान-बड़ाई, उपार्जन आदि स्वार्थके लिये सेवा करनेकी निन्दा है। स्वार्थका त्याग करके सेवा करनेकी निन्दा नहीं है।

श्रीमद्भगवद्गीतापर विचार करते हैं तो ब्राह्मणके लिये पालनीय जो नौ स्वाभाविक धर्म बताये गये हैं, उनमें जीविका पैदा करनेवाला एक भी धर्म नहीं है। क्षत्रियके लिये सात स्वाभाविक धर्म बताये हैं, उनमें युद्ध करना और शासन करना—ये दो धर्म कुछ जीविका पैदा करनेवाले हैं। वैश्यके लिये तीन धर्म बताये हैं—खेती, गोरक्षा और व्यापार; ये तीनों ही जीविका पैदा करनेवाले हैं। शूद्रके लिये एक सेवा ही धर्म बताया है जिसमें पैदा-ही-पैदा होती है; दूसरी बात, शूद्रके लिये खान-पान, जीवन-निर्वाह आदिमें बहुत छूट दी गयी है।

भगवान्‌ने 'स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः' (गीता १८।४५) पदोंसे कितनी विचित्र बात बतायी है कि शम, दम आदि नौ धर्मोंके पालनसे ब्राह्मणका जो कल्याण होता है, वही कल्याण शौर्य, तेज आदि सात धर्मोंके पालनसे क्षत्रियका होता है, वही कल्याण खेती, गोरक्षा और व्यापारके पालनसे वैश्यका होता है और वही कल्याण केवल सेवा करनेसे शूद्रका हो जाता है।

आगे भगवान्‌ने एक विलक्षण बात बतायी है कि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र अपने-अपने वर्णोचित कर्मोंके द्वारा उस परमात्माका पूजन करके परम सिद्धिको प्राप्त हो जाते हैं—'स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः' (१८।४६) वास्तवमें कल्याण वर्णोचित कर्मोंसे नहीं होता, प्रत्युत निष्कामभाव-पूर्वक पूजनसे ही होता है। शूद्रका तो स्वाभाविक कर्म ही परि-चर्यात्मक अर्थात् पूजनरूप है; अतः उसका पूजनके द्वारा पूजन होता

अर्थात् उसके द्वारा दुगुनी पूजा होती है । इस वास्ते उसका कल्याण बहुत जल्दी होगा ! उसका कल्याण जितनी जल्दी होगा, उतनी जल्दी ब्राह्मण आदिका नहीं होगा ।

शास्त्रकारोंने उद्धार करनेमें छोटेको ज्यादा प्यार दिया है; क्योंकि छोटा प्यारका पात्र होता है और बड़ा अधिकारका पात्र होता है । बड़ेपर चिन्ता-फिकर ज्यादा रहती है, पर छोटेपर कुछ भी भार नहीं रहता । शूद्रको भाररहित करके उसकी जीविका बतायी गयी है और प्यार भी दिया गया है ।

वास्तवमें देखा जाय तो जो वर्ण-आश्रममें जितना ऊँचा होता है, उसके लिये शास्त्रोंके अनुसार उतने ही कठिन नियम होते हैं, उन नियमोंका साङ्गोपाङ्ग पालन करनेमें कठिनता अधिक बढ़ती है । परंतु जो वर्ण-आश्रममें नीचा होता है, उसको परमात्माकी प्राप्ति सुगमतासे हो जाती है । इस विषयमें विष्णुपुराणमें एक कथा आती है—एक बार बहुत-से ऋषि-मुनि मिलकर श्रेष्ठताका निर्णय करनेके लिये भगवान् वेदव्यासजीके पास गये । व्यासजीने सबको आदरपूर्वक बिठाया और स्वयं गङ्गामें स्नान करने चले गये । गङ्गामें स्नान करते हुए उन्होंने कहा—'कलियुग, तुम धन्य हो ! कलियुग, तुम धन्य हो !! कलियुग, तुम धन्य हो !!! स्त्रियो, तुम धन्य हो ! स्त्रियो, तुम धन्य हो !! स्त्रियो, तुम धन्य हो !!! शूद्रो, तुम धन्य हो ! शूद्रो, तुम धन्य हो !! शूद्रो, तुम धन्य हो !!!' जब व्यासजी स्नान करके ऋषियोंके पास आये तो ऋषियोंने कहा—'महाराज ! आपने कलियुग, स्त्रियों और शूद्रोंको धन्यवाद कैसे दिया ?' तो उन्होंने कहा कि

कलियुगमें अपने धर्मका पालन करनेसे स्त्रियों और शूद्रोंका कल्याण जल्दी और सुगमतापूर्वक हो जाता है।

यहाँ एक और बात सोचनेकी है कि जो अपने स्वार्थका काम करता है, वह समाजमें और संसारमें आदरका पात्र नहीं होता। समाजमें ही नहीं, घरमें भी जो व्यक्ति पेटू और चट्टू होता है, उसकी दूसरे निन्दा करते हैं। ब्राह्मणोंने स्वार्थ-दृष्टिसे अपने ही मुँहसे अपनी (ब्राह्मणोंकी) प्रशंसा, श्रेष्ठताकी बात नहीं कही है। उन्होंने ब्राह्मणोंके लिये त्याग ही बताया है। सात्त्विक पुरुष अपनी प्रशंसा नहीं करते, प्रत्युत दूसरोंकी प्रशंसा, दूसरोंका आदर करते हैं। तात्पर्य है कि ब्राह्मणोंने कभी अपने स्वार्थ और अभिमानकी बात नहीं कही है। यदि वे स्वार्थ और अभिमानकी बात कहते तो वे इतने आदरणीय नहीं होते, संसारमें और शास्त्रोंमें आदर न पाते। वे जो आदर पाते हैं, वह त्यागसे ही पाते हैं।

इस प्रकार मनुष्यको शास्त्रोंका गहरा अध्ययन करके उपर्युक्त सभी बातोंको समझना चाहिये, और ऋषि-मुनियोंपर, शास्त्रकारोंपर झूठा आक्षेप न करके महान् पापसे बचना चाहिये। मनुष्य-शरीर अपने उद्धारके लिये मिला है, उसको प्राप्त करके मनुष्यको अपना पतन नहीं करना चाहिये।

ऊँच-नीच वर्णोंमें प्राणियोंका जन्म मुख्यरूपसे गुणों और कर्मोंके अनुसार होता है—'चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः' (गीता ४।१३); परंतु ऋणानुबन्ध, शाप, वरदान, सङ्ग आदि किसी कारणविशेषसे भी ऊँच-नीच वर्णोंमें जन्म हो जाता है। उन

वर्णोंमें जन्म होनेपर भी वे अपने पूर्वस्वभावके अनुसार ही आचरण करते हैं। यही कारण है कि ऊँचे वर्णमें उत्पन्न होनेपर भी उनके नीचे आचरण देखे जाते हैं, जैसे धुन्धुकारी आदि; और नीचे वर्णमें उत्पन्न होनेपर भी वे महापुरुष होते हैं, जैसे विदुर, कबीर, रैदास आदि।

आज जिस समुदायमें जातिगत, कुलपरम्परागत, समाजगत और व्यक्तिगत जो भी शास्त्र-विपरीत दोष आये हैं, उनको अपने विवेक-विचार, सत्सङ्ग, स्वाध्याय आदिके द्वारा दूर करके अपनेमें स्वच्छता निर्मलता, पवित्रता लानी चाहिये, जिससे अपने मनुष्य-जन्मका ध्येय सिद्ध कर सकें।

सम्बन्ध—

स्वभावज कर्मोंका वर्णन करनेका प्रयोजन क्या है—इसको अब अगले दो श्लोकोंमें बताते हैं।

श्लोक—

स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः।
स्वकर्मनिरतः सिद्धिं यथा विन्दति तच्छृणु ॥ ४५ ॥

व्याख्या—

'स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः'—गीताके
अध्ययनसे ऐसा मालूम होता है कि मनुष्यकी जैसी स्वतःसिद्ध
स्वाभाविक प्रकृति (स्वभाव) है, उसमें अगर यह प्राणी कोई न
उलझन पैदा न करे, राग-द्वेष न करे तो वह प्रकृति उसका
स्वाभाविक ही कल्याण कर दे। तात्पर्य है कि प्रकृतिके

प्रवाहरूपसे अपने-आप होनेवाले जो स्वाभाविक कर्म हैं, उनका स्वार्थ-त्यागपूर्वक प्रीति और तत्परतासे आचरण करे; परंतु कर्मोंके प्रवाहके साथ न राग हो, न द्वेष हो और न फलेच्छा हो। राग-द्वेष और फलेच्छासे रहित होकर क्रिया करनेसे 'करनेका वेग' शान्त हो जायगा, और कर्ममें आसक्ति न होनेसे नया वेग पैदा नहीं होगा। इससे प्रकृतिके पदार्थों और क्रियाओंके साथ निर्लिप्तता (असंगता) आ जायगी। निर्लिप्तता होनेसे प्रकृतिकी क्रियाओंका प्रवाह स्वाभाविक ही चलता रहेगा और उनके साथ अपना कोई सम्बन्ध न रहनेसे साधककी अपने स्वरूपमें स्थिति हो जायगी, जो कि प्राणिमात्रकी स्वतः स्वाभाविक है। अपने स्वरूपमें स्थिति होनेपर इसमें जो स्वाभाविक भूख (रुचि) है, उसका परमात्माकी तरफ स्वाभाविक आकर्षण हो जायगा, पर यह सब होता है कर्मोंमें 'अभिरति' होनेसे, आसक्ति होनेसे नहीं।

कर्मोंमें एक तो 'अभिरति' होती है और एक 'आसक्ति' होती है। अपने स्वाभाविक कर्मोंको केवल दूसरोंके हितके लिये तत्परता और उत्साहपूर्वक करनेसे अर्थात् केवल देनेके लिये कर्म करनेसे मनमें जो प्रसन्नता होती है, उसका नाम 'अभिरति' है। फलकी इच्छासे कुछ करना अर्थात् अपने पानेके लिये कर्म करना 'आसक्ति' है। कर्मोंमें अभिरतिसे कल्याण होता है और कर्मोंकी आसक्तिसे बन्धन होता है।

इस प्रकरणके 'स्वे स्वे कर्मणि', 'स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य', 'स्वभावनियतं कर्म', 'सहजं कर्म' आदि पदोंमें 'कर्म' शब्द

एक वचनमें आया है। इसका तात्पर्य है कि मनुष्य प्रीति और तत्परतापूर्वक एक कर्म करे, चाहे अनेक कर्म करे, उसका उद्देश्य केवल परमात्मप्राप्ति होनेसे उसकी कर्तव्यनिष्ठा एक ही होती है। परमात्मप्राप्तिके उद्देश्यको लेकर मनुष्य जितने भी कर्म करता है, वे सब कर्म अन्तमें उसी उद्देश्यमें ही लीन हो जाते हैं अर्थात् उसी उद्देश्यकी पूर्ति करनेवाले हो जाते हैं। जैसे गङ्गाजी हिमालयसे निकलकर गङ्गासागरतक जाती है तो नद, नदियाँ, झरने, सरोवर, वर्षाका जल—ये सभी उसकी धारामें मिलकर गङ्गामें एक हो जाते हैं, ऐसे ही उद्देश्यवालेके सभी कर्म उसके उद्देश्यमें मिल जाते हैं। परंतु जिसकी कर्मोंमें आसक्ति है, वह एक कर्म करके अनेक फल चाहता है अथवा अनेक कर्म करके एक फल चाहता है; अतः उसका उद्देश्य एक परमात्माकी प्राप्तिका न होनेसे उसकी कर्तव्यनिष्ठा एक नहीं होती। इस वास्ते ऐसे मनुष्यके लिये भगवान्ने कहा है—

बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम्॥

(गीता २।४१)

'अस्थिर विचारवाले सकाम मनुष्योंकी बुद्धियाँ बहुत भेदोंवाली और अनन्त होती हैं।'

'स्वकर्मनिरतः सिद्धिं यथा विन्दति तच्छृणु'—अपने कर्मोंमें प्रीतिपूर्वक तत्परतासे लगा हुआ मनुष्य परमात्माको जैसे प्राप्त होता है, वह सुनो अर्थात् कर्ममात्र परमात्मप्राप्तिका साधन है, इस बातको सुनो और सुन करके ठीक तरहसे समझो।

विशेष बात

मालिककी सुख-सुविधाकी सामग्री जुटा देना, मालिकके दैनिक कार्योंमें अनुकूलता उपस्थित कर देना आदि कार्य तो वेतन लेनेवाला नौकर भी कर सकता है और करता भी है। परंतु उसमें 'क्रिया' (कि इतना काम करना है) की और 'समय' (कि इतने घंटे काम करना है) की प्रधानता रहती है। इस वास्ते वह काम-धंधा 'सेवा' नहीं बन पाता। यदि मालिकका वह काम-धंधा आदरपूर्वक सेव्यबुद्धिसे, महत्त्वबुद्धिसे किया जाय तो वह 'सेवा' हो जायगा।

सेव्यबुद्धि, महत्त्वबुद्धि चाहे जन्मके सम्बन्धसे हो, चाहे विद्याके सम्बन्धसे; चाहे वर्ण-आश्रमके सम्बन्धसे हो, चाहे योग्यता, अधिकार, सद्गुण-सदाचारके सम्बन्धसे। जहाँ महत्त्वबुद्धि हो जाती है, वहाँ सेव्यको सुख-आराम कैसे मिले ? सेव्यकी प्रसन्नता किस बातमें है ? सेव्यका क्या रुख है ? क्या रुचि है ?—ऐसे भाव होनेसे जो भी काम किया जाय, वह 'सेवा' हो जाता है।

सेव्यका वही काम पूजाबुद्धि, भगवद्बुद्धि, गुरुबुद्धि आदिसे किया जाय और पूज्यभावसे चन्दन लगाया जाय, पुष्प चढ़ाये जायँ, माला पहनायी जाय, आरती की जाय तो वह काम 'पूजन' हो जाता है। इससे सेव्यके चरण-स्पर्श अथवा दर्शनमात्रसे चित्तकी प्रसन्नता, हृदयकी गद्‌गदता, शरीरका रोमाञ्चित एवं पुलकित होना आदि होते हैं और सेव्यके प्रति विशेष भाव प्रकट

होते हैं । उससे सेव्यकी सेवामें कुछ शिथिलता आ सकती है; परंतु भावोंके बढ़नेपर अन्तःकरण-शुद्धि, भगवत्प्रेम, भगवद्दर्शन आदि हो जाते हैं ।

मालिकका समय-समयपर काम-धंधा करनेसे नौकरको पैसे मिल जाते हैं और सेव्यकी सेवा करनेसे सेवकको अन्तःकरण-शुद्धिपूर्वक भगवत्प्राप्ति हो जाती है, परंतु पूजाभावके बढ़नेसे तो पूजकको तत्काल भगवत्प्राप्ति हो जाती है । तात्पर्य है कि चरणचापी तो नौकर भी करता है, पर उसको सेवाका आनन्द नहीं मिलता; क्योंकि उसकी दृष्टि पैसोंपर रहती है । परंतु जो सेवाबुद्धिसे चरणचापी करता है, उसको सेवामें विशेष आनन्द मिलता है; क्योंकि उसकी दृष्टि सेव्यके सुखपर रहती है । पूजामें तो चरण छूनेमात्रसे शरी रोमाञ्चित हो जाता है और अन्तःकरणमें एक पारमार्थिक आनन होता है । उसकी दृष्टि पूज्यकी महत्तापर और अपनी लघुता रहती है । ऐसे देखा जाय तो नौकरके काम-धंधेसे मालिकको आराम मिलता है; सेवामें सेव्यको विशेष आराम तथा सुख मिलता है और पूजामें पूजकके भावसे पूज्यको प्रसन्नता होती है, वहाँ शरीरके सुख-आरामकी प्रधानता नहीं है ।

अपने स्वभावज कर्मोंके द्वारा पूजा करनेसे पूजकका भाव बढ़ जाता है तो उसके स्थूल, सूक्ष्म और कारण-शरीरकी चेष्टा, चिन्तन, समाधि आदि सभी छोटी-बड़ी क्रियाएँ सब प्राणियोंमें व्यापक परमात्माकी पूजन-सामग्री बन जाती हैं । उसकी दैनिक-चर्या अर्थात् खाना-पीना आदि सब क्रियाएं भी पूजन-सामग्री बन जाती हैं

जैसे ज्ञानयोगीका 'मैं कुछ भी नहीं करता हूँ', यह भाव हरदम बना रहता है, ऐसे ही अनेक प्रकारकी क्रियाएँ करनेपर भी भक्ति-मिश्रित कर्मयोगीके भीतर एक भगवद्भाव हरदम बना रहता है। उस भावकी गाढ़तामें उसका अहंभाव भी छूट जाता है।

श्लोक—

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः ॥ ४६ ॥

व्याख्या—

'यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्'—जिस परमात्मासे संसार पैदा हुआ है, जिससे सम्पूर्ण संसारका संचालन होता है, जो सबका उत्पादक, आधार और प्रकाशक है और जो सबमें परिपूर्ण है अर्थात् जो परमात्मा अनन्त ब्रह्माण्डोंकी उत्पत्तिके पहले भी था, जो अनन्त ब्रह्माण्डोंके लीन होनेपर भी रहेगा और अनन्त ब्रह्माण्डोंके रहते हुए भी जो रहता है तथा जो अनन्त ब्रह्माण्डोंमें व्याप्त है, उसी परमात्माका अपने-अपने स्वभावज (वर्णोचित स्वाभाविक) कर्मोंके द्वारा पूजन करें।

'स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य'—मनुस्मृतिमें ब्राह्मणोंके लिये छः कर्म बताये गये हैं—स्वयं पढ़ना और दूसरोंको पढ़ाना, स्वयं यज्ञ करना और दूसरोंसे यज्ञ कराना तथा स्वयं दान लेना और दूसरोंको दान देना* (इनमें पढ़ाना, यज्ञ कराना और दान लेना—ये तीन कर्म

* अध्यापनमध्ययनं यजनं याजनं तथा।
दानं प्रतिग्रहं चैव ब्राह्मणानामकल्पयत् ॥
(मनु०

जीविकाके हैं और पढ़ना, यज्ञ करना और दान देना—ये तीन ब्राह्मणके लिये कर्तव्यकर्म हैं)। उपर्युक्त शास्त्रनियत छः कर्म और शम-दम आदि नौ स्वभावज कर्म तथा इनके अतिरिक्त खाना-पीना, उठना-बैठना आदि जितने भी कर्म हैं, उन कर्मोंके द्वारा ब्राह्मण चारों वर्णोंमें व्याप्त परमात्माका पूजन करें। तात्पर्य है कि परमात्मा-की आज्ञासे, उनकी प्रसन्नताके लिये ही भगवद्बुद्धिसे निष्काम-भावपूर्वक सबकी सेवा करें।

ऐसे ही क्षत्रियोंके लिये पाँच कर्म बताये गये हैं—प्रजाकी रक्षा करना, दान देना, यज्ञ करना, अध्ययन करना और विषयोंमें आसक्त न होना*। इन पाँच कर्मों तथा शौर्य, तेज आदि सात स्वभावज कर्मोंके द्वारा तथा खाना-पीना आदि सभी कर्मोंके द्वारा क्षत्रिय सर्वत्र व्यापक परमात्माका पूजन करें।

वैश्य यज्ञ करना, अध्ययन करना, दान देना और ब्याज लेना तथा कृषि, गौरक्ष्य और वाणिज्य†—इन शास्त्रनियत और स्वभावज कर्मोंके द्वारा और शूद्र शास्त्रविहित तथा स्वभावज कर्म

* प्रजानां रक्षणं दानमिज्याऽध्ययनमेव च।
विषयेष्वप्रसक्तिश्च क्षत्रियस्य समासतः॥
(मनु० १। ८९)

† पशूनां रक्षणं दानमिज्याध्ययनमेव च।
वणिक्पथं कुसीदं च वैश्यस्य कृषिमेव च॥
(मनु० १। ९०)

सेवा* के द्वारा सर्वत्र व्यापक परमात्माका पूजन करे अर्थात् अपने शास्त्रविहित, स्वभावज और खाना-पीना, सोना-जागना आदि सभी कर्मोंके द्वारा भगवान्‌की आज्ञासे, भगवान्‌की प्रसन्नताके लिये, भगवद्बुद्धिसे निष्कामभावपूर्वक सबकी सेवा करें।

शास्त्रोंमें मनुष्यके लिये अपने वर्ण और आश्रमके अनुसार जो-जो कर्तव्य-कर्म बताये गये हैं, वे सब संसाररूप परमात्माकी पूजाके लिये ही हैं। यदि साधक अपने कर्मोंके द्वारा भावसे उस परमात्माका पूजन करता है तो उसकी मात्र क्रियाएँ परमात्माकी पूजाके लिये ही होती हैं। जैसे पितामह भीष्मने (अर्जुनके साथ युद्ध करते हुए) अर्जुनके सारथी बने हुए भगवान्‌की अपने युद्धरूप कर्मके द्वारा बाणोंसे पूजा की। भीष्मके बाणोंसे भगवान्‌का कवच टूट गया, जिससे भगवान्‌के शरीरमें घाव हो गये और हाथकी अंगुलियोंमें छोटे-छोटे बाण लगनेसे अंगुलियोंसे लगाम पकड़ना कठिन हो गया। ऐसी पूजा करके अन्त समयमें शरशय्यापर पड़े हुए पितामह भीष्म अपने बाणोंद्वारा पूजित भगवान्‌का ध्यान करते हैं—'युद्धमें मेरे तीखे बाणोंसे जिनका कवच टूट गया है, जिनकी त्वचा विच्छिन्न हो गयी है, परिश्रमके कारण जिनके मुखपर स्वेदकण सुशोभित हो रहे हैं, घोड़ोंकी टापोंसे उड़ी हुई

---

* एकमेव तु शूद्रस्य प्रभुः कर्म समादिशत्।
एतेषामेव वर्णानां शुश्रूषामनसूयया॥
(मनु० १।९१)

रज जिनकी सुन्दर अलकावलीमें लगी हुई है; इस प्रकार बाणोंसे अलंकृत भगवान् कृष्णमें मेरे मन-बुद्धि लग जायँ*।'

लौकिक और पारमार्थिक कर्मोंके द्वारा उस परमात्माका पूजन तो करें, पर उन कर्मोंमें और उनको करनेके करणों-उपकरणोंमें ममता न रखें। कारण कि जिस वस्तु, क्रिया आदिमें ममता हो जाती है, वे सभी चीजें अपवित्र हो जानेसे† पूजा-सामग्री नहीं रहतीं (अपवित्र फल, फूल आदि भगवान्‌पर नहीं चढ़ते)। इस वास्ते 'मेरे पास जो कुछ है, वह सब उस सर्वव्यापक परमात्माका ही है, मुझे तो केवल निमित्त बनकर उनकी दी हुई शक्तिसे उनका पूजन करना है'—इस भावसे जो कुछ किया जाय, वह सब-का-सब परमात्माका पूजन हो जाता है। इसके विपरीत उन कर्म, वस्तु आदिको प्राणी जितना अपना मान लेता है, उतनी ही उसकी अपनी मानी हुई क्रियाएँ, वस्तुएँ (अपवित्र होनेसे) परमात्माके पूजनसे वञ्चित रह जाती हैं।

'सिद्धिं विन्दति मानवः'—सिद्धिको प्राप्त होनेका तात्पर्य है कि अपने कर्मोंसे परमात्माका पूजन करनेवाला मनुष्य प्रकृतिके सम्बन्धसे रहित होकर स्वतः स्वरूपमें स्थित हो जाता है। स्वरूपमें स्थित होनेपर पहले जो परमात्माके समर्पण किया था, उस संस्कारके कारण उसका प्रभुमें अनन्यप्रेम जाग्रत् हो जाता है। फिर उसके लिये कुछ भी प्राप्त करना बाकी नहीं रहता।

---

* युधि तुरगरजोविधूम्रविष्वक् कचलुलितश्रमवार्यलङ्कृतास्ये।
मम निशितशरैर्विभिद्यमानत्वचि विलसत्कवचेऽस्तु कृष्ण आत्मा॥
(श्रीमद्भा० १। ९। ३४)

† 'ममता मल जरि जाइ' (मानस ७। ११७ क)

यहाँ 'मानवः' पदका तात्पर्य केवल ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य शूद्र और ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ, संन्यास—इन वर्णों और आश्रमों आदिसे ही नहीं है, प्रत्युत हिंदू, मुसलमान, ईसाई, बौद्ध पारसी, यहूदी आदि सभी जातियों और सम्प्रदायोंसे है। किसी भी जाति, सम्प्रदाय आदिका कोई भी व्यक्ति क्यों न हो, सब-के-सब ही परमात्माके पूजनके अधिकारी हैं; क्योंकि सभी परमात्माके अपने हैं। जैसे घरमें स्वभावके भेदसे अनेक तरहके बालक होते हैं, पर उन सबकी माँ एक ही होती है, और उन बालकोंकी तरह-तरहकी जितनी भी क्रियाएँ होती हैं, उन सब क्रियाओंसे माँ प्रसन्न होती रहती है; क्योंकि उन बालकोंमें माँका अपनापन होता है, ऐसे ही भगवान्‌के सम्मुख हुए प्राणीकी सभी क्रियाओंको भगवान् अपना पूजन मान लेते हैं और प्रसन्न हो जाते हैं।

इसी अध्यायके सत्तरवें श्लोकमें भगवान्‌ने कहा है कि कोई भी मनुष्य तुम्हारे और हमारे संवादका अध्ययन करेगा, उसके द्वारा मैं ज्ञानयज्ञसे पूजित हो जाऊँगा। इससे यह सिद्ध होता है कि कोई गीताका पाठ करे, अध्ययन करे तो उसको भगवान् अपना पूजन मान लेते हैं। ऐसे जो उत्पत्ति-विनाशशील वस्तुओंसे विमुख होकर भगवान्‌के सम्मुख हो जाता है, उनकी क्रियाओंको भगवान् अपना पूजन मान लेते हैं।

सम्बन्ध—

स्वभावज (सहज) कर्मोंको निष्कामभावपूर्वक और पूजाबुद्धिसे करते हुए उसमें कोई कमी रह भी जाय तो भी उससे साधककी

हताश नहीं होना चाहिये—इसको बतानेके लिये अगले दो श्लोक कहते हैं।

श्लोक—

श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्।
स्वभावनियतं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम्॥ ४७॥

व्याख्या—

'श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्'—यहाँ 'स्वधर्म' शब्दसे वर्ण-धर्म ही मुख्यतासे लिया गया है।

'स्व' नाम किसका है? मनुष्य अपनेको जो मानता है, वह 'स्व' है, और उसका धर्म 'स्वधर्म' है। जैसे कोई अपनेको मनुष्य मानता है तो मनुष्यताका पालन करना उसके लिये स्वधर्म है। ऐसे ही अपनेको कोई विद्यार्थी या अध्यापक मानता है तो पढ़ना या पढ़ाना उसका स्वधर्म हो जायगा। कोई अपनेको साधक मानता है तो साधन करना उसका स्वधर्म हो जायगा। कोई अपनेको भक्त, जिज्ञासु और सेवक मानता है तो भक्ति, जिज्ञासा और सेवा उसका स्वधर्म हो जायगा। इस प्रकार जिसकी जिस कार्यमें नियुक्ति हुई है और जिसने जिस कार्यको स्वीकार किया है, उसके लिये उस कार्यको साङ्गोपाङ्ग करना स्वधर्म है।

ऐसे ही मनुष्य अपनेको जिस वर्ण और आश्रमका मानता है, उसके लिये उसी वर्ण और आश्रमका धर्म स्वधर्म हो जायगा। ब्राह्मणवर्णमें उत्पन्न हुआ अपनेको ब्राह्मण मानता है तो यज्ञ कराना, दान लेना, पढ़ाना आदि जीविका-सम्बन्धी कर्म उसके लिये स्वधर्म

है। क्षत्रियके लिये युद्ध करना, ईश्वरभाव आदि, वैश्यके लिये कृषि, गौरक्षा, व्यापार आदि और शूद्रके लिये सेवा—ये जीविका-सम्बन्धी कर्म स्वधर्म हैं। ऐसा अपना स्वधर्म दूसरोंके धर्मोंकी अपेक्षा गुण-रहित है अर्थात् अपने स्वधर्ममें गुणोंकी कमी है, उसका अनुष्ठान करनेमें कमी रहती है तथा उसको कठिनतासे किया जाता है, परंतु दूसरेका धर्म गुणोंसे परिपूर्ण है, दूसरेके धर्मका अनुष्ठान साङ्गोपाङ्ग है और करनेमें बहुत सुगम है तो भी अपने स्वधर्मका पालन करना ही सर्वश्रेष्ठ है।

स्वधर्म और परधर्म क्या हैं? शास्त्रने जिस वर्णके लिये जिन कर्मोंका विधान किया है, उस वर्णके लिये वे कर्म 'स्वधर्म' हैं और उन्हीं कर्मोंका जिस वर्णके लिये निषेध किया है, उस वर्णके लिये वे कर्म 'परधर्म' हैं। जैसे यज्ञ कराना, दान लेना आदि कर्म ब्राह्मणके लिये शास्त्रकी आज्ञा होनेसे स्वधर्म हैं; परंतु वे ही कर्म क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रके लिये शास्त्रका निषेध होनेसे परधर्म हैं। परंतु आपत्कालको लेकर शास्त्रोंने जीविका-सम्बन्धी जिन कर्मोंका निषेध नहीं किया है, वे कर्म सभी वर्णोंके लिये स्वधर्म हो जाते हैं। जैसे आपत्कालमें अर्थात् आपत्तिके समय वैश्यके खेती, व्यापार आदि जीविका-सम्बन्धी कर्म ब्राह्मणके लिये भी स्वधर्म हो जाते हैं*।

* आपत्तिके समय ब्राह्मण क्षात्रवृत्तिसे निर्वाह कर सकता है और ज्यादा आपत्ति (आफत) आ जाय तो वैश्यवृत्ति भी कर सकता है, परंतु वैश्यवृत्तिमें फरक यह रहेगा कि ब्राह्मण खेती करे तो सुबह और शाम ठण्डे समय हल चलाये और दो बैलोंका ही हल चलाये, एक बैलका नहीं।

ब्राह्मणके शम, दम आदि जितने भी स्वभावज कर्म हैं, वे सामान्य धर्म होनेसे चारों वर्णोंके लिये स्वधर्म हैं। कारण कि उनका पालन करनेके लिये सभीको शास्त्रकी आज्ञा है। उनका किसीके लिये भी निषेध नहीं है।

मनुष्यशरीर केवल परमात्मप्राप्तिके लिये ही मिला है। इस दृष्टिसे मनुष्यमात्र साधक है। इस वास्ते दैवी-सम्पत्तिके जितने भी सद्गुण-सदाचार हैं, वे सभीके अपने होनेसे मनुष्यमात्रके लिये स्वधर्म हैं। पर आसुरी-सम्पत्तिके जितने भी दुर्गुण-दुराचार हैं, वे मनुष्यमात्रके लिये न तो स्वधर्म हैं और न परधर्म ही हैं; वे तो सभीके लिये निषिद्ध हैं, त्याज्य हैं, क्योंकि वे अधर्म हैं। दैवी-सम्पत्तिके गुणोंको धारण करनेमें और आसुरी-सम्पत्तिके पाप-कर्मोंका त्याग करनेमें सभी स्वतन्त्र हैं, सभी सबल हैं, सभी अधिकारी हैं; कोई भी परतन्त्र, निर्बल तथा अनधिकारी नहीं है। हाँ, यह बात अलग है कि कोई सद्गुण किसीके स्वभावके अनुकूल पड़ते हैं तो कोई सद्गुण किसीके स्वभावके अनुकूल पड़ते हैं। ऐसा भेद रह सकता है।

'स्वभावनियतं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम्'—शास्त्रोंमें विधि और निषिद्ध—दो तरहके वचन आते हैं। उनमें विहित-

---

ऐसे ही व्यापार करे तो रस-कसका व्यापार न करे अर्थात् चीनी, शक्कर, घी, तेल, नमक आदिका व्यापार न करे।

ऐसे ही आपत्तके समय क्षत्रिय वैश्यकी वृत्ति—गोरक्ष्य, कृषि और वाणिज्य कर सकता है और वैश्य शूद्रकी वृत्ति भी कर सकता है।

कर्म करनेकी आज्ञा है और निषिद्ध-कर्म करनेका निषेध है। उन विहित-कर्मोंमें भी शास्त्रोंने जिस वर्ण, आश्रम, देश, काल, घटना, परिस्थिति, वस्तु, संयोग, वियोग आदिको लेकर अलग-अलग जो कर्म नियुक्त किये हैं, उस वर्ण, आश्रम आदिके लिये वे 'नियत-कर्म' कहलाते हैं।

सत्त्व, रज और तम—इन तीनों गुणोंको लेकर जो स्वभाव बनता है, उस स्वभावके अनुसार जो कर्म नियत किये जाते हैं, वे 'स्वभावनियत-कर्म' कहलाते हैं। उन्हींको स्वभावप्रभव, स्वभावज, स्वधर्म, स्वकर्म और सहज-कर्म कहा है।

तात्पर्य यह है कि जिस वर्ण, जातिमें जन्म लेनेसे पहले इस जीवके जैसे गुण और कर्म रहे हैं, उन्हीं गुणों और कर्मोंके अनुसार उस वर्णमें उसका जन्म हुआ है। कर्म तो करनेपर समाप्त हो जाते हैं, पर गुण-रूपसे उनके संस्कार रहते हैं। जन्म होनेपर उन गुणोंके अनुसार ही उनमें गुण और पालनीय आचरण स्वाभाविक ही उत्पन्न होते हैं अर्थात् उनको न तो कहींसे लाना पड़ता है और न उनके लिये परिश्रम ही करना पड़ता है। इस वास्ते उनको स्वभावज और स्वभावनियत कहा है।

यद्यपि 'सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः' (गीता १८। ४८) के अनुसार कर्ममात्रमें दोष आता ही है, पर यदि स्वभावके अनुसार शास्त्रने जिस वर्णके लिये जिन कर्मोंकी आज्ञा दी है, उन कर्मोंको अपने स्वार्थ और अभिमानका त्याग करके केवल दूसरोंके हितकी दृष्टिसे किया जाय तो उस वर्णके व्यक्तिको [illegible]

ब्राह्मणके शम, दम आदि जितने भी स्वभावज कर्म हैं, वे सामान्य धर्म होनेसे चारों वर्णोंके लिये स्वधर्म हैं। कारण कि उनका पालन करनेके लिये सभीको शास्त्रकी आज्ञा है। उनका किसीके लिये भी निषेध नहीं है।

मनुष्यशरीर केवल परमात्मप्राप्तिके लिये ही मिला है। इस दृष्टिसे मनुष्यमात्र साधक है। इस वास्ते दैवी-सम्पत्तिके जितने भी सद्गुण-सदाचार हैं, वे सभीके अपने होनेसे मनुष्यमात्रके लिये स्वधर्म हैं। पर आसुरी-सम्पत्तिके जितने भी दुर्गुण-दुराचार हैं, वे मनुष्यमात्रके लिये न तो स्वधर्म हैं और न परधर्म ही हैं; वे तो सभीके लिये निषिद्ध हैं, त्याज्य हैं, क्योंकि वे अधर्म हैं। दैवी-सम्पत्तिके गुणोंको धारण करनेमें और आसुरी-सम्पत्तिके पाप-कर्मोंका त्याग करनेमें सभी स्वतन्त्र हैं, सभी सबल हैं, सभी अधिकारी हैं; कोई भी परतन्त्र, निर्बल तथा अनधिकारी नहीं है। हाँ, यह बात अलग है कि कोई सद्गुण किसीके स्वभावके अनुकूल पड़ते हैं तो कोई सद्गुण किसीके स्वभावके अनुकूल पड़ते हैं। ऐसा भेद रह सकता है।

'**स्वभावनियतं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम्**'—शास्त्रोंमें विधि और निषिद्ध—दो तरहके वचन आते हैं। उनमें विहित-

---

ऐसे ही व्यापार करे तो रस-कसका व्यापार न करे अर्थात् चीनी, शक्कर, घी, तेल, नमक आदिका व्यापार न करे।

ऐसे ही आपत्के समय क्षत्रिय वैश्यकी वृत्ति—गोरक्ष्य, कृषि और वाणिज्य कर सकता है और वैश्य शूद्रकी वृत्ति भी कर सकता है।

कर्म करनेकी आज्ञा है और निषिद्ध-कर्म करनेका निषेध है। उन विहित-कर्मोंमें भी शास्त्रोंने जिस वर्ण, आश्रम, देश, काल, घटना, परिस्थिति, वस्तु, संयोग, वियोग आदिको लेकर अलग-अलग जो कर्म नियुक्त किये हैं, उस वर्ण, आश्रम आदिके लिये वे 'नियत-कर्म' कहलाते हैं।

सत्त्व, रज और तम—इन तीनों गुणोंको लेकर जो स्वभाव बनता है, उस स्वभावके अनुसार जो कर्म नियत किये जाते हैं, वे 'स्वभावनियत-कर्म' कहलाते हैं। उन्हींको स्वभावप्रभव, स्वभावज, स्वधर्म, स्वकर्म और सहज-कर्म कहा है।

तात्पर्य यह है कि जिस वर्ण, जातिमें जन्म लेनेसे पहले इस जीवके जैसे गुण और कर्म रहे हैं, उन्हीं गुणों और कर्मोंके अनुसार उसे वर्णमें उसका जन्म हुआ है। कर्म तो करनेपर समाप्त हो जाते हैं, पर गुण-रूपसे उनके संस्कार रहते हैं। जन्म होनेपर उन गुणोंके अनुसार ही उसमें गुण और पालनीय आचरण स्वाभाविक ही उत्पन्न होते हैं अर्थात् उनको न तो कहींसे लाना पड़ता है और न उनके लिये परिश्रम ही करना पड़ता है। इस वास्ते उनको स्वभावज और स्वभावनियत कहा है।

यद्यपि 'सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः' (गीता १८। ४८) के अनुसार कर्ममात्रमें दोष आता ही है, तथापि स्वभावके अनुसार शास्त्रने जिस वर्णके लिये जिन कर्मोंकी आज्ञा दी है, उन कर्मोंको अपने स्वार्थ और अभिमानका त्याग करके केवल दूसरोंके हितकी दृष्टिसे किया जाय तो उस वर्णके व्यक्तिको उन कर्मोंका दोष

र (पाप) नहीं लगता। ऐसे ही जो केवल शरीर-निर्वाहके लिये कर्म करता है, उसको भी पाप नहीं लगता—'शारीरं केवलं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम्' (गीता ४। २१)।

इसमें एक बड़ी भारी शङ्का पैदा होती है कि एक आदमी कसाईके घर पैदा होता है तो उसके लिये कसाईका कर्म सहज (साथ ही पैदा हुआ) है, स्वाभाविक है। स्वभावनियत कर्म करता हुआ मनुष्य पापको नहीं प्राप्त होता, तो क्या कसाईके कर्मका त्याग नहीं करना चाहिये ? अगर उसको कसाईके कर्मका त्याग नहीं करना चाहिये तो बड़ी मुश्किल हो जायगी !

इसका समाधान यह है कि स्वभावनियत कर्म वह होता है, जो विहित हो, किसी रीतिसे निषिद्ध नहीं हो अर्थात् उससे किसीका भी अहित न होता हो। जो कर्म किसीके लिये भी अहितकारक होते हैं, वे सहज कर्ममें नहीं लिये जायँगे। वे कर्म आसक्ति, कामनाके कारण पैदा होते हैं। निषिद्ध कर्म चाहे इस जन्ममें बना हो चाहे पूर्वजन्ममें बना हो, है वह दोषवाला ही। दोष-भाग त्याज्य होता है, क्योंकि दोष आसुरी-सम्पत्ति है और गुण दैवी-सम्पत्ति है। पहले जन्मके संस्कारोंसे भी दुर्गुण-दुराचारोंमें रुचि हो सकती है, पर वह रुचि दुर्गुण-दुराचार करनेमें बाध्य नहीं करती। विवेक, सद्विचार, सत्सङ्ग, शास्त्र आदिके द्वारा उस रुचिको मिटाया जा सकता है।

युक्तिसे भी देखा जाय तो कोई भी प्राणी अपना अहित नहीं चाहता, अपनी हत्या नहीं चाहता। अतः किसीका अहित

करनेका, हत्या करनेका अधिकार नहीं है। मनुष्य अपने लिये अच्छा काम चाहता है तो उसे दूसरोंके लिये भी अच्छा काम करना चाहिये। शास्त्रोंसे भी देखा जाय तो यही बात है कि जिसमें दोष होते हैं, पाप होते हैं, अन्याय होते हैं, वे कर्म 'वैकृत' हैं, 'प्राकृत' नहीं हैं अर्थात् वे विकारसे पैदा हुए हैं, स्वभावसे नहीं। तीसरे अध्यायमें अर्जुनने पूछा कि मनुष्य न चाहता हुआ भी किससे प्रेरित होकर पाप-कर्म करता है? तो भगवान्‌ने कहा कि कामनाके वशमें होकर ही मनुष्य पाप करता है (३। ३६-३७)। कामनाको लेकर, क्रोधको लेकर, स्वार्थ और अभिमानको लेकर जो कर्म किये जाते हैं, वे कर्म शुद्ध नहीं होते, अशुद्ध होते हैं।

परमात्मप्राप्तिके उद्देश्यसे जो कर्म किये जाते हैं, उन कर्मोंमें भिन्नता तो रहती है, पर वे दोषी नहीं होते। ब्राह्मणके घर जन्म होगा तो ब्राह्मणोचित कर्म होंगे; शूद्रके घर जन्म होगा तो शूद्रोचित कर्म होंगे, पर दोषी-भाग किसीमें भी नहीं होगा। दोषी-भाग सहज नहीं है, स्वभावनियत नहीं है। दोषयुक्त कर्म स्वाभाविक हो सकते हैं, पर स्वभावनियत नहीं हो सकते। एक ब्राह्मणको परमात्मतत्त्वकी प्राप्ति हो जाय तो प्राप्ति होनेके बाद भी वह वैसी ही पवित्रतासे भोजन बनायेगा; जैसी पवित्रतासे ब्राह्मणको रहना चाहिये, वैसी ही पवित्रतासे रहेगा। ऐसे ही एक अन्त्यजको परमात्माकी प्राप्ति हो जाय तो वह जूठन भी खा लेगा; जैसे पहले रहता था, वैसे ही रहेगा। परंतु ब्राह्मण ऐसा नहीं करेगा, क्योंकि पवित्रतासे

भोजन करना उसका स्वभावनियत कर्म है, जबकि अन्त्यजके लिये जूठन खाना दोषी नहीं बताया गया है। इस वास्ते सिद्ध महापुरुषोंमें एक-एकसे विचित्र कर्म होते हैं, पर वे दोषी नहीं होते। उनका स्वभाव राग-द्वेषसे रहित होनेके कारण शुद्ध होता है।

पहलेके किसी पाप-कर्मसे कसाईके घर जन्म हो गया तो वह जन्म पापका फल भोगनेके लिये हुआ है, पाप करनेके लिये नहीं। पापका फल जाति, आयु और भोग बताया गया है, नया कर्म नहीं बताया गया—**'सति मूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगाः।'** (योगदर्शन २। १३)। कर्म करनेमें वह स्वतन्त्र है। यदि उसका चित्त शुद्ध हो जाय तो वह कसाई आदिका कर्म कर नहीं सकेगा। एक अच्छे सन्तसे किसीने कहा कि यदि कोई अपना धर्म गायको मारना ही मानता है तो वह क्या करे? तो उन सन्तने बड़े जोरसे कहा कि यदि वह अपने धर्मके अनुसार ही लगातार तीन वर्षतक पवित्रतापूर्वक भगवान्‌के नामका, अपने इष्टके नामका जप करे तो फिर वह मार नहीं सकेगा। कारण कि उसका पूर्वजन्मका अथवा यहाँका जो स्वभाव पड़ा हुआ है, वह स्वभाव दोषी है। यदि सच्चे हृदयसे ठीक परमात्मतत्त्वकी प्राप्ति चाहेगा तो वह कसाईका कर्म नहीं कर सकेगा। उसमें आप-से-आप ग्लानि होगी, उपरति होगी। बिना कहे-सुने उसमें सद्गुण स्वाभाविक आयेंगे।

रामचरितमानसमें शबरीके प्रसङ्गमें आता है—भगवान् रामने शबरीसे कहा—**नवधा भगति कहउँ तोहि पाहीं। सावधान सुनु धरु**

मन माहीं ॥ ([illegible]) [illegible]
भगवान्‌ने कहा— [illegible]
तात्पर्य यह है कि [illegible] होते हैं, [illegible]
पता ही नहीं है; [illegible]
ही थी। [illegible] गुणोंका उन्हें
ज्ञान नहीं है, वे गुण भी आ जाते हैं। जो केवल दूसरोंको सुनानेके लिये याद करते हैं, वे दूसरोंको तो बता देंगे, पर आचरणमें वे गुण तभी आयेंगे जब अपना स्वभाव शुद्ध करके परमात्माकी तरफ चलेगा। इस वास्ते मनुष्यको अपना स्वभाव और अपने कर्म शुद्ध, निर्मल बनाने चाहिये। इसमें कोई परतन्त्र नहीं है, कोई निर्बल नहीं है, कोई अयोग्य नहीं है; कोई अपात्र नहीं है। मनुष्यके मनमें ऐसा आता है कि मैं कर्तव्यका पालन करनेमें और सद्गुणोंको लानेमें असमर्थ हूँ। वास्तवमें वह असमर्थ नहीं है। सांसारिक भोगोंकी आदत और पदार्थोंके संग्रहकी रुचि होनेसे ही असमर्थताका अनुभव होता है।

उद्धारके योग्य समझकर ही भगवान्‌ने मनुष्यशरीर दिया है। इस वास्ते अपने स्वभावका सुधार करके अपना उद्धार करनेमें प्रत्येक मनुष्य स्वतन्त्र है, सबल है, योग्य है, समर्थ है। स्वभावको सुधार करना असम्भव तो है ही नहीं, कठिन भी नहीं है। मनुष्यको मुक्तिका द्वार कहा गया है—'साधन धाम मोच्छ कर द्वारा' (मानस ७। ४३। ४)। यदि स्वभावका सुधार करना असम्भव होता तो इसे मुक्तिका द्वार कैसे कहा जा सकता?

विशेष बात

साधकके लिये वास्तविक स्वधर्म क्या है ?

अपने स्वरूपको 'स्व' कहते हैं, जो साक्षात् परमात्माका अंश है। प्रकृति और उसका अंश शरीर 'पर' कहलाता है। जब 'स्व' प्रकृतिके अंश शरीरको अपना मानता है तो उसमें प्राकृतिक चीजोंकी मुख्यता होती है और जब यह अपनेको सच्चिदानन्दघन परमात्माका साक्षात् अंश मानता है तो 'स्व' सच्चिदानन्दघन-स्वरूप होता है*।

'स्व' जब परमात्माको स्वीकार करता है तो साधकके लिये यह 'स्वधर्म' हो जाता है, और जब यह प्रकृतिके कार्य शरीरको स्वीकार करता है अर्थात् शरीरके धर्मको अपनेमें आरोपित कर लेता है तो साधकके लिये यह 'परधर्म' हो जाता है; क्योंकि प्रकृति 'पर' है, 'स्व' नहीं।

इसी तरहसे यह 'स्व' परमात्माके साथ सम्बन्ध जोड़कर परमात्मप्राप्तिके लिये कर्मयोग, ज्ञानयोग या भक्तियोगका साधन करे

---

* इसी सत्ताको स्वीकार करनेके लिये भगवान्ने कहा है—

न त्वेवाहं जातु नासं न त्वं नेमे जनाधिपाः।
न चैव न भविष्यामः सर्वे वयमतः परम्॥
(गीता २। १२)

अर्थात् तू, मैं और ये राजालोग पहले नहीं थे, यह बात भी नहीं और इसके बाद हम सब नहीं रहेंगे, यह बात भी नहीं। तो इससे हरेककी अपने स्वरूपकी सत्ता सिद्ध होती है। इसी तरह कहा है—

भूतग्रामः स एवायं भूत्वा भूत्वा प्रलीयते। (गीता ८। १९)

इसमें 'भूतग्रामः स एवायं' (वही यह भूतसमुदाय) पदोंसे स्वयंकी सत्ता सिद्ध होती है और 'भूत्वा भूत्वा प्रलीयते' (उत्पन्न हो-होकर लीन होता है) पदोंसे शरीरकी अनित्यता सिद्ध होती है।

तो यह 'स्वधर्म' होगा। यही स्वधर्म कल्याण करनेवाला है। जब यह संसारकी वस्तुओंका संग्रह करता है और भोग भोगता है तो यह 'परधर्म' हो जाता है। स्वधर्ममें अर्थात् परमात्माके सम्मुख रहते हुए मर जाय तो भी यह कल्याण करनेवाला है, और परधर्म अर्थात् भोग तथा संग्रह भय देनेवाला है—**'स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः'** (गीता ३ । ३५)।

यहाँ इस प्रकरणमें वर्णधर्मरूप स्वधर्मका पालन करनेका उद्देश्य भी परमात्मतत्त्वकी प्राप्ति करना ही है। इस वास्ते इस विशेष बातमें परमात्मप्राप्ति करनेके साधनको स्वधर्म माना गया है।

श्लोक—

सहजं कर्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजेत्।
सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः ॥ ४८ ॥

व्याख्या—

पिछले श्लोकमें यह कहा गया है कि स्वभावके अनुसार शास्त्रोंने जो कर्म नियत किये हैं, उन कर्मोंको करता हुआ मनुष्य पापको प्राप्त नहीं होता। तो इससे यह सिद्ध होता है कि स्वभावनियत कर्मोंमें भी पाप-क्रिया होती है। अगर पाप-क्रिया न होती तो 'पापको प्राप्त नहीं होता' यह कहना नहीं बनता। इस वास्ते भगवान् कहते हैं कि 'कौन्तेय ! जो सहज कर्म हैं, उनमें कोई दोष भी आ जाय तो भी उनका त्याग नहीं करना चाहिये; क्योंकि सब-के-सब कर्मोंका आरम्भ धुएँसे अग्निकी तरह दोषसे आवृत है।'

'सहजं कर्म कौन्तेय' स्वभाव-नियतकर्म सहज-कर्म कहलाते हैं; जैसे—ब्राह्मणके शम, दम आदि; क्षत्रियके शौर्य, तेज आदि; वैश्यके कृषि, गौरक्ष्य आदि और शूद्रके सेवा-कर्म—ये सभी सहज-कर्म हैं। जन्मके बाद शास्त्रोंने पूर्वके गुण और कर्मोंके अनुसार जिस वर्णके लिये जिन कर्मोंकी आज्ञा दी है, वे शास्त्रनियत कर्म भी सहज-कर्म कहलाते हैं; जैसे—ब्राह्मणके लिये यज्ञ करना और कराना, पढ़ना और पढ़ाना आदि; क्षत्रियके लिये यज्ञ करना, दान देना आदि; वैश्यके लिये यज्ञ करना आदि; और शूद्रके लिये सेवा।

इस सहज-कर्ममें कौन-से दोष हैं?—

(१) परमात्मा और परमात्माका अंश—ये दोनों ही 'स्व' हैं तथा प्रकृति और प्रकृतिका कार्य शरीर आदि—ये दोनों ही 'पर' हैं। परंतु परमात्माका अंश स्वयं प्रकृतिके वश होकर परतन्त्र हो जाता है अर्थात् क्रियामात्र प्रकृतिमें होती हैं, उस क्रियाको यह अपनेमें मान लेना है तो परतन्त्र हो जाता है। यह प्रकृतिके परतन्त्र होना ही महान् दोष है।

(२) प्रत्येक कर्ममें कुछ-न-कुछ आनुषङ्गिक-अनिवार्य हिंसा आदि दोष होते ही हैं।

(३) कोई भी कर्म किया जाय, वह कर्म किसीके अनुकूल और किसीके प्रतिकूल होता ही है। जो किसीके प्रतिकूल होना भी दोष है।

(४) प्रमाद आदि दोषोंके कारण कर्मके करनेमें कमी रह जाना अथवा करनेकी विधिमें भूल हो जाना भी दोष है।

'सदोषमपि न त्यजेत्'—अपने सहज-कर्ममें दोष भी हो तो भी उसको नहीं छोड़ना चाहिये। इसका तात्पर्य है कि जैसे ब्राह्मणके कर्म जितने सौम्य हैं, उतने ब्राह्मणेतर वर्णोंके कर्म सौम्य नहीं हैं। परंतु सौम्य न होनेपर भी वे कर्म दोषी नहीं माने गये हैं अर्थात् ब्राह्मणके सहज कर्मोंकी अपेक्षा क्षत्रिय, वैश्य आदिके सहज कर्मोंमें गुणोंकी कमी होनेपर भी उस कमीका दोष नहीं लगेगा और अनिवार्य हिंसा आदि भी नहीं लगेंगे, प्रत्युत उनका पालन करनेसे लाभ होगा। कारण कि वे कर्म उनके स्वभावके अनुकूल होनेसे करनेमें सुगम हैं और शास्त्रविहित हैं।

ब्राह्मणके लिये भिक्षा बतायी गयी है। दीखनेमें भिक्षा निर्दोष दीखती है, पर उसमें भी दोष आ जाते हैं। जैसे; किसी गृहस्थके घरपर कोई भिक्षुक खड़ा है और उसी समय दूसरा भिक्षुक वहाँ आ जाता है तो गृहस्थके भार होता है। भिक्षुकोंमें परस्पर ईर्ष्या होनेकी सम्भावना रहती है। भिक्षा देनेवालेके घरमें पूरी तैयारी नहीं है तो उसको भी दुःख होता है। यदि कोई गृहस्थ भिक्षा देना नहीं चाहता और उसके घरपर भिक्षुक चला जाय तो उसको बड़ा कष्ट होता है। अगर वह भिक्षा देता है तो खर्चा होता है, और नहीं देता है तो भिक्षुक निराश होकर चला जाता है। इससे उस गृहस्थको पाप लगता है और बेचारा उसमें फँस जाता है। इस प्रकार यद्यपि भिक्षामें भी दोष होते हैं, तथापि ब्राह्मणको इसे छोड़ना नहीं चाहिये।

क्षत्रियके लिये न्याययुक्त युद्ध प्राप्त हो जाय तो उसको करनेमें क्षत्रियको पाप नहीं लगेगा। यद्यपि युद्धरूप कर्ममें दोष है; क्योंकि

उसमें मनुष्योंका गला काट डालना है—तथापि क्षत्रियके सहज और शास्त्र-विहित होनेसे दोष नहीं लगता। ऐसे ही वैश्यके लिये खेती करना बताया गया है। खेती करनेमें बहुत-से जन्तुओंकी हिंसा होती है। परंतु वैश्यके लिये सहज और शास्त्रविहित होनेसे हिंसाका इतना दोष नहीं लगता। इस वास्ते सहज कर्मोंको छोड़ना नहीं चाहिये।

सहज कर्मोंको करनेमें दोष (पाप) नहीं लगता—यह बात ठीक है, परंतु इन साधारण सहज कर्मोंसे मुक्ति कैसे हो जायगी? वास्तवमें मुक्ति होनेमें सहज कर्म बाधक नहीं हैं। कामना, आसक्ति, स्वार्थ, अभिमान आदिसे ही बन्धन होता है और पाप भी इनके कारणसे ही होते हैं। इस वास्ते मनुष्यको निष्कामभाव-पूर्वक भगवत्प्रीत्यर्थ सहज कर्मोंको करना चाहिये, तभी बन्धन छूटेगा (गीता १८। १७)।

'सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः'—जितने भी आरम्भ हैं, वे सब-के-सब सदोष ही हैं; जैसे—आग सुलगायी जाय तो आरम्भमें धुआँ होता ही है। कर्म करनेमें देश, काल, घटना परिस्थिति आदिकी परतन्त्रता और अनेकोंकी प्रतिकूलता भी दोष है परंतु स्वभावके अनुसार शास्त्रोंने आज्ञा दी है। उस आज्ञाके अनुसार निष्कामभावपूर्वक कर्म करता हुआ प्राणी पापका भागी नहीं होता। इसीसे भगवान् अर्जुनसे मानो यह कह रहे हैं कि भैया! तू जिस युद्धरूप क्रियाको घोर कर्म मान रहा है, वह तेरा धर्म है; क्योंकि न्यायसे प्राप्त हुए युद्धको करना क्षत्रियोंका धर्म है, इसके सिवाय क्षत्रियके लिये दूसरा कोई श्रेयका साधन नहीं है—**'धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत्क्षत्रियस्य न विद्यते'** (गीता २। ३१)।

विशेष बात

कर्मप्रधान कर्मयोगमें कर्मोंके द्वारा जड़तासे असङ्गता होती है और भक्तिमिश्रित कर्मयोगमें संसारसे असङ्गतापूर्वक परमात्माके प्रति पूज्यभाव होनेसे परमात्माकी सम्मुखता रहती है।

कर्मप्रधान कर्मयोगी तो अपने पास शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि आदि जो कुछ संसारका जड़ अंश है, उसको स्वार्थ, अभिमान, कामनाका त्याग करके संसारकी सेवामें लगा देता है। इससे अपनी मानी हुई चीजोंसे अपनापन छूटकर सर्वथा सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है, और जो स्वतः-स्वाभाविक असङ्गता है, वह प्रकट हो जाती है।

जब कर्मयोगमें भक्तिका मिश्रण हो जाता है तो वह भक्तिमिश्रित कर्मयोग कहलाता है। भक्तिमिश्रित कर्मयोगी अपने वर्णोचित स्वाभाविक कर्मों और समय-समयपर किये गये पारमार्थिक कर्मों (जप, ध्यान आदि) के द्वारा सम्पूर्ण संसारमें व्याप्त परमात्माका पूजन करता है।

इन दोनोंमें भावकी भिन्नता होनेसे इतना ही अन्तर हुआ कि कर्मप्रधान कर्मयोगीकी सम्पूर्ण क्रियाओंका प्रवाह सबको सुख पहुँचानेमें लग जाता है, तो क्रियाओंको करनेका वेग मिटकर स्वयंमें असङ्गता आ जाती है; और भक्तिमिश्रित कर्मयोगीकी सम्पूर्ण क्रियाएँ परमात्माकी पूजन-सामग्री बन जानेसे जड़तासे विमुखता होकर भगवान्‌की सम्मुखता आ जाती है और प्रेम बढ़ जाता है।

भक्तियोगी तो पहलेसे ही भगवान्‌के सम्मुख होकर अपने-आपको भगवान्‌के अर्पित कर देता है। स्वयंके अनन्यतापूर्वक

भगवान्‌के समर्पित हो जानेसे खाना-पीना, काम-धंधा आदि लौकिक और जप, ध्यान, सत्सङ्ग, स्वाध्याय आदि पारमार्थिक क्रियाएँ भी भगवान्‌के अर्पित हो जाती हैं। उसकी लौकिक-पारमार्थिक क्रियाओंमें केवल बाहरसे भेद देखनेमें आता है; परंतु वास्तवमें कोई भेद नहीं रहता।

कर्मप्रधान कर्मयोगी और ज्ञानयोगी—ये दोनों अन्तमें एक हो जाते हैं। जैसे, कर्मप्रधान कर्मयोगी कर्मोंके द्वारा जड़ताका त्याग करता है अर्थात् सेवाके द्वारा उसकी सभी क्रियाएँ संसारके अर्पित हो जाती हैं और स्वयं असङ्ग हो जाता है; और ज्ञानयोगी विचारके द्वारा जड़ताका त्याग करता है अर्थात् विचारके द्वारा उसकी सभी क्रियाएँ प्रकृतिके अर्पित हो जाती हैं और स्वयं असङ्ग हो जाता है। तात्पर्य है कि दोनोंके अर्पण करनेके प्रकारमें अन्तर है, पर असङ्गतामें दोनों एक हो जाते हैं*। इस असङ्गतामें कर्मप्रधान कर्मयोगी और ज्ञानयोगी—दोनों स्वतन्त्र हो जाते हैं। उनके लिये किञ्चिन्मात्र भी कर्मोंका बन्धन नहीं रहता। केवल कर्तव्य-पालनके लिये ही कर्तव्य-कर्म करनेसे कर्मप्रधान कर्मयोगीके सम्पूर्ण कर्म लीन हो जाते हैं—'**यज्ञायाचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते**' (गीता ४। २३), और ज्ञानरूप अग्निसे ज्ञानयोगीके सम्पूर्ण कर्म

---

* ऐसे तो संसारसे असङ्ग होना कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोग — इन तीनों योगोंके साधकोंके लिये आवश्यक है। गीतामें 'सङ्गं त्यक्त्वा' (५। ११) पदोंसे कर्मयोगीको, 'मुक्तसङ्गः' (१८। २६) पदसे ज्ञानयोगीको और 'सङ्गवर्जितः' (११। ५५) पदसे भक्तियोगीको सङ्गरहित होनेके लिये बताया गया है।

भस्म हो जाते हैं—'ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा' (गीता ४ । ३७) । परंतु इस स्वतन्त्रतामें भी जिसको सन्तोष नहीं होता अर्थात् स्वतन्त्रतासे जिसको उपरति हो जाती है, उसमें भगवत्कृपासे प्रेम प्रकट हो सकता है ।

इसी प्रकार भक्तिमिश्रित कर्मयोगी और भक्तियोगी—ये दोनों अन्तमें एक हो जाते हैं । परमात्माके सम्मुख होनेमें और प्रेम होनेमें तो दोनों एक हो जाते हैं, पर उनके अर्पणमें अन्तर होता है । भक्तिमिश्रित कर्मयोगी अपनी क्रियाओंको निराकार परमात्माके अर्पित करता है तो परमात्मा उसे दर्शन देनेमें बाध्य नहीं हैं । भक्तिप्रधान भक्तियोगी स्वयं प्रभुके अर्पित हो जाता है तो भगवान् स्वयं दर्शन दे सकते हैं ।

सम्बन्ध—

अब भगवान् ध्यानप्रधान सांख्ययोगका प्रकरण आरम्भ करते हुए पहले सांख्ययोगके अधिकारीका वर्णन करते हैं ।

श्लोक—

असक्तबुद्धिः सर्वत्र जितात्मा विगतस्पृहः ।
नैष्कर्म्यसिद्धिं परमां संन्यासेनाधिगच्छति ॥४९॥

व्याख्या—

संन्यास-(सांख्य-) योगका अधिकारी होनेसे ही सिद्धि होती है । अतः उसका अधिकारी कैसा होना चाहिये—यह बतानेके लिये श्लोकके पूर्वार्द्धमें तीन बातें बतायी हैं—

भगवान्‌के समर्पित हो जानेसे खाना-पीना, काम-धंधा आदि लौकिक और जप, ध्यान, सत्सङ्ग, स्वाध्याय आदि पारमार्थिक क्रियाएँ भी भगवान्‌के अर्पित हो जाती हैं। उसकी लौकिक-पारमार्थिक क्रियाओंमें केवल बाहरसे भेद देखनेमें आता है; परंतु वास्तवमें कोई भेद नहीं रहता।

कर्मप्रधान कर्मयोगी और ज्ञानयोगी—ये दोनों अन्तमें एक हो जाते हैं। जैसे, कर्मप्रधान कर्मयोगी कर्मोंके द्वारा जड़ताका त्याग करता है अर्थात् सेवाके द्वारा उसकी सभी क्रियाएँ संसारके अर्पित हो जाती हैं और स्वयं असङ्ग हो जाता है; और ज्ञानयोगी विचारके द्वारा जड़ताका त्याग करता है अर्थात् विचारके द्वारा उसकी सभी क्रियाएँ प्रकृतिके अर्पित हो जाती हैं और स्वयं असङ्ग हो जाता है। तात्पर्य है कि दोनोंके अर्पण करनेके प्रकारमें अन्तर है, पर असङ्गतामें दोनों एक हो जाते हैं*। इस असङ्गतामें कर्मप्रधान कर्मयोगी और ज्ञानयोगी—दोनों स्वतन्त्र हो जाते हैं। उनके लिये किञ्चिन्मात्र भी कर्मोंका बन्धन नहीं रहता। केवल कर्तव्य-पालनके लिये ही कर्तव्य-कर्म करनेसे कर्मप्रधान कर्मयोगीके सम्पूर्ण कर्म लीन हो जाते हैं—**'यज्ञायाचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते'** (गीता ४। २३), और ज्ञानरूप अग्निसे ज्ञानयोगीके सम्पूर्ण कर्म

* ऐसे तो संसारसे असङ्ग होना कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोग—इन तीनों योगोंके साधकोंके लिये आवश्यक है। गीतामें 'सङ्गं त्यक्त्वा' (५। ११) पदसे कर्मयोगीको, 'मुक्तसङ्गः' (१८। २६) पदसे ज्ञानयोगीको और 'सङ्गवर्जितः' (११। ५५) पदसे भक्तियोगीको सङ्गरहित होनेके लिये बताया गया है।

भस्म हो जाते हैं—'ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा' (गीता ४ । ३७) । परंतु इस स्वतन्त्रतामें भी जिसको सन्तोष नहीं होता अर्थात् स्वतन्त्रतासे जिसको उपरति हो जाती है, उसमें भगवत्कृपासे प्रेम प्रकट हो सकता है ।

इसी प्रकार भक्तिमिश्रित कर्मयोगी और भक्तियोगी—ये दोनों अन्तमें एक हो जाते हैं । परमात्माके सम्मुख होनेमें और प्रेम होनेमें तो दोनों एक हो जाते हैं, पर उनके अर्पणमें अन्तर होता है । भक्तिमिश्रित कर्मयोगी अपनी क्रियाओंको निराकार परमात्माके अर्पित करता है तो परमात्मा उसे दर्शन देनेमें बाध्य नहीं हैं । भक्तिप्रधान भक्तियोगी स्वयं प्रभुके अर्पित हो जाता है तो भगवान् स्वयं दर्शन दे सकते हैं ।

सम्बन्ध—

अब भगवान् ध्यानप्रधान सांख्ययोगका प्रकरण आरम्भ करते हुए पहले सांख्ययोगके अधिकारीका वर्णन करते हैं ।

श्लोक—

असक्तबुद्धिः सर्वत्र जितात्मा विगतस्पृहः ।
नैष्कर्म्यसिद्धिं परमां संन्यासेनाधिगच्छति ॥४९॥

व्याख्या—

संन्यास-(सांख्य-) योगका अधिकारी होनेसे ही सिद्धि होती है । अतः उसका अधिकारी कैसा होना चाहिये—यह बतानेके लिये श्लोकके पूर्वार्द्धमें तीन बातें बतायी हैं—

(१) 'असक्तबुद्धिः सर्वत्र'—जिसकी बुद्धि सब जगह आसक्ति-रहित है अर्थात् देश, काल, घटना, परिस्थिति, वस्तु, व्यक्ति, क्रिया, पदार्थ आदि किसीमें भी जिसकी बुद्धि लिप्त नहीं होती ।

(२) 'जितात्मा'—जिसने शरीर, इन्द्रियाँ, अन्तःकरण आदिपर अधिकार कर लिया है अर्थात् इनके वशीभूत नहीं होता, प्रत्युत इनको अपने वशीभूत रखता है । तात्पर्य है कि किसी कार्यको अपने सिद्धान्तपूर्वक करना चाहता है तो उस कार्यमें शरीर, इन्द्रियाँ, अन्तःकरण—ये सभी तत्परतासे लग जाते हैं और जिस क्रिया, घटना आदिसे हटाना चाहता है तो वे हट जाते हैं । इस प्रकार जिसने, इनपर विजय कर ली है, वह 'जितात्मा' कहलाता है ।

(३) 'विगतस्पृहः'—सूक्ष्म इच्छाका नाम स्पृहा है । एक प्रकारकी आवश्यकता होती है, जिसके बिना हम जीवन धारण नहीं कर सकते; जैसे—साग-पत्ती कुछ मिल जाय, रूखी-सूखी रोटी ही मिल जाय, कुछ-न-कुछ खाये बिना हम कैसे जी सकते हैं ? जल पीये बिना हम कैसे रह सकते हैं ? ठण्डीके दिनोंमें कपड़े बिल्कुल न हों तो हम कैसे जी सकते हैं ? इस प्रकार जीवन-धारणमात्रके लिये जिनकी विशेष जरूरत होती है, उन चीजोंकी सूक्ष्म इच्छाका नाम 'स्पृहा' है । सांख्ययोगका साधक इन जीवन-निर्वाहसम्बन्धी आवश्यकताओंकी परवा नहीं करता ।

तात्पर्य यह हुआ कि सांख्ययोगमें चलनेवालेको जड़ताका त्याग करना पड़ता है । उस जड़ताका त्याग करनेमें उपर्युक्त तीन बातें आयी हैं । असक्तबुद्धि होनेसे वह जितात्मा हो जाता है, और

जितात्मा होनेसे वह विगतस्पृह हो जाता है, तब वह सांख्ययोगका अधिकारी हो जाता है।

'नैष्कर्म्यसिद्धिं परमां संन्यासेनाधिगच्छति'—ऐसा असक्त-बुद्धि, जितात्मा और विगतस्पृह पुरुष ध्यानप्रधान सांख्ययोगके द्वारा परम नैष्कर्म्यसिद्धिको अर्थात् नैष्कर्म्यरूप तत्त्वको प्राप्त हो जाता है। कारण कि क्रियामात्र प्रकृतिमें होती है और जब स्वयंका उस क्रियाके साथ लेशमात्र भी सम्बन्ध नहीं रहता तो कोई भी क्रिया और उसका फल उसपर किञ्चिन्मात्र भी लागू नहीं होता। इस वास्ते उसमें जो स्वाभाविक, स्वतःसिद्ध निष्कर्मता—निर्लिप्तता है, वह प्रकट हो जाती है।

सम्बन्ध—

अब उस परम् सिद्धिको प्राप्त करनेकी विधि बतानेकी प्रतिज्ञा करते हैं।

श्लोक—

सिद्धिं प्राप्तो यथा ब्रह्म तथाप्नोति निबोध मे।
समासेनैव कौन्तेय निष्ठा ज्ञानस्य या परा॥ ५०॥

व्याख्या—

'सिद्धिं प्राप्तो यथा ब्रह्म तथाप्नोति निबोध मे'—यहाँ सिद्धि नाम अन्तःकरणकी शुद्धिका है। जिसका अन्तःकरण इतना शुद्ध हो गया है कि उसमें किञ्चिन्मात्र भी किसी प्रकारकी कामना, ममता और आसक्ति नहीं रही, उसके लिये कभी किञ्चिन्मात्र भी किसी वस्तु, व्यक्ति, परिस्थिति आदिकी जरूरत नहीं पड़ती अर्थात् उसके लिये कुछ भी प्राप्त करना बाकी नहीं रह[illegible] वास्ते इसको सिद्धि कहा है।

लोकमें तो ऐसा कहा जाता है कि मनचाही चीज मिल गयी तो सिद्धि हो गयी, अणिमादि सिद्धियाँ मिल गयीं तो सिद्धि हो गयी। पर वास्तवमें यह सिद्धि नहीं है; क्योंकि इसमें पराधीनता होती है, और किसी वस्तु, परिस्थिति आदिकी जरूरत पड़ती है, किसी बातकी कमी पड़ती है। अतः जिस सिद्धिमें किञ्चिन्मात्र भी कामना पैदा न हो, वही वास्तवमें सिद्धि है और जिस सिद्धिके मिलनेपर कामना बढ़ती रहे, वह सिद्धि सिद्धि नहीं है, अपितु एक बन्धन ही है।

अन्तःकरणकी शुद्धिरूप सिद्धिको प्राप्त हुआ पुरुष ही ब्रह्मको प्राप्त होता है। वह जिस क्रमसे ब्रह्मको प्राप्त होता है, उसको मुझसे समझ—'निबोध मे।' कारण कि सांख्ययोगकी जो सार-सार बातें हैं, वे सांख्ययोगीके लिये अत्यन्त आवश्यक हैं और उन बातोंको समझनेकी बहुत जरूरत है।

'निबोध' पदका तात्पर्य है कि सांख्ययोगमें क्रिया औ[र] सामग्रीकी प्रधानता नहीं है; किंतु उस तत्त्वको समझनेकी प्रधान[ता] है। इसी अध्यायके तेरहवें श्लोकमें भी सांख्ययोगके विष[यमें] 'निबोध' पद आया है।

'समासेनैव कौन्तेय निष्ठा ज्ञानस्य या परा'—सांख्ययो[गकी] जो आखिरी स्थिति है, जिससे बढ़कर साधककी कोई स्थिति [नहीं] हो सकती, वही ज्ञानकी परा निष्ठा कही जाती है। उ[स] निष्ठाको अर्थात् ब्रह्मको सांख्ययोगका साधक जिस प्रका[र]

होता है, उसको मैं संक्षेपसे कहूँगा अर्थात् उसकी सार-सार बातें कहूँगा ।

सम्बन्ध—

ज्ञानकी परा निष्ठा प्राप्त करनेके लिये किस साधन-सामग्रीकी आवश्यकता है, उसको अगले तीन श्लोकोंमें बताते हैं ।

श्लोक—

बुद्ध्या विशुद्धया युक्तो धृत्यात्मानं नियम्य च ।
शब्दादीन्विषयांस्त्यक्त्वा रागद्वेषौ व्युदस्य च ॥ ५१ ॥
विविक्तसेवी लघ्वाशी यतवाक्कायमानसः ।
ध्यानयोगपरो नित्यं वैराग्यं समुपाश्रितः ॥ ५२ ॥
अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं परिग्रहम् ।
विमुच्य निर्ममः शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥ ५३ ॥

व्याख्या—

'बुद्ध्या विशुद्धया युक्तः'—जो परमात्मतत्त्वको प्राप्त करना चाहता है, उसकी बुद्धि विशुद्ध अर्थात् सात्त्विक (गीता १८ । ३०) हो । उसकी बुद्धिका विवेक साफ-साफ हो, उसमें किञ्चिन्मात्र भी सन्देह न हो ।

बुद्धिका विशुद्ध होना क्या है ? मुझे तो केवल परमात्म-तत्त्वकी प्राप्ति ही करनी है; लोक-परलोक आदिसे कोई मतलब नहीं, कोई लेन-देन नहीं—ऐसा निश्चय ही बुद्धिका विशुद्ध होना है ।

इस सांख्ययोगके प्रकरणमें सबसे पहले बुद्धिका नाम आया है । इसका तात्पर्य है कि सांख्ययोगीके लिये जिस विवेककी

आवश्यकता है, वह विवेक बुद्धिमें ही प्रकट होता है। उस विवेकसे वह जड़ताका त्याग करता है।

'धृत्यात्मानं नियम्य च'—सांसारिक कितने ही प्रलोभन सामने आनेपर भी बुद्धिको परमात्मतत्त्वसे विचलित न होने देना—ऐसी दृढ़ सात्त्विक धृति (गीता १८ । ३३) के द्वारा इन्द्रियों-सहित शरीरका नियमन हो अर्थात् साधनके अनुपयुक्त कोई भी चेष्टा न हो और आठों पहर यह जागृति रहे कि शरीर, इन्द्रियाँ आदिकी क्रियाएँ केवल आत्मकल्याणके लिये हों।

'शब्दादीन् विषयांस्त्यक्त्वा'—ध्यानके समय बाहरके जितने सम्बन्ध हैं, जो कि विषयरूपसे आते हैं और जिनसे संयोगजन्य सुख होता है, उन शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध—पाँचों विषयोंका स्वरूपसे ही त्याग कर दे। कारण कि विषयोंका विषयरूपसे सेवन करनेवाला ध्यानयोगका साधन नहीं कर सकता। अगर विषयोंका रागपूर्वक सेवन करेगा तो ध्यानमें वृत्तियाँ नहीं लगेंगी और विषयोंका चिन्तन होगा।

'रागद्वेषौ व्युदस्य च'—असत् संसारके किसी अंशमें राग हो जाय तो दूसरे अंशमें द्वेष हो जाता है। जैसे, शरीरमें राग हो जाय तो शरीरके अनुकूल वस्तुमात्रमें राग हो जाता है और प्रतिकूल वस्तुमात्रमें द्वेष हो जाता है।

संसारके साथ रागसे भी सम्बन्ध जुड़ता है और द्वे
भी सम्बन्ध जुड़ता है। रागवाली बात भी याद आती

और द्वेषवाली बात भी याद आती है। इस वास्ते न राग करे, न द्वेष करे।

रागके रहते हुए संसारका द्वेषपूर्वक त्याग करनेसे संसारका त्याग नहीं होता। इस वास्ते भगवान्‌ने (गीता १८। १० में) कहा है कि कुशल कर्मका अनुष्ठान करे, पर रागपूर्वक न करे और अकुशल कर्मका त्याग करे, पर द्वेषपूर्वक न करे।

तीसरे अध्यायके चौंतीसवें श्लोकमें भगवान्‌ने साधकके लिये राग-द्वेषसे रहित होनेका बहुत बढ़िया उपाय बताया है—

'इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ। तयोर्न वशमागच्छेत् ……' समयपर साधकके राग-द्वेष हो भी जाय तो साधक इनके वशमें न होवे, इनका कहना न करे, इनकी वृत्तियोंके अनुसार आचरण न करे। कारण कि इनका कहना करनेसे, इनके अनुसार आचरण करनेसे राग-द्वेषको पुष्टि मिलती है। जब साधक अपने उद्देश्यको सामने रखकर इनका कहना नहीं करता तो राग-द्वेष स्वतः क्षीण हो जाते हैं।

'विविक्तसेवी'—ज्ञानयोगके साधकका स्वतः-स्वाभाविक एकान्त-सेवनका स्वभाव होता है, रुचि होती है। एकान्त-सेवनकी रुचि होना तो बढ़िया है, पर आग्रह नहीं होना चाहिये अर्थात् एकान्त न मिले तो मनमें विक्षेप, हलचल नहीं होनी चाहिये। कारण कि रुचि होनेपर भी एकान्त न मिले, प्रत्युत समुदाय मिले, खूब हल्ला-गुल्ला हो तो भी (आग्रह न रहनेसे) वह उकतायेगा नहीं अर्थात् सिद्धि-असिद्धिमें सम रहेगा। परन्तु आग्रह है

जायगा, उससे समुदाय सहा नहीं जायगा। अतः साधकका स्वभाव एकान्त रहनेका ही हो; परंतु एकान्त न मिले तो अन्तःकरणमें हलचल न हो; क्योंकि हलचल होनेपर संसारकी महत्ता आती है और संसारकी महत्ता आनेपर हलचल होती है, जो कि सांख्ययोगीके विरुद्ध है।

वास्तविक एकान्त चिन्मय तत्त्व ही है, जहाँ हलचल पैदा करनेवाला कोई प्राकृत पदार्थ, व्यक्ति आदि पैदा हुआ ही नहीं! उस तत्त्वमें तल्लीन रहना ही वास्तवमें एकान्त-सेवन है।

'लघ्वाशी'—साधकका स्वल्प भोजन करनेका स्वभाव हो। भोजनके विषयमें हित, मित और मेध्य—ये तीन बातें बतायी गयी हैं अर्थात् हित—भोजन शरीरके अनुकूल हो, मित—जितने भोजनसे निर्वाह हो जाय, उतना भोजन करे। भोजनसे शरीर पुष्ट हो जायगा—ऐसे भावसे भोजन न करे, प्रत्युत केवल औषधकी तरह क्षुधा-निवृत्तिके लिये ही भोजन करे, जिससे साधनमें विघ्नबाधा न आ जाय, और मेध्य—पवित्र भोजन करे। इस प्रकार भोजन करनेवालेको 'लघ्वाशी' कहते हैं।

'यतवाक्कायमानसः'—जिसकी वाणी, शरीर और मन संयत* (वशमें) हैं, उसको इनके परवश नहीं होना पड़ता। तात्पर्य है कि कोई कठोर वाणी सुना भी देता है तो साधक अपनी वाणीको

---

* इसी काया, वाणी और मनके संयमको सत्रहवें अध्यायके चौदहवें, पंद्रहवें और सोलहवें श्लोकमें क्रमशः शारीरिक, वाचिक और मानसिक तपके नामसे कहा गया है।

संयन रखता है, अपनी वाणीमें कठोर नहीं बोलता । शरीरको
आराम मिले—इसकी परवशता वह नहीं रखता । मनमें कोई भी
बात याद आ जाय तो समझता है कि यह तो पुरानी बातकी
है, अभी वह बात है ही नहीं ।

मनमें जो संकल्प-विकल्प होते हैं, वे भूत या भविष्यके ही
हैं, वर्तमानके नहीं । भूत और भविष्य—दोनों ही अभी
हैं । वर्तमानका कार्य होता है, संकल्प-विकल्प नहीं । साधकसे
गलती यह होती है कि जो अभी नहीं है, उसको लेकर उलझ जाता
है, और जो परमात्मा भूत, भविष्य और वर्तमान—तीनों समय
है, उसे देखता ही नहीं । 'है' को तो छोड़ दिया और 'नहीं' को
लेकर दुःखी हो गया—यही गलती है ।

'ध्यानयोगपरो नित्यम्'—साधक नित्य ही ध्यानयोगके परायण
रहे । तात्पर्य है कि ध्यानके समय तो ध्यान होता ही रहे, प्रत्यु
व्यवहारके समय अर्थात् चलने-फिरने, उठने-बैठने, काम-धंधा क
समय भी यह ध्यान (भाव) सदा बना रहे कि वास्तवमें
एक परमात्मतत्त्वकी ही है, संसारकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं
(गीता १८ । २०) ।

'वैराग्यं समुपाश्रितः'—जैसे संसारी लोग रागपूर्वक
वस्तु, व्यक्ति आदिके आश्रित रहते हैं, इनको अपना आश्रय,
मानते हैं, ऐसे ही सांख्ययोगका साधक वैराग्यके आश्रित रह
भोग-संग्रह, जन-समुदाय, स्थान आदिसे स्वाभाविक ही नि
बना रहना ही वैराग्यके आश्रित होना है ।

जायगा, उससे समुदाय सहा नहीं जायगा। अतः साधकका स्वभाव एकान्त रहनेका ही हो; परंतु एकान्त न मिले तो अन्तःकरणमें हलचल न हो; क्योंकि हलचल होनेपर संसारकी महत्ता आती है और संसारकी महत्ता आनेपर हलचल होती है, जो कि सांख्ययोगीके विरुद्ध है।

वास्तविक एकान्त चिन्मय तत्त्व ही है, जहाँ हलचल पैदा करनेवाला कोई प्राकृत पदार्थ, व्यक्ति आदि पैदा हुआ ही नहीं! उस तत्त्वमें तल्लीन रहना ही वास्तवमें एकान्त-सेवन है।

'लघ्वाशी'—साधकका स्वल्प भोजन करनेका स्वभाव हो। भोजनके विषयमें हित, मित और मेध्य—ये तीन बातें बतायी गयी हैं अर्थात् हित—भोजन शरीरके अनुकूल हो, मित—जितने भोजनसे निर्वाह हो जाय, उतना भोजन करे। भोजनसे शरीर पुष्ट हो जायगा—ऐसे भावसे भोजन न करे, प्रत्युत केवल औषधकी तरह क्षुधा-निवृत्तिके लिये ही भोजन करे, जिससे साधनमें विघ्नबाधा न आ जाय, और मेध्य—पवित्र भोजन करे। इस प्रकार भोजन करनेवालेको 'लघ्वाशी' कहते हैं।

'यतवाक्कायमानसः'—जिसकी वाणी, शरीर और मन संयत* (वशमें) हैं, उसको इनके परवश नहीं होना पड़ता। तात्पर्य है कि कोई कठोर वाणी सुना भी देता है तो साधक अपनी वाणीको

---

* इसी काया, वाणी और मनके संयमको सत्रहवें अध्यायके चौदहवें, पंद्रहवें और सोलहवें श्लोकमें क्रमशः शारीरिक, वाचिक और मानसिक तपके नामसे कहा गया है।

संयत रखता है, अपनी वाणीसे कठोर नहीं बोलता। शरीरको आराम मिले—इसकी परवशता वह नहीं रखता। मनमें कोई भी बात याद आ जाय तो समझता है कि यह तो पुरानी बातकी स्मृति है, अभी वह बात है ही नहीं।

मनमें जो सकल्प-विकल्प होते हैं, वे भूत या भविष्यके ही होते हैं, वर्तमानके नहीं। भूत और भविष्य—दोनो ही अभी नहीं हैं। वर्तमानका कार्य होता है, सकल्प-विकल्प नहीं। साधकसे गलती यह होती है कि जो अभी नहीं है, उसको लेकर उलझ जाता है, और जो परमात्मा भूत, भविष्य और वर्तमान—तीनों समय है, उसे देखता ही नहीं। 'है' को तो छोड़ दिया और 'नहीं' को लेकर दुःखी हो गया—यही गलती है।

'ध्यानयोगपरो नित्यम्'—साधक नित्य ही ध्यानयोगके परायण रहे। तात्पर्य है कि ध्यानके समय तो ध्यान होता ही रहे, प्रत्युत व्यवहारके समय अर्थात चलते-फिरते, उठते-बैठते, काम-धंधा करते समय भी यह ध्यान (भाव) सदा बना रहे कि वास्तवमें सर्वत्र एक परमात्मतत्त्वकी ही है, संसारकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं (गीता १८ । २०)।

'वैराग्यं समुपाश्रितः'—जैसे संसारी लोग रागपूर्वक पदार्थ, वस्तु, व्यक्ति आदिके आश्रित रहते हैं, इनको अपना आश्रय, मानते हैं, ऐसे ही सांख्ययोगका साधक वैराग्यके आश्रित रहता भोग-संग्रह, जन-समुदाय, स्थान आदिसे स्वाभाविक ही निर्लिप्त बना रहना ही वैराग्यके आश्रित होना है।

'अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं परिग्रहम् विमुच्य'—गुणोंको लेकर अपनेमें जो एक विशेषता दीखती है, उसे 'अहंकार' कहते हैं। जबर्दस्ती करके, विशेषतासे मनमानी करनेका जो आग्रह होता है, उसे 'बल' कहते हैं। जमीन-जायदाद आदि बाह्य चीजोंकी विशेषताको लेकर जो घमण्ड होता है, उसे 'दर्प' कहते हैं। भोग, पदार्थ तथा अनुकूल परिस्थिति मिल जाय, इस इच्छाका नाम 'काम' है। अपने स्वार्थ और अभिमानमें ठेस लगनेपर दूसरोंका अनिष्ट करनेके लिये जो जलनात्मक वृत्ति पैदा होती है, उसको 'क्रोध' कहते हैं। भोग-बुद्धिसे, सुख—आरामबुद्धिसे चीजोंका जो संग्रह किया जाता है, उसे 'परिग्रह'* कहते हैं।

उपर्युक्त अहंकार, बल, दर्प, काम, क्रोध और परिग्रह—इन सबका त्याग कर देना चाहिये।

'निर्ममः'—अपने पास निर्वाहमात्रकी जो वस्तुएँ हैं और कर्म करनेके शरीर, इन्द्रियाँ आदि जो साधन हैं, उनमें ममता अर्थात् अपनापन न हो†। अपना शरीर, वस्तु आदि जो हमें प्रिय लगते हैं, उनके बने रहनेकी इच्छा न होना 'निर्मम' होना है।

---

* ब्रह्मचारी, वानप्रस्थ और संन्यासी—इन सबके लिये तो स्वरूपसे ही परिग्रह (संग्रह) का त्याग है। अगर गृहस्थमें भी कोई सुख-भोग-बुद्धिसे संग्रह न करे, केवल दूसरोंकी सेवा, हितके लिये ही संग्रह करे तो वह भी परिग्रह नहीं है।

† केवल सांसारिक व्यवहारके लिये वस्तुओंमें मेरापन करना दोषी नहीं है, प्रत्युत उनको सदाके लिये अपना मान लेना दोषी है।

जिन व्यक्तियों और वस्तुओंको हम अपनी मानते हैं, वे आजसे सौ वर्ष पहले भी अपनी नहीं थीं और सौ वर्षके बाद भी अपनी नहीं रहेंगी। तो जो अपनी नहीं रहेंगी, उनका उपयोग या सेवा तो कर सकते हैं, पर उनको अपनी मानकर अपने पास नहीं रख सकते। अगर उनको अपने पास नहीं रख सकते तो 'वे अपनी नहीं हैं' ऐसा माननेमें क्या बाधा है? उनको अपनी न माननेसे साधक निर्मम हो जाता है।

'शान्तः'—असत संसारके साथ सम्बन्ध रखनेसे ही अन्तःकरणमें अशान्ति, हलचल आदि पैदा होते हैं। जड़तासे सर्वथा सम्बन्ध-विच्छेद होनेपर अशान्ति कभी पासमें आती ही नहीं। फिर राग-द्वेष न रहनेसे साधक हरदम शान्त रहता है।

'ब्रह्मभूयाय कल्पते'—ममतारहित और शान्त पुरुष (सांख्ययोगका साधक) परमात्मप्राप्तिका अधिकारी बन जाता है अर्थात् असत्‌का सर्वथा सम्बन्ध छूटते ही उसमें ब्रह्मप्राप्तिकी योग्यता आ जाती है।

सम्बन्ध—

उपर्युक्त साधन-सामग्रीसे सिद्ध प्राप्त हो जानेपर क्या होता है—इसको अगले श्लोकमें बताते हैं।

श्लोक—

ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति।
समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम्॥ ५४ ॥

'अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं परिग्रहम् विमुच्य'—गुणोंको लेकर अपनेमें जो एक विशेषता दीखती है, उसे 'अहंकार' कहते हैं। जबर्दस्ती करके, विशेषतासे मनमानी करनेका जो आग्रह होता है, उसे 'बल' कहते हैं। जमीन-जायदाद आदि बाह्य चीजोंकी विशेषताको लेकर जो घमण्ड होता है, उसे 'दर्प' कहते हैं। भोग, पदार्थ तथा अनुकूल परिस्थिति मिल जाय, इस इच्छाका नाम 'काम' है। अपने स्वार्थ और अभिमानमें ठेस लगनेपर दूसरोंका अनिष्ट करनेके लिये जो जलनात्मक वृत्ति पैदा होती है, उसको 'क्रोध' कहते हैं। भोग-बुद्धिसे, सुख-आरामबुद्धिसे चीजोंका जो संग्रह किया जाता है, उसे 'परिग्रह'* कहते हैं।

उपर्युक्त अहंकार, बल, दर्प, काम, क्रोध और परिग्रह—इन सबका त्याग कर देना चाहिये।

'निर्ममः'—अपने पास निर्वाहमात्रकी जो वस्तुएँ हैं और क करनेके शरीर, इन्द्रियाँ आदि जो साधन हैं, उनमें ममता अथ अपनापन न हो†। अपना शरीर, वस्तु आदि जो हमें प्रिय ल हैं, उनके बने रहनेकी इच्छा न होना 'निर्मम' होना है।

---

* ब्रह्मचारी, वानप्रस्थ और संन्यासी—इन सबके लिये तो स्व ही परिग्रह (संग्रह) का त्याग है। अगर गृहस्थमें भी कोई सुख बुद्धिसे संग्रह न करे, केवल दूसरोंकी सेवा, हितके लिये ही संग्रह वह भी परिग्रह नहीं है।

† केवल सांसारिक व्यवहारके लिये वस्तुओंमें मेरापन कर नहीं है, प्रत्युत उनको सदाके लिये अपना मान लेना दोषी है।

जिन व्यक्तियों और वस्तुओंको हम अपनी मानते हैं, वे आजसे सौ वर्ष पहले भी अपनी नहीं थीं और सौ वर्षके बाद भी अपनी नहीं रहेंगी। तो जो अपनी नहीं रहेंगी, उनका उपयोग या सेवा तो कर सकते हैं, पर उनको अपनी मानकर अपने पास नहीं रख सकते। अगर उनको अपने पास नहीं रख सकते तो 'वे अपनी नहीं हैं' ऐसा माननेमें क्या बाधा है? उनको अपनी न माननेसे साधक निर्मम हो जाता है।

'शान्तः'—असत् संसारके साथ सम्बन्ध रखनेसे ही अन्तःकरणमें अशान्ति, हलचल आदि पैदा होते हैं। जड़तासे सर्वथा सम्बन्ध-विच्छेद होनेपर अशान्ति कभी पासमें आती ही नहीं। फिर राग-द्वेष न रहनेसे साधक हरदम शान्त रहता है।

'ब्रह्मभूयाय कल्पते'—ममतारहित और शान्त पुरुष (सांख्ययोगका साधक) परमात्मप्राप्तिका अधिकारी बन जाता है अर्थात् असत्का सर्वथा सम्बन्ध छूटते ही उसमें ब्रह्मप्राप्तिकी योग्यता आ जाती है।

सम्बन्ध—

उपर्युक्त साधन-सामग्रीसे निष्ठा प्राप्त हो जानेपर क्या होता है—इसको अगले श्लोकमें बताते हैं।

श्लोक—

ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति।
समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम्॥ ५४॥

व्याख्या—

'ब्रह्मभूतः'—जब अन्तःकरणमें विनाशशील वस्तुओंका महत्त्व मिट जाता है तो अन्तःकरणकी अहंकार, घमण्ड आदि वृत्तियाँ शान्त हो जाती हैं अर्थात उनका त्याग हो जाता है। फिर अपने पास जो वस्तुएँ हैं, उनमें भी ममता नहीं रहती। ममता न रहनेसे वस्तुओंका सुख और भोग-बुद्धिसे संग्रह नहीं होता। जब सुख और भोग-बुद्धि मिट जाती है तो अन्तःकरणमें स्वतः-स्वाभाविक ही शान्ति आ जाती है।

इस प्रकार साधक जब असतसे ऊपर उठ जाता है, तब वह ब्रह्मप्राप्तिका पात्र बन जाता है। पात्र बननेपर उसकी ब्रह्मभूत-अवस्था अपने-आप हो जाती है। इसके लिये उसको कुछ करना नहीं पड़ता। इस अवस्थामें 'मैं ब्रह्मस्वरूप हूँ और ब्रह्म मेरा स्वरूप है' ऐसा उसको अपनी दृष्टिसे अनुभव हो जाता है। इसी अवस्थाको यहाँ (और गीता ५। २४ में भी) **'ब्रह्मभूतः'** पदसे कहा गया है।

'प्रसन्नात्मा'—जब अन्तःकरणमें असत वस्तुओंका महत्त्व हो जाता है तो उन वस्तुओंको प्राप्त करनेकी कामना पैदा हो जाती है। कामना पैदा होते ही अन्तःकरणकी शान्ति भंग हो जाती है और अशान्ति—हलचल पैदा हो जाती है। परंतु जब असत वस्तुओंका महत्त्व मिट जाता है तो साधकके चित्तमें स्वाभाविक प्रसन्नता रहती है। अप्रसन्नताका कारण मिट जानेसे फिर अप्रसन्नता होती ही नहीं। कारण कि सांख्ययोगी साधकके अन्तः-

कारणमें अपने-सहित संसारका अभाव और परमात्मतत्त्वका भाव अटल रहता है।

'न शोचति न काङ्क्षति'—उस प्रसन्नताकी पहचान यह है कि वह शोक-चिन्ता नहीं करता। सांसारिक कितनी ही बड़ी हानि हो जाय तो भी वह शोक नहीं करता और अमुक परिस्थिति प्राप्त हो जाय—ऐसी इच्छा भी नहीं करता। तात्पर्य है कि उत्पन्न और नष्ट होनेवाली तथा आने-जानेवाली परिवर्तनशील परिस्थिति, वस्तु, व्यक्ति, पदार्थ आदिके बनने-बिगड़नेसे उसपर कोई असर ही नहीं पड़ता। जो परमात्मामें अटलरूपसे स्थित है, उसपर आने-जानेवाली परिस्थितियोंका असर हो ही कैसे सकता है!

'समः सर्वेषु भूतेषु'—जबतक साधकमें किंचिन्मात्र भी हर्ष-शोक, राग-द्वेष आदि द्वन्द्व रहते हैं, तबतक वह सर्वत्र व्याप्त परमात्माके साथ अभिन्नताका अनुभव नहीं कर सकता। अभिन्नताका अनुभव न होनेसे वह अपनेको सम्पूर्ण भूतोंमें सम नहीं देख सकता। परंतु जब साधक हर्ष-शोकादि द्वन्द्वोंसे सर्वथा रहित हो जाता है तो परमात्माके साथ स्वतः-स्वाभाविक अभिन्नता (जो कि सदासे ही थी) का अनुभव हो जाता है। परमात्माके साथ अभिन्नता होनेसे, अपना कोई व्यक्तित्व* न रहनेसे अर्थात् 'मैं हूँ' इस रूपसे अपनी कोई अलग सत्ता न रहनेसे वह सम्पूर्ण प्राणियोंमें सम हो जाता है। जैसे परमात्मा सम्पूर्ण भूतोंमें सम है—

* व्यक्तित्व उसे कहते हैं, जिसमें मनुष्य अपनी सत्ता अलग मानता है और जिससे बन्धन होता है।

'समोऽहं सर्वभूतेषु' (गीता ९ । २९), वैसे ही वह भी सम्पूर्ण भूतोंमें सम हो जाता है।

वह सम्पूर्ण भूतोंमें सम किस प्रकार होता है ? जैसे— मनोराज्य और स्वप्नमें जो नाना सृष्टि होती है, उसमें मन ही अनेक रूप धारण करता है अर्थात् वह सृष्टि मनोमयी होती है। मनोमयी होनेसे जैसे सब सृष्टिमें मन है और मनमें सब सृष्टि है, ऐसे ही सब प्राणियोंमें (आत्मरूपसे) वह है और उसमें सम्पूर्ण प्राणी हैं*। इसीको यहाँ **'समः सर्वेषु भूतेषु'**—कहा है।

'मद्भक्तिं लभते पराम्'—जब समरूप परमात्माके साथ अभिन्नता होनेसे पुरुषका सर्वत्र सम भाव हो जाता है तो उसका परमात्मामें प्रतिक्षण वर्द्धमान एक विलक्षण आकर्षण, खिंचाव, अनुराग हो जाता है। उसीको यहाँ पराभक्ति कहा गया है।

पाँचवें अध्यायके चौबीसवें श्लोकमें जैसे ब्रह्मभूत-अवस्थाके बाद ब्रह्मनिर्वाणकी प्राप्ति बतायी है—**'स योगी ब्रह्मनिर्वाणं ब्रह्मभूतोऽधिगच्छति'** ऐसे ही यहाँ ब्रह्मभूत-अवस्थाके बाद पराभक्तिकी प्राप्ति बतायी है।

सम्बन्ध—

अब अगले श्लोकमें पराभक्तिका फल बताते हैं।

---

* सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः॥
(गीता ६ । २९)

श्लोक—

भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः।
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्॥५५॥

व्याख्या—

'भक्त्या मामभिजानाति'—जब परमात्मतत्त्वमें आकर्षण, अनुराग हो जाता है, तब साधक स्वयं उस परमात्माके सर्वथा समर्पित हो जाता है, उस तत्त्वसे अभिन्न हो जाता है। फिर उसका अलग कोई (स्वतन्त्र) अस्तित्व नहीं रहता अर्थात् उसके अहंभावका अति-सूक्ष्म अंश भी नहीं रहता। इस वास्ते उसको प्रेमलक्षणा प्रेमाभक्ति प्राप्त हो जाती है। उस भक्तिसे परमात्मतत्त्वका वास्तविक बोध हो जाता है।

ब्रह्मभूत-अवस्था हो जानेपर संसारके सम्बन्धका तो सर्वथा त्याग हो जाता है, पर 'मैं ब्रह्म हूँ, मैं शान्त हूँ, मैं निर्विकार हूँ'—ऐसा सूक्ष्म अहंभाव रह जाता है। यह अहंभाव जबतक रहता है, तबतक परिच्छिन्नता और पराधीनता रहती है। कारण कि यह अहंभाव प्रकृतिका कार्य है और प्रकृति 'पर' है; इस वास्ते पराधीनता रहती है। परमात्माकी तरफ आकृष्ट होनेसे, पराभक्ति होनेसे ही यह अहंभाव मिटता है*। इस अहंभावके सर्वथा मिटनेसे ही तत्त्वका वास्तविक बोध होता है।

'यावान्'—सातवें अध्यायके आरम्भमें भगवान्‌ने अर्जुनको 'समग्र'-रूप सुननेकी आज्ञा दी कि मेरेमें जिसका मन आसक्त हो

* प्रेम भगति जल बिनु रघुराई। अभिअंतर मल कबहुँ न जाई॥
(मानस ७। ४८। ३)

गया है, जिसको मेरा ही आश्रय है, वह अनन्यभावसे मेरे साथ दृढ़तापूर्वक सम्बन्ध रखते हुए मेरे जिस समग्ररूपको जान लेता है, उसको तुम सुनो*। यही बात भगवान्‌ने सातवें अध्यायके अन्तमें कही कि जरा-मरणसे मुक्ति पानेके लिये जो मेरा आश्रय लेकर यत्न करते हैं, वे ब्रह्म सम्पूर्ण अध्यात्म और सम्पूर्ण कर्मको अर्थात् सम्पूर्ण निर्गुण-विषयको जान लेते हैं और अधिभूत, अधिदैव और अधियज्ञके सहित मुझको अर्थात् सम्पूर्ण सगुण-विषयको जान लेते हैं।†

---

* मय्यासक्तमनाः पार्थ योगं युञ्जन्मदाश्रयः।
असंशयं समग्रं मां यथा ज्ञास्यसि तच्छृणु॥
(गीता ७। १)

† जरामरणमोक्षाय मामाश्रित्य यतन्ति ये।
ते ब्रह्म तद्विदुः कृत्स्नमध्यात्मं कर्म चाखिलम्॥
साधिभूताधिदैवं मां साधियज्ञं च ये विदुः।
प्रयाणकालेऽपि च मां ते विदुर्युक्तचेतसः॥
(गीता ७। २९-३०)

इसी समग्ररूपको लेकर आठवें अध्यायके आरम्भमें अर्जुनने 'वह ब्रह्म क्या है?' आदि सात प्रश्न किये। भगवान्‌ने आठवें अध्यायके तीसरे-से सातवें श्लोकतक उन प्रश्नोंका संक्षेपसे वर्णन किया और आगे आठवेंसे दसवें श्लोकतक सगुण-निराकारका, ग्यारहवेंसे तेरहवें श्लोकतक निर्गुण-निराकारका और चौदहवेंसे सोलहवें श्लोकतक सगुण-साकारका वर्णन किया। फिर सत्रहवेंसे उन्नीसवें श्लोकतक कालकी अवधिवालोंका वर्णन करके बीसवेंसे बाईसवें श्लोकतक अपने समग्ररूपका उपसंहार किया। तेईसवेंसे छब्बीसवें श्लोकतक पुनरावर्ती और अपुनरावर्ती मार्गका वर्णन करके सत्ताईसवें श्लोकमें दोनों मार्गोंको जाननेकी महिमा कही। छठे

इस प्रकार निर्गुण और सगुणके सिवाय राम, कृष्ण, शिव, गणेश, शक्ति, सूर्य आदि अनेक रूपोंमें प्रकट होकर परमात्मा लीला करते हैं, उनको भी जान लेना—यही पराभक्तिसे 'यावान्' अर्थात् समग्ररूपको जानना है।

'यश्चास्मि तत्त्वतः'—वे ही परमात्मा अनेक रूपोंमें, अनेक आकृतियोंमें, अनेक शक्तियोंको साथ लेकर, अनेक कार्य करनेके लिये बार-बार प्रकट होते हैं और वे ही परमात्मा अनेक सम्प्रदायोंमें अपनी-अपनी भावनाके अनुसार अनेक इष्टदेवोंके रूपमें कहे जाते हैं। वास्तवमें परमात्मा एक ही हैं। इस प्रकार मैं जो हूँ—इसे तत्त्वसे जान लेता है।

'ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्'—ऐसा मुझे तत्त्वसे जानकर तत्काल* मेरेमें प्रविष्ट हो जाता है अर्थात् मेरे साथ भिन्नताका जो भाव था, वह सर्वथा मिट जाता है।

तत्त्वसे जाननेपर उसमें जो अनजानपना था, वह सर्वथा मिट जाता है और वह उस तत्त्वमें प्रविष्ट हो जाता है। यही पूर्णता है और इसीमें मनुष्यजन्मकी सार्थकता है।

विशेष बात

जीवकी परमात्मामें रति, प्रीति, प्रेम, आकर्षण स्वतः है। परंतु जब यह जीव प्रकृतिके साथ सम्बन्ध जोड़ लेता है तो

अध्यायके सैंतीसवें श्लोकसे योगभ्रष्टकी गतिपर जो प्रकरण चल रहा था, उसका उपसंहार आठवें अध्यायके अट्ठाईसवें श्लोकमें योगीकी महिमा कहकर किया।

* जानने और प्राप्त करनेमें कालभेद नहीं होता।

परमात्मासे विमुख हो जाता है और संसारमें आकर्षण हो जाता है। वह आकर्षण ही वासना, स्पृहा, कामना, आशा, तृष्णा आदि नामोंसे कहा जाता है।

इन वासना आदिका जो विषय (प्रकृतिजन्य पदार्थ) है, वह क्षणभङ्गुर और परिवर्तनशील है, तथा यह जीवात्मा स्वयं नित्य और अपरिवर्तनशील है। ऐसा होता हुआ भी प्रकृतिके साथ तादात्म्य होनेसे यह परिवर्तनशीलमें आकृष्ट हो जाता है। इससे इसको मिलता कुछ नहीं; परंतु कुछ मिलेगा—इस भ्रम, वासनाके कारण यह जन्म-मरणके चक्करमें पड़ा हुआ महान् दुःख पाता रहता है। इससे छूटनेके लिये भगवान्‌ने योग बताया है। यह योग जड़तासे सम्बन्ध-विच्छेद करके परमात्माके साथ नित्ययोगका अनुभव करा देता है।

गीतामें मुख्यरूपसे तीन योग कहे हैं—कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोग। इन तीनोंपर विचार किया जाय तो भगवान्‌का प्रेम तीनों ही योगोंमें है। कर्मयोगमें इसको 'कर्तव्यरति' कहते हैं अर्थात् वह रति कर्तव्यमें होती है—**'स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः'** (१८ । ४५) [कर्मयोगकी यह रति अन्तमें आत्मरतिमें परिणत हो जाती है (गीता २ । ५५; ३ । १७) और जिस कर्मयोगीके भक्तिके संस्कार हैं, उसकी यह रति भगवद्रतिमें परिणत हो जाती है]। ज्ञानयोगमें उसी प्रेमको 'आत्मरति' कहते हैं अर्थात् वह रति स्वरूपमें होती है—**'योऽन्तःसुखोऽन्तरारामः'** (५ । २४)। और भक्तियोगमें उसी प्रेमको 'भगवद्रति' कहते हैं अर्थात् वह

रति भगवान्‌में होती *—'तुष्यन्ति च रमन्ति च' (१० । ९)। इस प्रकार इन तीनों योगोंमें रति होनेपर भी गीतामें 'भगवद्रति' की विशेष रूपसे महिमा गायी गयी है।

तपस्वी, ज्ञानी और कर्मी—इन तीनोंसे भी योगी (समतावाला) श्रेष्ठ है†। तात्पर्य यह है कि जड़तासे सम्बन्ध रखते हुए बड़ा भारी तप करनेपर, बहुत-से शास्त्रोंका अनेक प्रकारका ज्ञान सम्पादन करनेपर और यज्ञ, दान, तीर्थ आदिके बड़े-बड़े अनुष्ठान करनेपर जो कुछ प्राप्त होता है; वह सब अनित्य ही होता है, पर योगीको

---

* भगवान्‌में रति या प्रियता प्रकट होती है—अपनेपनसे। परमात्माके साथ जीवका अनादिकालसे स्वतःसिद्ध सम्बन्ध है। अपनी चीज स्वतः प्रिय लगती है। अतः अपनापन प्रकट होते ही भगवान् स्वतः प्यारे लगते हैं। प्रियतामें कभी समाप्त न होनेवाला अलौकिक, विलक्षण आनन्द है। वह आनन्द प्राप्त होनेपर प्राणीमें स्वतः निर्विकारता आ जाती है अर्थात् काम, क्रोध, लोभ, मद, मत्सर आदि कोई भी विकार पैदा हो ही नहीं सकता। पारमार्थिक आनन्द न मिलनेसे ही कामादि विकार पैदा होते हैं अर्थात् आनन्द न मिलनेसे नाशवान् वस्तुओंसे सुख लेनेकी इच्छा होती है, जिससे सब विकार पैदा होते हैं।

उत्पत्ति-विनाशशील वस्तुओंके साथ अपनापन करनेसे ही यह जीव भगवान्‌से विमुख हो जाता है। विमुखता होनेपर भी भगवान्‌की प्रियता कभी मिट नहीं सकती। नास्तिक-से-नास्तिक भी आफत पड़नेपर पुकार उठता है कि कोई ईश्वर है तो रक्षा करे!

† तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन॥
(गीता ६ । ४६)

नित्य-तत्त्वकी प्राप्ति होती है । इस वास्ते तपस्वी, ज्ञानी और कर्मी—तीनोंसे 'योगी' श्रेष्ठ है । इस प्रकारके कर्मयोगी, ज्ञानयोगी, हठयोगी, लययोगी आदि सब योगियोंमें भगवान्‌ने 'भक्तियोगी' को सर्वश्रेष्ठ बताया है*। यही भक्तियोगी भगवान्‌के समग्ररूपको जान लेता है, और उसी समग्ररूपको ध्यानपरायण सांख्ययोगी पराभक्तिके द्वारा जान लेता है । उसी समग्ररूपका वर्णन यहाँ 'यावान्' पदसे हुआ है†।

इस प्रकरणके आरम्भमें 'सिद्धिको प्राप्त हुआ जिस प्रकार ब्रह्मको प्राप्त होता है, यह कहनेकी प्रतिज्ञा की और बताया कि ध्यानयोगके परायण होनेसे वह वैराग्यको प्राप्त होता है । वैराग्यसे अहंकार आदिका त्याग करके ममतारहित होकर शान्त होता है ।

---

* योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना ।
श्रद्धावान्भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः ॥
(गीता ६ । ४७)

† गीतामें 'यावान्' को ही 'वासुदेवः सर्वम्' (७ । १९) कहा है । उसी तत्त्वको सत्-असत् (२ । १६), परा-अपरा (७ । ४-५), पुरुष-प्रकृति (१३ । १९), क्षेत्रज्ञ-क्षेत्र (१३ । २६) आदि दो रूपोंमें बताया है, और उसी तत्त्वको सत्-असत्‌से पर भी बताया है—'त्वमक्षरं सदसत्तत्परं यत्' (११ । ३७)। उस तत्त्वको गीतामें तीन रूपोंसे भी बताया है—अपरा, परा और अहम् (७ । ५-६), क्षेत्र, क्षेत्रज्ञ और माम् (१३ । १-२) एवं क्षर, अक्षर और पुरुषोत्तम (१५ । १६-१७)। इन तीनोंके (आठवें अध्यायके आरम्भमें अर्जुनके पूछनेपर) भगवान्‌ने छः भेद बताये हैं—'अपरा'—क्रिया और पदार्थ, 'परा'—सामान्य जीव और कारक पुरुष, एवं 'अहम्'—निर्गुण और सगुण ।

तब वह ब्रह्मप्राप्तिका पात्र होता है। पात्र होते ही उसकी ब्रह्मभूत-अवस्था हो जाती है। ब्रह्मभूत-अवस्था होनेपर संसारके सम्बन्धसे जो राग-द्वेष, हर्ष-शोक आदि द्वन्द्व होते थे, वे सर्वथा मिट जाते हैं तो वह सम्पूर्ण प्राणियोंमें सम हो जाता है। सम होनेपर पराभक्ति प्राप्त हो जाती है। वह पराभक्ति ही वास्तविक प्रीति है। उस प्रीतिसे परमात्माके समग्ररूपका बोध हो जाता है। बोध होते ही उस तत्त्वमें प्रवेश हो जाता है—'विशते तदनन्तरम्'।

अनन्यभक्तिसे तो मनुष्य भगवान्‌को तत्त्वसे जान सकता है, उनमें प्रविष्ट हो सकता है और उनके दर्शन भी कर सकता है*; परंतु ध्यानप्रधान सांख्ययोगी भगवान्‌को तत्त्वसे जानकर उनमें प्रविष्ट तो होता है, पर भगवान् उसको दर्शन देनेमें बाध्य नहीं होते। कारण कि उसकी साधना पहलेसे ही विवेकपूर्वक रही है, इस वास्ते उसको दर्शनकी इच्छा नहीं होती। दर्शन न होनेपर भी उसमें कोई कमी नहीं रहती, अतः कमी माननी नहीं चाहिये।

यहाँ उस तत्त्वमें प्रविष्ट हो जाना ही अनिर्वचनीय प्रेमकी प्राप्ति है। इसी प्रेमको नारदभक्तिसूत्रमें प्रतिक्षण वर्धमान कहा है†।

---

* इन छः भेदोंको दृष्टान्तके रूपमें यों समझें—जल-तत्त्व एक होनेपर भी उसके छः भेद हैं; उसमें परमाणुरूपसे जल निर्गुण ब्रह्म है, भापरूपसे जल सगुण परमात्मा है, बादलरूपसे जल कारक पुरुष (ब्रह्मा), बूँदोंके रूपसे जल सामान्य जीव है, वर्षारूपसे जल सृष्टिरचनारूप क्रिया है, और बर्फरूपसे जल (पृथ्वी, जल, तेज, वायु आदि) पदार्थ है।

† गुणरहितं कामनारहितं प्रतिक्षणवर्धमानमविच्छिन्नं सूक्ष्मतरमनुभवरूपम्। (नारदभक्तिसूत्र ५४)

इस प्रेममें सर्वथा पूर्णता हो जाती है अर्थात् उसके लिये करना, जानना और पाना कुछ भी बाकी नहीं रहता । इस वास्ते न करनेका राग रहता है, न जाननेकी जिज्ञासा रहती है, न जीनेकी आशा रहती है, न मरनेका भय रहता है और न पानेका लालच ही रहता है ।

जबतक भगवान्में पराभक्ति अर्थात् परम प्रेम नहीं होता, तबतक ब्रह्मभूत-अवस्थामें भी 'मैं ब्रह्म हूँ' यह सूक्ष्म अहंकार रहता है । जबतक लेशमात्र भी अहंकार रहता है, तबतक परिच्छिन्नताका अत्यन्त अभाव नहीं होता । परंतु 'मैं ब्रह्म हूँ' यह सूक्ष्म अहंभाव तबतक जन्म-मरणका कारण नहीं बनता, जबतक उसमें प्रकृतिजन्य गुणोंका सङ्ग नहीं होता; क्योंकि गुणोंका सङ्ग होनेसे ही बन्धन होता है—'**कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु**' (गीता १३ । २१) । उदाहरणार्थ—गाढ़ नींदसे जगनेपर साधारण मनुष्यमात्रको सबसे पहले यह अनुभव होता है कि 'मैं हूँ' । ऐसा अनुभव होते ही जब नाम, रूप, देश, काल, जाति आदिके साथ स्वयंका सम्बन्ध जुड़ जाता है, तब 'मैं हूँ' यह अहंभाव शुभ-अशुभ कर्मोंका कारण बन जाता है, जिससे जन्म-मरणका चक्कर चल पड़ता है । परंतु जो ऊँचे दर्जेका साधक होता है अर्थात् जिसकी निरन्तर ब्रह्मभूत-अवस्था रहती है, उसके सात्त्विक ज्ञान (१८ । २०) में सब जगह ही अपने स्वरूपका बोध रहता है । परंतु जबतक साधकका सत्त्वगुणके साथ सम्बन्ध रहता है, तबतक नींदसे जगने-पर तत्काल 'मैं ब्रह्म हूँ' अथवा 'सब कुछ एक परमात्मा ही है'—

ऐसी वृत्ति पकड़ी जाती है और मालूम होता है कि नींदमें यह वृत्ति छूट गयी थी, मानो उसकी भूल हो गयी थी और अब पीछे उस तत्त्वकी जागृति हो गयी है, स्मृति आ गयी है। गुणातीत हो जानेपर अर्थात् गुणोंसे सर्वथा सम्बन्ध-विच्छेद होनेपर विस्मृति और स्मृति—ऐसी दो अवस्थाएँ नहीं होतीं अर्थात् नींदमें भूल हो गयी और अब स्मृति आ गयी—ऐसा अनुभव नहीं होता, प्रत्युत नींद तो केवल अन्तःकरणमें आयी थी, अपनेमें नहीं, अपना स्वरूप तो ज्यों-का-त्यों रहा—ऐसा अनुभव रहता है। तात्पर्य यह है कि निद्राका आना और उससे जगना—ये दोनों प्रकृतिमें ही हैं, ऐसा उसका स्पष्ट अनुभव रहता है। इसी अवस्थाको चौदहवें अध्यायके बाईसवें श्लोकमें कहा है कि प्रकाश अर्थात् नींदसे जगना और मोह अर्थात् नींदका आना—इन दोनोंमें गुणातीत पुरुषके किञ्चिन्मात्र भी राग-द्वेष नहीं होते* ।

सम्बन्ध—

पहले श्लोकमें अर्जुनने संन्यास और त्यागके तत्त्वके विषयमें पूछा तो उसके उत्तरमें भगवान्‌ने चौथेसे बारहवें श्लोकतक कर्मप्रधान कर्मयोगका और इकतालीसवेंसे अड़तालीसवें श्लोकतक भक्तिमिश्रित कर्मयोगका वर्णन किया, तथा तेरहवेंसे चालीसवें श्लोकतक विचारप्रधान सांख्ययोगका और उन्चासवेंसे पचपनवें

* प्रकाशं च प्रवृत्तिं च मोहमेव च पाण्डव।
न द्वेष्टि संप्रवृत्तानि न निवृत्तानि काङ्क्षति॥
(गीता १४। २२)

श्लोकतक ध्यान-प्रधान सांख्ययोगका वर्णन किया । इस प्रकार दो निष्ठाओं— सांख्यनिष्ठा और योगनिष्ठाका वर्णन करके अब भगवान् उन दोनों निष्ठाओंसे अलग भक्तिकी प्रधानतावाली 'भगवन्निष्ठा'* (भक्तियोग अथवा शरणागति) का वर्णन आरम्भ करते हैं ।

श्लोक—

सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयः ।
मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम् ॥ ५६ ॥

व्याख्या—

'सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणः'—यहाँ 'कर्माणि' पदके साथ 'सर्व' और 'कुर्वाणः' पदके साथ 'सदा' पद देनेका तात्पर्य है

---

* भगवान्‌ने भगवद्गीतामें सांख्य और योग—इन दो निष्ठाओंका वर्णन किया है । साधकोंकी साधनमें ये दोनों ही निष्ठाएँ होती हैं; इस बातको गीता ३ । ३में 'लोकेऽस्मिन् द्विविधा निष्ठा' और गीता १५ । १६में 'द्वाविमौ पुरुषौ लोके' पद आये हैं, अर्थात् एककी (कर्मयोगीकी) क्षरमें निष्ठा है और दूसरेकी (सांख्ययोगीकी) अक्षरमें नि[ष्ठा है ।] परन्तु जो भगवान्‌की तरफ चलते हैं वे भगवन्निष्ठ होते हैं । उनकी यह निष्ठा अलौकिक है; उनकी अपनी स्वतन्त्र साधन-निष्ठा नहीं होती । जहाँ अलौकिक भगवान्‌में निष्ठा है, वहाँ बन्धन काटनेकी जिम्मेवारी भगवान्‌पर ही आ जाती है । इस निष्ठाका वर्णन गीतामें जगह-जगह आता है । जैसे, तीसरे अध्यायमें दो निष्ठाओंका वर्णन करके श्लोकमें 'मयि सर्वाणि……' कहकर और पाँचवें अध्यायमें भी दो नि[ष्ठाओंका] वर्णन करके अन्तमें उन्तीसवें श्लोकमें 'भोक्तारं यज्ञतपसाम्……', कहकर भक्तिकी बात बतायी । ऐसे ही गीता ६ । ४७में 'योगिनामपि सर्वेषाम्……', कहकर, गीता १५ । १७ में 'उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः' कहकर और यहाँ 'सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयः' कहकर भक्तिकी बात बतायी ।

कि जिस ध्यानप्रधान सांख्ययोगीने शरीर, वाणी और मनका संयमन कर लिया है अर्थात् जिसने शरीर आदिकी क्रियाओंको संकुचित कर लिया है और एकान्तमें रहकर सदा ध्यानयोगमें लगा रहता है, उसको जिस पदकी प्राप्ति होती है, उसी पदको लौकिक, पारलौकिक, सामाजिक, शारीरिक आदि सम्पूर्ण कर्तव्य-कर्मोंको हमेशा करते हुए भी मेरा आश्रय लेनेवाला मेरी कृपासे प्राप्त कर लेता है।

'मद्व्यपाश्रयः'—कर्मोंका, कर्मोंके फलका, कर्मोंके पूरा होने अथवा न होनेका, किसी घटना, परिस्थिति, वस्तु, व्यक्ति आदिका आश्रय न हो। केवल मेरा ही आश्रय (सहारा) हो। इस तरह जो सर्वथा मेरे ही परायण हो जाता है, अपना स्वतन्त्र कुछ नहीं समझता, किसी भी वस्तुको अपनी नहीं मानता, सर्वथा मेरे आश्रित रहता है, ऐसे भक्तको अपने उद्धारके लिये कुछ करना नहीं पड़ता। उसका उद्धार मैं कर देता हूँ *; उसको अपने जीवन-निर्वाह या साधन-सम्बन्धी किसी बातकी कमी नहीं रहती; सबकी मैं पूर्ति कर देता हूँ †—यह मेरा सदाका एक विधान है, नियम है, जो कि सर्वथा शरण हो जानेवाले हरेक प्राणीको प्राप्त हो सकता है ‡।

---

* तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात्।
भवामि नचिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम्॥ (गीता १२। ७)

† अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्॥ (गीता ९। २२)

‡ अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि

हरेक व्यक्तिको यह बात तो समझमें आ जाती है कि जो एकान्तमें रहता है और साधन-भजन करता है, उसका कल्याण हो जाता है; परंतु यह बात समझमें नहीं आती कि जो सदा मशीनकी तरह संसारका सब काम करता है, उसका कल्याण कैसे होगा? उसका कल्याण हो जाय, ऐसी कोई युक्ति नहीं दीखती; क्योंकि ऐसे तो सब लोग कर्म करते ही रहते हैं। इतना ही नहीं, जीव-मात्र कर्म करता ही रहता है, पर उन सबका कल्याण होता हुआ दीखता नहीं और शास्त्र भी ऐसा कहता नहीं! इसके उत्तरमें भगवान् कहते हैं—'**मत्प्रसादात्**'। तात्पर्य यह कि जिसने केवल मेरा ही आश्रय ले लिया है, उसका कल्याण मेरी कृपासे हो जायगा, कौन है मना करनेवाला!

यद्यपि प्राणिमात्रपर भगवान्‌का अपनापन और कृपा सदा-सर्वदा स्वतःसिद्ध है, तथापि यह प्राणी जबतक असत् संसारका आश्रय लेकर भगवान्‌से विमुख रहता है, तबतक भगवत्कृपा उसके लिये फलीभूत नहीं होती अर्थात् उसके काममें नहीं आती। परंतु यह प्राणी भगवान्‌का आश्रय लेकर ज्यों-ज्यों दूसरा आश्रय छोड़ता जाता है, त्यों-ही-त्यों भगवान्‌का आश्रय दृढ़ होता चला जाता है

क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति।
कौन्तेय प्रति जानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति॥
मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम्॥
(गीता ९। ३०-३२)

और ज्यों-ज्यों भगवान्‌का आश्रय दृढ़ होता जाता है, त्यों-ही-त्यों भगवत्कृपाका अनुभव होता जाता है। जब सर्वथा भगवान्‌का आश्रय ले लेता है, तब उसे भगवान्‌की पूर्ण कृपाका अनुभव हो जाता है।

'अवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम्'—स्वतःसिद्ध परमपदकी प्राप्ति अपने कर्मोंसे, अपने पुरुषार्थसे अथवा अपने साधनसे नहीं होती। यह तो केवल भगवत्कृपासे ही होती है। शाश्वत अव्यय-पद सर्वोत्कृष्ट है। उसी परमपदको भक्तिमार्गमें परमधाम, सत्यलोक, वैकुण्ठलोक, गोलोक, साकेतलोक आदि कहते हैं और ज्ञानमार्गमें विदेह-कैवल्य, मुक्ति, स्वरूपस्थिति आदि कहते हैं। यह परमपद तत्त्वसे एक होते हुए भी मार्गों और उपासनाओंका भेद होनेसे उपासकोंकी दृष्टिसे भिन्न-भिन्न कहा जाता है *।

भगवान्‌का चिन्मय लोक एक देश-विशेषमें होते हुए भी सब जगह व्यापकरूपसे परिपूर्ण है। जहाँ भगवान् हैं, वहीं उनका लोक भी है; क्योंकि भगवान् और उनका लोक तत्त्वसे एक ही है। भगवान् सर्वत्र विराजमान हैं; अतः उनका लोक भी सर्वत्र विराजमान (सर्वव्यापी) है। जब भक्तकी अनन्य निष्ठा सिद्ध हो जाती है, तब परिच्छिन्नताका अत्यन्त अभाव हो जाता है और वही लोक उसके सामने प्रकट हो जाता है अर्थात् उसे यहाँ जीते-जी ही

* अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्तस्तमाहुः परमां गतिम्।
यं प्राप्य न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम॥ (गीता ८। २१)
ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहममृतस्याव्ययस्य च।
शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च॥ (गी

उस लोककी दिव्य लीलाओंका अनुभव होने लगता है। परंतु जिस भक्तकी ऐसी धारणा रहती है कि वह दिव्य लोक एक देश-विशेषमें ही है, तो उसे उस लोककी प्राप्ति शरीर छोड़नेपर ही होती है। उसे लेनेके लिये भगवान्‌के पार्षद आते हैं और कहीं-कहीं स्वयं भगवान् भी आते हैं।

विशेष बात—

प्रकृति और पुरुष—ये दो तत्त्व हैं। इनमें प्रकृतिसे सर्वथा सम्बन्ध-विच्छेद करके अपने स्वरूपका अनुभव करना 'ज्ञानयोग' है, और प्रकृतिके कार्य संसारके पदार्थोंको केवल संसारका ही समझकर संसारके हितमें लगा देना 'कर्मयोग' है। इन दोनों (ज्ञानयोग और कर्मयोग)से साधककी एक निष्ठा (स्थिति) बनती है। इस वास्ते यह साधककी अपनी निष्ठा है।

भगवान्‌के परायण होकर अपने-आपको भगवान्‌के समर्पित कर देना, अपनेको भगवान्‌के साथ अभेद अथवा भेद-भावसे अभिन्न कर देना, अपना स्वतन्त्र अस्तित्व न मानना—यह 'भक्तियोग' है। यह निष्ठा साधककी नहीं है, प्रत्युत भगवान्‌की (भगवन्निष्ठा) है।

ज्ञानयोग और कर्मयोग—इन दोनों साधनोंसे 'असङ्गता' प्राप्त होती है। उस असङ्गतामें स्थित होकर साधक अखण्ड-शान्तिका अनुभव करता है। परंतु भक्तियोगमें भगवन्निष्ठ साधक

भगवान्‌के साथ 'अभिन्नता' प्राप्त करके प्रतिक्षण वर्द्धमान भगवत्प्रेमका आस्वादन करता है *।

सम्बन्ध—

पूर्वश्लोकमें अपना सामान्य विधान (नियम) बताकर अब भगवान् अगले श्लोकमें अर्जुनके लिये विशेषरूपसे आज्ञा देते हैं ।

श्लोक—

चेतसा सर्वकर्माणि मयि संन्यस्य मत्परः ।
बुद्धियोगमुपाश्रित्य मच्चित्तः सततं भव ॥ ५७ ॥

व्याख्या—

इस श्लोकमें भगवान्‌ने चार बातें बतायी हैं—

(१) 'चेतसा सर्वकर्माणि मयि संन्यस्य'—सम्पूर्ण कर्मोंको चित्तसे मेरे अर्पित कर दे ।

(२) 'मत्परः'—स्वयंको मेरे अर्पित कर दे ।

(३) 'बुद्धियोगमुपाश्रित्य'—समताका आश्रय लेकर संसारसे सम्बन्ध-विच्छेद कर ले ।

(४) 'मच्चित्तः सततं भव'—निरन्तर मेरेमें चित्तवाला हो जा अर्थात् मेरे साथ अटल सम्बन्ध कर ले ।

---

* गुणरहितं कामनारहितं प्रतिक्षणवर्धमानमविच्छिन्नं सूक्ष्मतरमनुभवरूपम् ॥ (नारद-भक्ति-सूत्र ५४)

'यह प्रेम गुणरहित है, कामनारहित है, प्रतिक्षण बढ़ता — विच्छेदरहित है, सूक्ष्मसे भी सूक्ष्मतर है और अनुभवरूप है ।

'चेतसा सर्वकर्माणि मयि संन्यस्य'—चित्तसे कर्मोंको अर्पित करनेका तात्पर्य है कि मनुष्य चित्तसे यह धारणा कर ले कि मन, बुद्धि, इन्द्रियाँ, शरीर आदि और संसारके व्यक्ति, पदार्थ, घटना, परिस्थिति आदि सब भगवान्की ही हैं। भगवान् ही इन सबके मालिक हैं। इनमेंसे कोई भी चीज किसीकी व्यक्तिगत नहीं है। केवल इन वस्तुओंका सदुपयोग करनेके लिये ही भगवान्ने व्यक्तिगत अधिकार दिया है। इस दिये हुए अधिकारको भी भगवान्के अर्पित कर देना है।

शरीर, इन्द्रियों, मन आदिसे जो कुछ शास्त्रविहित सांसारिक या पारमार्थिक क्रियाएँ होती हैं, वे सब भगवान्की मर्जीसे ही होती हैं। मनुष्य तो केवल अहंकारके कारण उनको अपनी मान लेता है। उन क्रियाओंमें जो अपनापन है, उसे भी भगवान्के अर्पित कर देना है; क्योंकि वह अपनापन केवल मूर्खतासे माना हुआ है, वास्तवमें है नहीं। इसलिये उनमें अपनेपनका भाव बिल्कुल उठा देना चाहिये और उन सबपर भगवान्की मुहर लगा देनी चाहिये।

'मत्परः'—भगवान् ही मेरे परम आश्रय हैं, उनके सिवा मेरा कुछ नहीं है, मेरेको करना भी कुछ नहीं है, पाना भी कु नहीं है, किसीसे लेना भी कुछ नहीं है अर्थात् देश, काल, व व्यक्ति, घटना, परिस्थिति आदिसे मेरा किञ्चिन्मात्र कोई प्रयोजन है—ऐसा अनन्यभाव हो जाना ही भगवान्के परायण होना है

पाठको! एक बात खास ध्यान देनेकी है। आप विशेष ध्यान दें। रुपये-पैसे, कुटुम्ब, शरीर आदिको आप

समझते हैं और मनमें यह समझते हैं कि हम इनके मालिक बन गये, हमारा इनपर आधिपत्य है; परन्तु वास्तवमें यह बात बिल्कुल झूठी है, कोरा वहम है और बड़ा भारी धोखा है। जो किसी चीजको अपनी मान लेता है, वह उस चीजका गुलाम बन जाता है और वह चीज उसकी मालिक बन जाती है। फिर उस चीजके बिना वह रह नहीं सकता। इस वास्ते जिन चीजोंको आप अपनी मान लोगे, वे सब आपपर चढ़ जायँगी और आप तुच्छ हो जायँगे। वह चीज चाहे रुपया हो, चाहे कुटुम्बी हो, चाहे शरीर हो, चाहे विद्या-बुद्धि आदि हो। ये सब चीजें प्राकृत हैं और आपसे भिन्न हैं, पर हैं। इनके अधीन होना ही पराधीन होना है।

भगवान् स्व हैं, अपने हैं। उनको आप अपना मानोगे, तो वे आपके वशमें हो जायँगे। भगवान्के हृदयमें भक्तका जितना आदर है, उतना आदर संसारमें करनेवाला दूसरा कोई नहीं है। भगवान् भक्तके दास हो जाते हैं और उसे अपना मुकुटमणि बनाते हैं—'मैं तो हूँ भगतनका दास भगत मेरे मुकुटमणि'। परन्तु संसार आपका दास बनकर आपको मुकुटमणि नहीं बनायेगा। वह तो आपको अपना दास बनाकर पद-दलित ही करेगा। इस वास्ते केवल भगवान्के शरण होकर सर्वथा उन्हींके परायण हो जायँ।

'बुद्धियोगमुपाश्रित्य'—गीताभरमें देखा जाय तो समताकी बड़ी भारी महिमा है। आपमें एक समता आ गयी तो आप ज्ञानी, ध्यानी, योगी, भक्त आदि सब कुछ बन गये। परन्तु यदि आपमें समता नहीं आयी तो अच्छे-अच्छे लक्षण आनेपर भी भगवान् उसको

पूर्णता नहीं मानते । वह समता आपमें स्वाभाविक रहती है । केवल आने-जानेवाली परिस्थितियोंके साथ मिलकर आप सुखी-दुःखी हो जाते हैं । इस वास्ते उनमें आप सावधान रहें कि आने-जानेवाली परिस्थितिके साथ हम नहीं हैं । सुख आया, अनुकूल परिस्थिति आयी तो भी आप हैं और सुख चला गया, अनुकूल परिस्थिति चली गयी तो भी आप हैं । ऐसे ही दुःख आया, प्रतिकूल परिस्थिति आयी तो भी आप हैं और दुःख चला गया, प्रतिकूल परिस्थिति चली गयी तो भी आप हैं । तो सुख-दुःखमें, अनुकूलता-प्रतिकूलतामें, हानि-लाभमें आप सदैव ज्यों-के-त्यों रहते हैं । परिस्थितियोंके बदलनेपर भी आप नहीं बदलते, सदा वही रहते हैं । तो आप अपने-आपमें स्थित रहें । अपने-आपमें स्थित रहनेसे सुख-दुःख आदिमें समता हो जायगी । यह समता ही भगवान्‌की आराधना है—'समत्वमाराधनमच्युतस्य' (विष्णुपुराण १ । १७ । ९०)। इसी वास्ते यहाँ भगवान् बुद्धियोग अर्थात् समताका आश्रय लेनेके लिये कहते हैं ।

'मच्चितः सततं भव'—जो अपनेको सर्वथा भगवान्‌के चरणोंमें समर्पित कर देता है, उसका चित्त भी सर्वथा भगवान्‌के चरणोंमें समर्पित हो जाता है । फिर उसपर भगवान्‌का जो स्वतः-स्वाभाविक अधिकार है, वह प्रकट हो जाता है और उसके चित्तमें स्वयं भगवान् आकर विराजमान हो जाते हैं* । यही 'मच्चित्तः' होना है ।

* या दोहनेऽवहनने मथनोपलेप-
प्रेङ्खेङ्खनार्भरुदितोक्षणमार्जनादौ ।

'मच्चित्तः' पदके साथ 'सततम्' पद देनेका अर्थ है कि निरन्तर मेरेमें (भगवान्‌में) चित्तवाला हो जा। भगवान्‌का निरन्तर चिन्तन तभी होगा, जब 'मैं भगवान्‌का हूँ' इस प्रकार अहंता भगवान्‌में लग जायगी। अहंता भगवान्‌में लग जानेपर चित्त स्वतः-स्वाभाविक भगवान्‌में लग जाता है। जैसे, शिष्य बननेपर 'मैं गुरुका हूँ' इस प्रकार अहंता गुरुमें लग जानेपर गुरुकी याद निरन्तर बनी रहती है। गुरुका सम्बन्ध स्वयंकी अहंतामें बैठ जानेके कारण इस सम्बन्धकी याद आये तो भी याद है और याद न आये तो भी याद है; क्योंकि स्वयं निरन्तर रहता है। इसमें भी देखा जाय तो गुरुके साथ उसने खुद सम्बन्ध जोड़ा है; परन्तु भगवान्‌के साथ इस जीवका स्वतःसिद्ध नित्य सम्बन्ध है। केवल संसारके साथ सम्बन्ध जोड़नेसे ही नित्य सम्बन्धकी विस्मृति हुई है। उस विस्मृतिको मिटानेके लिये भगवान् कहते हैं कि निरन्तर मेरेमें चित्तवाला हो जा।

गायन्ति चैनमनुरक्तधियोऽश्रुकण्ठ्यो
धन्या व्रजस्त्रिय उरुक्रमचित्तयानाः ॥
(श्रीमद्भा० १० । ४४ । १५)

'हे सखी! वे व्रजकी गोपियाँ धन्य हैं, जिनकी बुद्धि भगवान्‌में ही अनुरक्त हो गयी है, जिनका चित्त भगवान्‌की सवारी बन गया है, भगवान्‌के स्मरणके कारण उनका कण्ठ आँसुओंसे रुक गया है। वे गोपियाँ गायोंका दूध दुहते समय, चावल आदि कूटते समय, दही बिलोते समय, घर लीपते समय, बच्चोंको पालनेमें झुलाते समय, रोते हुए बच्चोंको चुप कराते समय, तुलसी आदिको जलसे सींचते समय, घर, आँगन आदिमें झाड़ू देने आदि सब कामोंको करते समय निरन्तर श्रीकृष्णका ही गान करती रहती हैं।'

साधक कोई भी सांसारिक काम-धन्धा करे तो उसमें यह एक सावधानी रखे कि अपने चित्तको उस काम-धन्धेमें द्रवित न होने दे, चित्तको संसारके साथ घुलने-मिलने न दे अर्थात् तदाकार न होने दे, प्रत्युत उसमें अपने चित्तको कठोर रखे। परन्तु भगवन्नामका जप, कीर्तन, भगवत्कथा, भगवच्चिन्तन आदि भगवत्सम्बन्धी कार्योंमें चित्तको द्रवित करता रहे, तल्लीन करता रहे, उस रसमें चित्तको तदाकार करता रहे *। इस प्रकार करते रहनेसे साधक बहुत जल्दी भगवान्‌में चित्तवाला हो जायगा।

प्रेम-सम्बन्धी विशेष बात—

चित्तसे सब कर्म भगवान्‌के अर्पित करनेसे संसारसे नित्य-वियोग हो जाता है† और भगवान्‌के परायण होनेसे भगवान्‌से नित्य-

* काठिन्यं विषये कुर्याद् द्रवत्वं भगवत्पदे।
उपायैः शास्त्रनिर्दिष्टैरनुक्षणमतो बुधः॥
(भक्तिरसायन १।३२)

† वास्तवमें संसारके साथ कभी संयोग हो नहीं सकता। उसका तो नित्य ही वियोग रहता है। जैसे, मनमें किसी वस्तुका चिन्तन होता है, तो वह उस वस्तुका माना हुआ संयोग है, जिससे उस वस्तुके न मिलनेका दुःख होता है। जब वस्तु (बाहरसे) मिल जाती है, तब उस वस्तुका भीतरसे वियोग हो जाता है, जिससे सुख होता है। ऐसे ही किसी कारणसे बाहरसे वस्तु चली जाय, नष्ट हो जाय, तो मनसे उस वस्तुका संयोग होनेपर दुःख होता है, और विवेक-विचारके द्वारा 'यह वस्तु हमारी थी ही नहीं, हमारी हो सकती ही नहीं' इस प्रकार वस्तुको मनसे निकाल देनेपर सुख होता है। तात्पर्य यह है कि भीतरसे संयोग माना तो बाहरसे वियोग है और बाहरसे संयोग माना तो भीतरसे वियोग है। अतः वास्तवमें संसारके साथ नित्य वियोग ही रहता है। मनुष्य केवल भूलसे संसारके साथ संयोग मान लेता है।

योग हो जाता है। इस नित्ययोग (प्रेम) में योग, नित्ययोगमें वियोग, वियोगमें नित्ययोग और वियोगमें वियोग—ये चार अवस्थाएँ चित्तकी वृत्तियोंको लेकर होती हैं। इन चारों अवस्थाओंको इस प्रकार समझना चाहिये—

जैसे, श्रीराधा और श्रीकृष्णका परस्पर मिलन होता है, तो यह 'नित्ययोगमें योग' है। मिलन होनेपर भी श्रीजीमें ऐसा भाव आ जाता है कि प्रियतम कहीं चले गये हैं और वे एकदम कह उठती हैं कि 'प्यारे! तुम कहाँ चले गये!' तो यह 'नित्ययोगमें वियोग' है। श्यामसुन्दर सामने नहीं हैं, पर मनसे उन्हींका गाढ़ चिन्तन हो रहा है और वे मनसे प्रत्यक्ष मिलते हुए दीख रहे हैं, तो यह 'वियोगमें नित्ययोग' है। श्यामसुन्दर थोड़े समयके लिये सामने नहीं आये, पर मनमें ऐसा भाव है कि बहुत समय बीत गया, श्यामसुन्दर मिले नहीं, क्या करूँ! कहाँ जाऊँ! श्यामसुन्दर कैसे मिलें! तो यह 'वियोगमें वियोग' है।

वास्तवमें इन चारों अवस्थाओंमें भगवान्‌के साथ नित्ययोग ज्यों-का-त्यों बना रहता है, वियोग कभी होता ही नहीं, हो सकता ही नहीं और होनेकी सम्भावना भी नहीं। इसी नित्ययोगको 'प्रेम' कहते हैं; क्योंकि प्रेममें प्रेमी और प्रेमास्पद दोनों अभिन्न रहते हैं। वहाँ भिन्नता कभी हो ही नहीं सकती। प्रेमका आदान-प्रदान करनेके लिये ही भक्त और भगवान्‌में संयोग-वियोगकी लीला हुआ करती है।

यह प्रेम प्रतिक्षण वर्द्धमान किस प्रकार है? जब प्रेमी और प्रेमास्पद परस्पर मिलते हैं, तब 'प्रियतम पहले चले गये थे, उनसे

वियोग हो गया था; अब कहीं ये फिर न चले जायँ !'* इस भावके कारण प्रेमास्पदके मिलनेमें तृप्ति नहीं होती, सन्तोष नहीं होता। वे चले जायँगे—इस बातको लेकर मन ज्यादा खिंचता है। इस वास्ते इस प्रेमको प्रतिक्षण वर्द्धमान बताया है।

'प्रेम' (भक्ति) में चार प्रकारका रस अथवा रति होती है—दास्य, सख्य, वात्सल्य और माधुर्य। इन रसोंमें दास्यसे सख्य, सख्यसे वात्सल्य और वात्सल्यसे माधुर्य-रस श्रेष्ठ है; क्योंकि इनमें क्रमशः भगवान्‌के ऐश्वर्यकी विस्मृति ज्यादा होती चली जाती है। परन्तु जब इन चारोंमेंसे कोई एक भी रस पूर्णतामें पहुँच जाता है, तब उसमें दूसरे रसोंकी कमी नहीं रहती अर्थात् उसमें सभी रस आ जाते हैं। जैसे, दास्यरस पूर्णतामें पहुँच जाता है तो उसमें सख्य, वात्सल्य और माधुर्य—तीनों रस आ जाते हैं। यही बात अन्य रसोंके विषयमें भी समझनी चाहिये। कारण यह है कि भगवान् पूर्ण हैं, उनका प्रेम भी पूर्ण है और परमात्माका अंश होनेसे जीव स्वयं भी पूर्ण है। अपूर्णता तो केवल संसारसे सम्बन्ध होनेसे ही आती है। इस वास्ते भगवान्‌के साथ किसी भी रीतिसे रति हो जायगी तो वह पूर्ण हो जायगी, उसमें कोई कमी नहीं रहेगी।

'दास्य' रतिमें भक्तका भगवान्‌के प्रति यह भाव रहता है कि भगवान् मेरे स्वामी हैं और मैं उनका सेवक हूँ। मेरेपर उनका पूरा

* योग और वियोगमें प्रेम-रसकी वृद्धि होती है। यदि सदा योग ही रहे, वियोग न हो, तो प्रेम-रस बढ़ेगा नहीं, प्रत्युत अखण्ड और एकरस रहेगा। इस वास्ते प्रेम-रसको बढ़ानेके लिये भगवान् अन्तर्धान भी हो जाते हैं।

अधिकार है। वे चाहे जो करें, चाहे जैसी परिस्थितिमें रखें और मेरेसे चाहे जैसा काम लें। मेरेपर अत्यधिक अपनापन होनेसे ही वे बिना मेरी सम्मति लिये ही मेरे लिये सब विधान करते हैं।

'सख्य' रतिमें भक्तका भगवान्‌के प्रति यह भाव रहता है कि भगवान् मेरे सखा हैं और मैं उनका सखा हूँ। वे मेरे प्यारे हैं और मैं उनका प्यारा हूँ। उनका मेरेपर पूरा अधिकार है और मेरा उनपर पूरा अधिकार है। इस वास्ते मैं उनकी बात मानता हूँ, तो मेरी भी बात उनको माननी पड़ेगी।

'वात्सल्य' रतिमें भक्तका अपनेमें स्वामिभाव रहता है कि मैं भगवान्‌की माता हूँ या मैं उनका पिता हूँ अथवा मैं उनका गुरु हूँ और वह तो हमारा बच्चा है अथवा शिष्य है; इस वास्ते उनका पालन-पोषण करना है। उनकी निगरानी भी रखनी है कि कहीं वह अपना नुकसान न कर ले; जैसे—नन्दबाबा और यशोदा मैया कन्हैया-का ख्याल रखते हैं और कन्हैया वनमें जाता है तो उसकी निगरानी रखनेके लिये दाऊजीको साथमें भेजते हैं।

'माधुर्य'* रतिमें भक्तको भगवान्‌के ऐश्वर्यकी विशेष स्मृति

* लोग प्रायः माधुर्यभावसे स्त्री-पुरुषका भाव ही समझते हैं; परन्तु यह भाव स्त्री-पुरुषके सम्बन्धमें ही होता है—यह नियम नहीं है। माधुर्य नाम मधुरता अर्थात् मिठासका है और वह मिठास आती है भगवान्‌के साथ अभिन्नता होनेसे। यह अभिन्नता जितनी अधिक होगी, मधुरता भी उतनी ही अधिक होगी। इस वास्ते दास्य, सख्य और वात्सल्यभावमेंसे किसी भी भावमें पूर्णता होनेपर उसमें मधुरता कम नहीं रहेगी। अतः भक्तिके सभी भावोंमें माधुर्यभाव रहता है।

वियोग हो गया था; अब कहीं ये फिर न चले जायँ !'* इस भावके कारण प्रेमास्पदके मिलनेमें तृप्ति नहीं होती, सन्तोष नहीं होता। वे चले जायँगे—इस बातको लेकर मन ज्यादा खिंचता है। इस वास्ते इस प्रेमको प्रतिक्षण वर्द्धमान बताया है।

'प्रेम' (भक्ति) में चार प्रकारका रस अथवा रति होती है—दास्य, सख्य, वात्सल्य और माधुर्य। इन रसोंमें दास्यसे सख्य, सख्यसे वात्सल्य और वात्सल्यसे माधुर्य-रस श्रेष्ठ है; क्योंकि इनमें क्रमशः भगवान्‌के ऐश्वर्यकी विस्मृति ज्यादा होती चली जाती है। परन्तु जब इन चारोंमेंसे कोई एक भी रस पूर्णतामें पहुँच जाता है, तब उसमें दूसरे रसोंकी कमी नहीं रहती अर्थात् उसमें सभी रस आ जाते हैं। जैसे, दास्यरस पूर्णतामें पहुँच जाता है तो उसमें सख्य, वात्सल्य और माधुर्य—तीनों रस आ जाते हैं। यही बात अन्य रसोंके विषयमें भी समझनी चाहिये। कारण यह है कि भगवान् पूर्ण हैं, उनका प्रेम भी पूर्ण है और परमात्माका अंश होनेसे जीव स्वयं भी पूर्ण है। अपूर्णता तो केवल संसारसे सम्बन्ध होनेसे ही आती है। इस वास्ते भगवान्‌के साथ किसी भी रीतिसे रति हो जायगी तो वह पूर्ण हो जायगी, उसमें कोई कमी नहीं रहेगी।

'दास्य' रतिमें भक्तका भगवान्‌के प्रति यह भाव रहता है कि भगवान् मेरे स्वामी हैं और मैं उनका सेवक हूँ। मेरेपर उनका पूरा

* योग और वियोगमें प्रेम-रसकी वृद्धि होती है। यदि सदा योग ही रहे, वियोग न हो, तो प्रेम-रस बढ़ेगा नहीं, प्रत्युत अखण्ड और एकरस रहेगा। इस वास्ते प्रेम-रसको बढ़ानेके लिये भगवान् अन्तर्धान भी हो जाते हैं।

अधिकार है। वे चाहे जो करें, चाहे जैसी परिस्थितिमें रखें और मेरेसे चाहे जैसा काम लें। मेरेपर अत्यधिक अपनापन होनेसे ही वे बिना मेरी सम्मति लिये ही मेरे लिये सब विधान करते हैं।

'सख्य' रतिमें भक्तका भगवान्‌के प्रति यह भाव रहता है कि भगवान् मेरे सखा हैं और मैं उनका सखा हूँ। वे मेरे प्यारे हैं और मैं उनका प्यारा हूँ। उनका मेरेपर पूरा अधिकार है और मेरा उनपर पूरा अधिकार है। इस वास्ते मैं उनकी बात मानता हूँ, तो मेरी भी बात उनको माननी पड़ेगी।

'वात्सल्य, रतिमें भक्तका अपनेमें स्वामिभाव रहता है कि मैं भगवान्‌की माता हूँ या मैं उनका पिता हूँ अथवा मैं उनका गुरु हूँ और वह तो हमारा बच्चा है अथवा शिष्य है; इस वास्ते उनका पालन-पोषण करना है। उनकी निगरानी भी रखनी है कि कहीं वह अपना नुक्सान न कर ले; जैसे—नन्दबाबा और यशोदा मैया कन्हैया-का ख्याल रखते हैं और कन्हैया वनमें जाता है तो उसकी निगरानी रखनेके लिये दाऊजीको साथमें भेजते हैं।

'माधुर्य'* रतिमें भक्तको भगवान्‌के ऐश्वर्यकी विशेष स्मृति

* लोग प्रायः माधुर्यभावमें स्त्री-पुरुषका भाव ही समझते हैं; परन्तु यह भाव स्त्री-पुरुषके सम्बन्धमें ही होता है—यह नियम नहीं है। माधुर्य नाम मधुरता अर्थात् मिठासका है और वह मिठास आती है भगवान्‌के साथ अभिन्नता होनेसे। वह अभिन्नता जितनी अधिक होगी, मधुरता भी उतनी ही अधिक होगी। इस वास्ते दास्य, सख्य और वात्सल्यभावमेंसे किसी भी भावमें पूर्णता होनेपर उसमें मधुरता कम नहीं रहेगी। अतः भक्तिके सभी भावोंमें माधुर्यभाव रहता है।

रहती है, इस वास्ते इस रतिमें भक्त भगवान्‌के साथ अपनी अभिन्नता (घनिष्ठ अपनापन) मानता है। अभिन्नता माननेसे 'उनके लिये सुखदायी सामग्री जुटानी है, उन्हें सुख-आराम पहुँचाना है, उनको किसी तरहकी कोई तकलीफ न हो'—ऐसा भाव बना रहता है।

प्रेम-रस अलौकिक है, चिन्मय है। इसका आस्वादन करनेवाले केवल भगवान् ही होते हैं। प्रेममें प्रेमी और प्रेमास्पद—दोनों ही चिन्मय-तत्त्व होते हैं। कभी प्रेमी प्रेमास्पद बन जाता है और कभी प्रेमास्पद प्रेमी हो जाता है। इस वास्ते एक चिन्मय-तत्त्व ही प्रेमका आस्वादन करनेके लिये दो रूपोंमें हो जाता है।

प्रेमके तत्त्वको न समझनेके कारण कुछ लोग सांसारिक कामको ही प्रेम कह देते हैं। उनका यह कहना बिलकुल गलत है; क्योंकि काम तो चौरासी लाख योनियोंके सम्पूर्ण जीवोंमें रहता है और उन जीवोंमें भी जो भूत, प्रेत, पिशाच होते हैं, उनमें काम (सुखभोगकी इच्छा) अत्यधिक होता है। परन्तु प्रेमके अधिकारी जीवन्मुक्त महापुरुष ही होते हैं।

अभेद और अभिन्नतामें भेद है। जिसमें केवल एक तत्त्व ही रह जाय, द्वैतभाव सर्वथा समाप्त हो जाय, उसका नाम 'अभेद' है और दो होते हुए भी एक रहनेका नाम 'अभिन्नता' है; जैसे दो मित्रोंमें भीतरसे घनिष्ठता होनेसे अभिन्नता रहती है। अभिन्नता जितनी गाढ़ होती है, उतना ही माधुर्यरस प्रकट होता है। इसीको प्रेम-रस कहते हैं। भगवान् भी इस प्रेम-रसके लोभी हैं। इस प्रेम-रसका आस्वादन करनेके लिये ही भगवान् एकसे अनेक रूपोंमें हो जाते हैं—'एकाकी न रमते' (बृहदारण्यक० १।४।३), 'सदैक्षत बहु स्यां प्रजायेयेति' (छान्दोग्य० ६।२।३)।

काममें लेने-ही-लेनेकी भावना होती है। और प्रेममें देने-ही-देनेकी भावना होती है। काममें अपनी इन्द्रियोंको तृप्त करने— उनसे सुख भोगनेका भाव रहता है और प्रेममें अपने प्रेमास्पदको सुख पहुँचाने तथा सेवा-परायण रहनेका भाव रहता है। काम केवल शरीरको लेकर ही होता है और प्रेम स्थूलदृष्टिसे शरीरमें दीखते हुए भी वास्तवमें चिन्मय-तत्त्वसे ही होता है। काममें मोह (मूढ़भाव) रहता है और प्रेममें मोहकी गन्ध भी नहीं रहती। काममें संसार तथा संसारका दुःख भरा रहता है और प्रेममें मुक्ति तथा मुक्तिसे भी विलक्षण आनन्द रहता है। काममें जड़ता (शरीर, इन्द्रियाँ आदि) की मुख्यता रहती है और प्रेममें चिन्मयता (चेतन स्वरूप) की मुख्यता रहती है। काममें राग होता है और प्रेममें त्याग होता है। काममें परतन्त्रता होती है और प्रेममें परतन्त्रताका लेश भी नहीं होता अर्थात् स्वतन्त्रता होती है। काममें 'वह मेरे काममें आ जाय' ऐसा भाव रहता है और प्रेममें 'मैं उसके काममें आ जाऊँ' ऐसा भाव रहता है। काममें कामी भोग्य वस्तुका गुलाम बन जाता है और प्रेममें स्वयं भगवान् प्रेमीके गुलाम बन जाते हैं। कामका रस नीरसतामें बदलता है और प्रेमका रस आनन्दरूपसे प्रतिक्षण बढ़ता ही रहता है। काम खिन्नतासे पैदा होता है और प्रेम प्रेमास्पदकी प्रसन्नतासे प्रकट होता है। काममें अपनी प्रसन्नताका ही उद्देश्य रहता है और प्रेममें प्रेमास्पदकी प्रसन्नताका ही उद्देश्य रहता है। काम-मार्ग नरकोंकी तरफ ले जाता है और प्रेम-मार्ग भगवान्‌की तरफ ले जाता है। काममें दो होकर दो ही रहते हैं अर्थात् द्वैधीभाव (भिन्नता या

भेद) कभी मिटता नहीं और प्रेममें एक होकर दो होते हैं अर्थात् अभिन्नता कभी मिटती नहीं* ।

सम्बन्ध—

पिछले (सत्तावनवें) श्लोकमें दी हुई आज्ञाको अब भगवान् अगले दो श्लोकोंमें क्रमशः अन्वय और व्यतिरेक रीतिसे दृढ करते हैं ।

श्लोक—

मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात्तरिष्यसि ।
अथ चेत्त्वमहंकारान्न श्रोष्यसि विनङ्क्ष्यसि ॥ ५८ ॥

व्याख्या—

'मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात्तरिष्यसि'—भगवान् कहते हैं कि मेरेमें चित्तवाला होनेसे तू मेरी कृपासे सम्पूर्ण विघ्न, बाधा, शोक, दुःख आदिको तर जायगा अर्थात् उनको दूर करनेके लिये तुझे कुछ भी प्रयास नहीं करना पड़ेगा ।

भगवद्भक्तने अपनी तरफसे सब कर्म भगवान्‌के अर्पित कर दिये, स्वयं भगवान्‌के अर्पित हो गया, समताके आश्रयसे संसारकी

---

* द्वैतं मोहाय बोधात्प्राग्जाते बोधे मनीषया ।
भक्त्यर्थं कल्पितं द्वैतमद्वैतादपि सुन्दरम् ॥
पारमार्थिकमद्वैतं द्वैतं भजनहेतवे ।
तादृशी यदि भक्तिः स्यात्सा तु मुक्तिशताधिका ॥

'बोधसे पहलेका द्वैत मोहके लिये होता है । परंतु बोध हो जानेपर भक्तिके लिये बुद्धिसे कल्पित द्वैत अद्वैतसे भी अधिक सुन्दर है ।'

'वास्तविक तत्त्व तो अद्वैत ही है, पर भजनके लिये द्वैत है । ऐसी यदि भक्ति है तो वह भक्ति मुक्तिसे भी सौगुनी श्रेष्ठ है ।'

संयोगजन्य लोलुपतासे सर्वथा विमुख हो गया और भगवान्‌के साथ अटल सम्बन्ध कर लिया। यह सब कुछ हो जानेपर भी वास्तविक तत्त्वकी प्राप्तिमें यदि कुछ कमी रह जाय या सांसारिक लोगोंकी अपेक्षा अपनेमें कुछ विशेषता देखकर अभिमान आ जाय अथवा इस प्रकारके कोई सूक्ष्म दोष रह जायँ, तो उन दोषोंको दूर करनेकी साधकपर कोई जिम्मेवारी नहीं रहती, प्रत्युत उन दोषोंको, विघ्न-बाधाओंको दूर करनेकी पूरी जिम्मेवारी भगवान्‌की हो जाती है। इस वास्ते भगवान् कहते हैं—'मत्प्रसादात्तरिष्यसि' अर्थात् मेरी कृपासे सम्पूर्ण विघ्न-बाधाओंको तर जायगा। इसका तात्पर्य यह निकला कि भक्त अपनी तरफसे, उसको जितना समझमें आ जाय, उतना पूरी सावधानीके साथ कर ले, उसके बाद जो कुछ कमी रह जायगी, वह भगवान्‌की कृपासे पूरी हो जायगी।

प्राणीका अगर कुछ अपराध हुआ है तो वह यही हुआ है कि उसने संसारके साथ अपना सम्बन्ध मान लिया और भगवान्‌से विमुख हो गया। अब उस अपराधको दूर करनेके लिये यदि वह अपनी ओरसे संसारका सम्बन्ध तोड़कर भगवान्‌के सम्मुख हो जाय। सम्मुख हो जानेपर जो कुछ कमी रह जायगी, वह भगवान्‌की कृपासे पूरी हो जायगी। अब अगाड़ी (आगे) का सब काम भगवान् कर लेंगे। तात्पर्य यह हुआ कि भगवत्कृपा प्राप्त करनेमें संसारके साथ किञ्चित् भी सम्बन्ध मानना और भगवान्‌से विमुख हो जाना—यही बाधा थी। वह बाधा उसने मिटा दी तो अब पूर्णताकी प्राप्ति भगवत्कृपा अपने-आप करा देगी; क्योंकि अपने बनाये हुए दोषोंको दूर करनेकी जिम्मेवारी साधककी ही है।

…कृति और प्रकृतिके कार्य शरीरादिके साथ सम्बन्ध …शास्त्रोंका विधि-निषेध, अपने वर्ण-आश्रमके अनुसार … आदि नियम लागू होते हैं, और उसको उन-उन …न जरूर करना चाहिये; क्योंकि प्रकृति और प्रकृतिके …के सम्बन्धको लेकर ही पाप-पुण्य होते हैं और उनका …ख भी भोगना पड़ता है। इस वास्ते उसपर शास्त्रीय … नियम विशेषतासे लागू होते हैं। परंतु जो प्रकृति …के कार्यसे सर्वथा ही विमुख होकर भगवान्‌के सम्मुख हो … वह शास्त्रीय विधि-निषेध और वर्ण-आश्रमोंकी मर्यादाका …हीं रहता। वह विधि-निषेधसे ऊँचा उठ जाता है अर्थात् …विधि-निषेध लागू नहीं होते; क्योंकि विधि-निषेधकी मुख्यता …के राज्यमें ही रहती है। प्रभुके राज्यमें तो शरणागतिकी ही …ता रहती है।

जीव साक्षात् परमात्माका अंश है—**'ममैवांशो जीवलोके …वभूतः सनातनः'** (गीता १५। ७)। यदि वह केवल अपने …शी परमात्माकी ही तरफ चलता है तो उसपर देव, ऋषि, प्राणी, …ाँ-बाप आदि आप्तजन और दादा-परदादा आदि पितरोंका भी कोई …ऋण नहीं रहता*; क्योंकि शुद्ध चेतन अंशने इनसे कभी कुछ … लिया ही नहीं। लेना तभी बनता है, जब वह जड़ शरीरके साथ

* देवर्षिभूताप्तनृणां पितॄणां न किङ्करो नायमृणी च राजन्।
सर्वात्मना यः शरणं शरण्यं गतो मुकुन्दं परिहृत्य कर्तम्॥
(श्रीमद्भा० ११। ५। ४१)

है; नहीं तो उसमें …
सतः' (गीता २। १६)
नहीं, तो फिर वह उनका …
विघ्नोंको तरना है।

साधन-कालमें जीव…
अनेक विघ्न-बाधाएँ आती …
कृपाका सहारा रहनेसे स…
विघ्न-बाधाओंमें भगवान्…
उसे विघ्न-बाधाएँ कहीं…
कृपारूपसे ही दीखती…

संसारके हरे…
सम्भावना रहती …
आनेकी तथा …
उसके लिये भ…
काम मैं कर…
बाधाओंको…
भी करा दूँ…

अ…
अन्यथ…
कि …
कर…

अपना सम्बन्ध जोड़ लेता है और सम्बन्ध जोड़नेसे ही कमी आती है; नहीं तो उसमें कभी कमी आती ही नहीं—'नाभावो विद्यते सतः' (गीता २ । १६) । जब इसमें कभी कमी आती ही नहीं, तो फिर यह उनका ऋणी कैसे बन सकता है ! यही सम्पूर्ण विघ्नोंको तरना है ।

साधन-कालमें जीवन-निर्वाहकी समस्या, शरीरमें रोग आदि अनेक विघ्न-बाधाएँ आती हैं, परंतु उनके आनेपर भी भगवान्‌की कृपाका सहारा रहनेसे साधक विचलित नहीं होता । उसे तो उन विघ्न-बाधाओंमें भगवान्‌की विशेष कृपा ही दीखती है । इस वास्ते उसे विघ्न-बाधाएँ कहीं भी बाधारूपसे दीखती ही नहीं, प्रत्युत कृपारूपसे ही दीखती हैं ।

संसारके हरेक कार्यमें विघ्न आनेकी और आड़ लगनेकी सम्भावना रहती है । ऐसे ही पारमार्थिक साधनमें भी विघ्न-बाधाओंके आनेकी तथा भगवत्प्राप्तिमें आड़ लगनेकी सम्भावना रहती है । उसके लिये भगवान् कहते हैं कि मेरा आश्रय लेनेवालेके दोनों काम मैं कर दूँगा अर्थात् अपनी कृपासे साधनकी सम्पूर्ण विघ्न-बाधाओंको भी दूर कर दूँगा और उस साधनके द्वारा अपनी प्राप्ति भी करा दूँगा ।

अथ चेत्त्वमहंकारान्न श्रोष्यसि विनङ्क्ष्यसि—भगवान् अत्यधिक कृपालुताके कारण आत्मीयतापूर्वक अर्जुनसे कह रहे हैं कि 'अथ' अर्थात् पहलेमें मैंने जो कुछ कहा है, उसे न मान-कर अगर अहंकारके कारण अर्थात् मैं भी कुछ जानता [illegible] ता

हूँ तथा मैं कुछ समझ सकता हूँ, कुछ कर सकता हूँ आदि भावोंके कारण तू मेरी बात नहीं सुनेगा, मेरे इशारेके अनुसार नहीं चलेगा, मेरा कहना नहीं मानेगा तो तेरा पतन हो जायगा—**'विनङ्क्ष्यसि'**।

यद्यपि अर्जुनके लिये यह किञ्चिन्मात्र भी सम्भव नहीं है कि वह भगवान्‌की बात न सुने अथवा न माने, तथापि भगवान् कहते हैं कि **'चेत्'**—अगर तू मेरी बात नहीं सुनेगा तो तेरा पतन हो जायगा। तात्पर्य यह है कि अगर तू अज्ञता अर्थात् अनजानपनेसे मेरी बात न सुने अथवा किसी भूलके कारण न सुने तो यह सब क्षम्य है; परंतु यदि तू अहंकारसे मेरी बात नहीं सुनेगा तो तेरा पतन हो जायगा, क्योंकि अहंकारसे मेरी बात न सुननेसे तेरा अभिमान बढ़ जायगा, जो सम्पूर्ण आसुरी-सम्पत्तिका मूल है।

पहले चौथे अध्यायमें भगवान् स्वयं अपने श्रीमुखसे कहकर आये हैं कि तू मेरा भक्त और प्रिय सखा है—**'भक्तोऽसि मे सखा चेति'** (४ । ३) और फिर नवें अध्यायमें उन्होंने कहा है कि हे अर्जुन ! तू प्रतिज्ञा कर कि मेरे भक्तका पतन नहीं होता—**'कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति'** (९ । ३१)। इससे सिद्ध हुआ कि अर्जुन भगवान्‌के भक्त हैं; अतः वे कभी भगवान्‌से विमुख नहीं हो सकते और उनका पतन भी कभी नहीं हो सकता। परंतु अर्जुन भी यदि भगवान्‌की बात नहीं सुनेंगे तो भगवान्‌से विमुख हो जायँगे। भगवान्‌से विमुख होनेके कारण उनका पतन हो जायगा। तात्पर्य यह कि भगवान्‌से विमुख होनेके

कारण ही प्राणीका पतन होता है अर्थात् वह जन्म-मरणके चक्करमें पड़ता है* ।

विशेष बात—

इसी अध्यायके छप्पनवें श्लोकमें भगवान्‌ने प्रथम पुरुष 'अवाप्नोति'का प्रयोग करके सामान्य रीतिसे सबके लिये कहा कि मेरी कृपासे परमपदकी प्राप्ति हो जाती है, और यहाँ मध्यम पुरुष 'तरिष्यसि'का प्रयोग करके अर्जुनके लिये कहते हैं कि मेरी कृपासे तू सब विघ्न-बाधाओंको तर जायगा। इन दोनों बातोंका तात्पर्य यह है कि भगवान्‌की कृपामें जो शक्ति है, वह शक्ति किसी साधनमें नहीं है। इसका अर्थ यह नहीं कि साधन न करें, प्रत्युत परमात्मप्राप्तिके लिये साधन करना मनुष्यका स्वाभाविक धर्म होना चाहिये; क्योंकि मनुष्यजन्म केवल परमात्मप्राप्तिके लिये ही मिला है। मनुष्यजन्मको प्राप्त करके भी जो परमात्माको प्राप्त नहीं कर लेता, वह यदि ऊँचे-से-ऊँचे लोकोंमें भी चला जाय, तो भी उसे लौटकर संसार (जन्म-मरण) में आना ही पड़ेगा †।

---

* अप्राप्य मां निवर्तन्ते मृत्युसंसारवर्त्मनि ॥ (गीता ९ । ३)
मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमां गतिम् ॥ (गीता १६ । २०)

† आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन ।
मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते ॥ (गीता ८ । १६)

'हे अर्जुन! ब्रह्मलोकपर्यन्त सब लोक पुनरावर्ती हैं; परन्तु हे कुन्तीपुत्र! मुझको प्राप्त होकर पुनर्जन्म नहीं होता।'

येऽन्येऽरविन्दाक्ष विमुक्तमानिनस्त्वय्यस्तभावादविशुद्धबुद्धयः ।
आरुह्य कृच्छ्रेण परं पदं ततः पतन्त्यधोऽनादृतयुष्मदङ्घ्रयः ॥
(श्रीमद्भा० १० । २ । ३२)

इस वास्ते जब यह मनुष्यशरीर प्राप्त हुआ है तो मनुष्यको जीते-जी ही भगवत्प्राप्ति कर लेनी चाहिये और जन्म-मरणसे रहित हो जाना चाहिये (गीता ५ । २३)। कर्मयोगीके लिये भी भगवान्‌ने कहा है कि समतायुक्त पुरुष इस जीवित-अवस्थामें ही पुण्य और पाप—दोनोंसे रहित हो जाता है (गीता २ । ५०)। तात्पर्य यह हुआ कि कर्म-बन्धनसे सर्वथा रहित होना अर्थात् जन्म-मरणसे रहित होना मनुष्यमात्रका परम ध्येय है।

दसवें अध्यायके ग्यारहवें श्लोकमें कहा कि मैं अपनी कृपासे भक्तोंके अन्तःकरणमें ज्ञान प्रकाशित कर देता हूँ और ग्यारहवें अध्यायके सैंतालीसवें श्लोकमें भगवान्‌ने कहा कि मैंने अपनी कृपासे ही विराट्‌रूप दिखाया है। उसी कृपाको लेकर भगवान् यहाँ कहते हैं कि मेरी कृपासे परमपदकी प्राप्ति हो जायगी (१८ । ५६) और मेरी कृपासे ही सम्पूर्ण विघ्नोंको तर जायगा (१८ । ५८)। परमपदको प्राप्त होनेपर किसी प्रकारकी विघ्न-बाधा सामने आनेकी सम्भावना ही नहीं रहती। फिर भी सम्पूर्ण विघ्न-बाधाओंको तरनेकी बात कहनेका तात्पर्य यह है कि अर्जुनके मनमें यह भय बैठा था कि युद्ध करनेसे मुझे पाप लगेगा; युद्धके

'हे कमलनयन ! जो लोग आपके चरणोंके शरण नहीं हैं और आपकी भक्तिसे रहित होनेके कारण जिनकी बुद्धि भी शुद्ध नहीं है, वे अपनेको मुक्त तो मानते हैं, पर वास्तवमें वे बद्ध ही हैं। वे यदि कष्टपूर्वक साधन करके ऊँचे-ऊँचे पदपर भी पहुँच जायँ, तो भी वहाँसे नीचे गिर जाते हैं।'

कारण कुलपरम्पराके नष्ट होनेसे पितरोंका पतन हो जायगा और इस प्रकार अनर्थ-परम्परा बढ़ती ही जायगी; हमलोग राज्यके लोभमें आकर इस महान् पापको करनेके लिये तैयार हो गये हैं; इस वास्ते मैं शस्त्र छोड़कर बैठ जाऊँ और धृतराष्ट्रके पक्षके लोग मेरेको मार भी दें, तो भी मेरा बड़ा भारी कल्याण होगा (गीता १। ३६–४६)। इन सभी बातोंको लेकर और अनेक जन्मोंके दोषोंको भी लेकर भगवान् अर्जुनसे कहते हैं कि मेरी कृपासे तू सब विघ्नोंको, पापोंको तर जायगा—'सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात्तरिष्यसि'। भगवान्ने बहुवचनमें 'दुर्गाणि' पद देकर भी उसके साथ 'सर्व' शब्द और जोड़ दिया है। इसका तात्पर्य यह है कि मेरी कृपासे तेरा किञ्चिन्मात्र भी पाप नहीं रहेगा, कोई भी बन्धन नहीं रहेगा और मेरी कृपासे सर्वथा शुद्ध होकर तू परमपदको प्राप्त हो जायगा।

श्लोक—

यदहंकारमाश्रित्य न योत्स्य इति मन्यसे।
मिथ्यैष व्यवसायस्ते प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति॥ ५९॥

व्याख्या—

'यदहंकारमाश्रित्य'—अहंकारका आश्रय लेकर तू जो ऐसा मान रहा है कि मैं युद्ध नहीं करूँगा, ऐसा तेरा निश्चय मिथ्या है, झूठा है; क्योंकि क्षात्र-प्रकृति तुझे युद्ध करनेके लिये नियुक्त कर देगी अर्थात् बाध्य कर देगी। इसमें कारण यह है कि प्रकृति परमात्माकी ही एक दिव्य शक्ति है। उस प्रकृतिसे ही महत्तत्त्व और महत्तत्त्वसे अहंकार पैदा हुआ है। उस अहंकारका ही एक

इस वास्ते जब यह मनुष्यशरीर प्राप्त हुआ है तो मनुष्यको जीते-जी ही भगवत्प्राप्ति कर लेनी चाहिये और जन्म-मरणसे रहित हो जाना चाहिये (गीता ५ । २३)। कर्मयोगीके लिये भी भगवान्‌ने कहा है कि समतायुक्त पुरुष इस जीवित-अवस्थामें ही पुण्य और पाप—दोनोंसे रहित हो जाता है (गीता २ । ५०)। तात्पर्य यह हुआ कि कर्म-बन्धनसे सर्वथा रहित होना अर्थात् जन्म-मरणसे रहित होना मनुष्यमात्रका परम ध्येय है।

दसवें अध्यायके ग्यारहवें श्लोकमें कहा कि मैं अपनी कृपासे भक्तोंके अन्तःकरणमें ज्ञान प्रकाशित कर देता हूँ और ग्यारहवें अध्यायके सैंतालीसवें श्लोकमें भगवान्‌ने कहा कि मैंने अपनी कृपासे ही विराट्‌रूप दिखाया है। उसी कृपाको लेकर भगवान् यहाँ कहते हैं कि मेरी कृपासे परमपदकी प्राप्ति हो जायगी (१८ । ५६) और मेरी कृपासे ही सम्पूर्ण विघ्नोंको तर जायगा (१८ । ५८)। परमपदको प्राप्त होनेपर किसी प्रकारकी विघ्न-बाधा सामने आनेकी सम्भावना ही नहीं रहती। फिर भी सम्पूर्ण विघ्न-बाधाओंको तरनेकी बात कहनेका तात्पर्य यह है कि अर्जुनके मनमें यह भय बैठा था कि युद्ध करनेसे मुझे पाप लगेगा; युद्धके

'हे कमलनयन ! जो लोग आपके चरणोंके शरण नहीं हैं और आपकी भक्तिसे रहित होनेके कारण जिनकी बुद्धि भी शुद्ध नहीं है, वे अपनेको मुक्त तो मानते हैं, पर वास्तवमें वे बद्ध ही हैं। वे यदि कष्टपूर्वक साधन करके ऊँचे-ऊँचे पदपर भी पहुँच जायँ, तो भी वहाँसे नीचे गिर जाते हैं।'

कारण कुलपरम्पराके नष्ट होनेसे पितरोंका पतन हो जायगा और इस प्रकार अनर्थ-परम्परा बढ़ती ही जायगी; हमलोग राज्यके लोभमें आकर इस महान् पापको करनेके लिये तैयार हो गये हैं; इस वास्ते मैं शस्त्र छोड़कर बैठ जाऊँ और धृतराष्ट्रके पक्षके लोग मेरेको मार भी दें, तो भी मेरा बड़ा भारी कल्याण होगा (गीता १। ३६—४६)। इन सभी बातोंको लेकर और अनेक जन्मोंके दोषोंको भी लेकर भगवान् अर्जुनसे कहते हैं कि मेरी कृपासे तू सब विघ्नोंको, पापोंको तर जायगा—'सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात्तरिष्यसि'। भगवान्ने बहुवचनमें 'दुर्गाणि' पद देकर भी उसके साथ 'सर्व' शब्द और जोड़ दिया है। इसका तात्पर्य यह है कि मेरी कृपासे तेरा किञ्चिन्मात्र भी पाप नहीं रहेगा, कोई भी बन्धन नहीं रहेगा और मेरी कृपासे सर्वथा शुद्ध होकर तू परमपदको प्राप्त हो जायगा।

श्लोक—

यदहंकारमाश्रित्य न योत्स्य इति मन्यसे।
मिथ्यैष व्यवसायस्ते प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति॥ ५९॥

व्याख्या—

'यदहंकारमाश्रित्य'—अहंकारका आश्रय लेकर तू जो ऐसा मान रहा है कि मैं युद्ध नहीं करूँगा, ऐसा तेरा निश्चय मिथ्या है, झूठा है; क्योंकि क्षात्र-प्रकृति तुझे युद्ध करनेके लिये नियुक्त कर देगी अर्थात् बाध्य कर देगी। इसमें कारण यह है कि प्रकृति परमात्माकी ही एक दिव्य शक्ति है। उस प्रकृतिसे ही महत्तत्त्व और महत्तत्त्वसे अहंकार पैदा हुआ है। उस अ[illegible] एक

इस वास्ते जब यह मनुष्यशरीर प्राप्त हुआ है तो मनुष्यको जीते-जी ही भगवत्प्राप्ति कर लेनी चाहिये और जन्म-मरणसे रहित हो जाना चाहिये (गीता ५ । २३)। कर्मयोगीके लिये भी भगवान्‌ने कहा है कि समतायुक्त पुरुष इस जीवित-अवस्थामें ही पुण्य और पाप—दोनोंसे रहित हो जाता है (गीता २ । ५०)। तात्पर्य यह हुआ कि कर्म-बन्धनसे सर्वथा रहित होना अर्थात् जन्म-मरणसे रहित होना मनुष्यमात्रका परम ध्येय है।

दसवें अध्यायके ग्यारहवें श्लोकमें कहा कि मैं अपनी कृपासे भक्तोंके अन्तःकरणमें ज्ञान प्रकाशित कर देता हूँ और ग्यारहवें अध्यायके सैंतालीसवें श्लोकमें भगवान्‌ने कहा कि मैंने अपनी कृपासे ही विराट्‌रूप दिखाया है। उसी कृपाको लेकर भगवान् यहाँ कहते हैं कि मेरी कृपासे परमपदकी प्राप्ति हो जायगी (१८ । ५६) और मेरी कृपासे ही सम्पूर्ण विघ्नोंको तर जायगा (१८ । ५८)। परमपदको प्राप्त होनेपर किसी प्रकारकी विघ्न-बाधा सामने आनेकी सम्भावना ही नहीं रहती। फिर भी सम्पूर्ण विघ्न-बाधाओंको तरनेकी बात कहनेका तात्पर्य यह है कि अर्जुनके मनमें यह भय बैठा था कि युद्ध करनेसे मुझे पाप लगेगा; युद्धके

'हे कमलनयन ! जो लोग आपके चरणोंके शरण नहीं हैं और आपकी भक्तिसे रहित होनेके कारण जिनकी बुद्धि भी शुद्ध नहीं है, वे अपनेको मुक्त तो मानते हैं, पर वास्तवमें वे बद्ध ही हैं। वे यदि कष्टपूर्वक साधन करके ऊँचे-ऊँचे पदपर भी पहुँच जायँ, तो भी वहाँसे नीचे गिर जाते हैं।'

कारण कुलपरम्पराके नष्ट होनेसे पितरोंका पतन हो जायगा और इस प्रकार अनर्थ-परम्परा बढ़ती ही जायगी; हमलोग राज्यके लोभमें आकर इस महान् पापको करनेके लिये तैयार हो गये हैं; इस वास्ते मैं शस्त्र छोड़कर बैठ जाऊँ और धृतराष्ट्रके पक्षके लोग मेरेको मार भी दें, तो भी मेरा बड़ा भारी कल्याण होगा (गीता १। ३६–४६)। इन सभी बातोंको लेकर और अनेक जन्मोंके दोषोंको भी लेकर भगवान् अर्जुनसे कहते हैं कि मेरी कृपासे तू सब विघ्नोंसे, पापोंसे तर जायगा—'सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात्तरिष्यसि'। भगवान्‌ने बहुवचनमें 'दुर्गाणि' पद देकर भी उसके साथ 'सर्व' शब्द और जोड़ दिया है। इसका तात्पर्य यह है कि मेरी कृपासे तेरा किञ्चिन्मात्र भी पाप नहीं रहेगा, कोई भी बन्धन नहीं रहेगा और मेरी कृपासे सर्वथा शुद्ध होकर तू परमपदको प्राप्त हो जायगा।

श्लोक—

यदहंकारमाश्रित्य न योत्स्य इति मन्यसे।
मिथ्यैष व्यवसायस्ते प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति॥५९॥

व्याख्या—

'यदहंकारमाश्रित्य'—अहंकारका आश्रय लेकर तू जो ऐसा मान रहा है कि मैं युद्ध नहीं करूँगा, ऐसा तेरा निश्चय मिथ्या है, झूठा है; क्योंकि क्षात्र-प्रकृति तुझे युद्ध करनेके लिये नियुक्त कर देगी अर्थात् बाध्य कर देगी। इसमें कारण यह है कि प्रकृति परमात्माकी ही एक दिव्य शक्ति है। उस प्रकृतिसे ही महत्तत्त्व और महत्तत्त्वसे अहंकार पैदा हुआ है। उस अहंकारका ही एक

विकृत अंश है—'मैं शरीर हूँ'। इस विकृत अहंकारका आश्रय लेनेवाला पुरुष कभी भी क्रियारहित नहीं हो सकता। कारण कि प्रकृति हरदम क्रियाशील है, बदलनेवाली है, इस वास्ते उसके आश्रित रहनेवाला कोई भी मनुष्य कर्म किये बिना नहीं रह सकता* ।

जब यह प्राणी अहंकारपूर्वक क्रियाशील प्रकृतिके वशमें हो जाता है तो फिर वह यह कैसे कह सकता है कि मैं अमुक कर्म करूँगा और अमुक कर्म नहीं करूँगा अर्थात् प्रकृतिके परवश हुआ प्राणी करना और न करना—इन दोनोंसे छूटेगा नहीं। कारण कि प्रकृतिके परवश हुए प्राणीका तो 'करना' भी कर्म है और 'न करना' भी कर्म है। परन्तु जब यह प्राणी प्रकृतिके परवश नहीं रहता, उससे निर्लिप्त हो जाता है (जो कि इसका वास्तविक स्वरूप है) तो फिर उसके लिये करना और न करना—ऐसा कहना ही नहीं बनता। तात्पर्य यह है कि जो प्रकृतिके साथ सम्बन्ध रखे और कर्म न करना चाहे, ऐसा उसके लिये सम्भव नहीं है। परंतु जिन्होंने प्रकृतिसे सम्बन्ध-विच्छेद कर लिया है अथवा जो सर्वथा भगवान्‌के शरण हो गये हैं, उनको कर्म करनेके लिये बाध्य नहीं होना पड़ता।

'न योत्स्य इति मन्यसे'—दूसरे अध्यायमें अर्जुनने भगवान्‌के शरण होकर शिक्षाकी प्रार्थना की—**'शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्'** (२।७) और उसके बाद अर्जुनने साफ-साफ कह

* न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत् ।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः ॥ (गीता ३।५)

दिया कि मैं युद्ध नहीं करूँगा—'न योत्स्ये' (२।९)। यह बात भगवान्‌को अच्छी नहीं लगी। भगवान् मनमें सोचते हैं कि यह पहले तो मेरे शरण हो गया और फिर इसने मेरे बिना कुछ कहे ही अपनी तरफसे साफ-साफ कह दिया कि मैं युद्ध नहीं करूँगा, तो फिर यह मेरी शरणागति कहाँ रही? यह तो अहंकारकी शरणागति हो गयी! कारण कि वास्तविक शरणागत होनेपर 'मैं यह करूँगा, यह नहीं करूँगा' ऐसा कहना ही नहीं बनता। भगवान्‌के शरणागत होनेपर तो भगवान् जैसा करायेंगे, वैसा ही करना होगा। इसी बातको लेकर भगवान्‌को हँसी आ गयी (२।१०), परंतु अर्जुनपर अत्यधिक कृपा और स्नेह होनेके कारण भगवान्‌ने उपदेश देना आरम्भ कर दिया, नहीं तो भगवान् वहींपर यह कह देते कि जैसा चाहता है, वैसा कर—'यथेच्छसि तथा कुरु'; परंतु अर्जुनकी यह बात कि मैं युद्ध नहीं करूँगा, भगवान्‌के भीतर खटक गयी। इस वास्ते भगवान्‌ने यहाँ अर्जुनके उन्हीं शब्दों—'न योत्स्ये' का प्रयोग करके यह कहा है कि तू अहंकारके ही शरण है, मेरे शरण नहीं। अगर तू मेरे शरण हो गया होता तो 'युद्ध नहीं करूँगा' ऐसा कहना बन ही नहीं सकता था। मेरे शरण होता तो 'मैं क्या करूँगा और क्या नहीं करूँगा' इसकी जिम्मेवारी मेरेपर होती। इसके सिवाय मेरे शरणागत होनेपर यह प्रकृति भी तुझे बाध्य नहीं कर पाती*। यह त्रिगुणमयी माया अर्थात् प्रकृति

* दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते॥ (गीता ७।१४)

उसीको बाध्य करती है, जो भगवान्‌के शरण नहीं हुआ है*; क्योंकि यह नियम है कि प्रकृतिके प्रवाहमें पड़ा हुआ प्राणी प्रकृतिके गुणोंके द्वारा सदा ही परवश होता है।

यह एक बड़ी मार्मिक बात है कि प्राणी जिन प्राकृत पदार्थोंको अपना मान लेते हैं, उन पदार्थोंके सदा ही परवश (पराधीन) हो जाते हैं। वे वहम तो यह रखते हैं कि हम इन पदार्थोंके मालिक हैं, पर हो जाते हैं उनके गुलाम, पर जिन पदार्थोंको अपना नहीं मानते, उन पदार्थोंके परवश नहीं होते। इस वास्ते मनुष्यको किसी भी प्राकृत पदार्थको अपना नहीं मानना चाहिये; क्योंकि वे वास्तवमें अपने हैं ही नहीं। अपने तो वास्तवमें केवल भगवान् ही हैं। उन भगवान्‌को अपना माननेसे मनुष्यकी परवशता सदाके लिये समाप्त हो जाती है। तात्पर्य यह हुआ कि प्राणी, पदार्थों और क्रियाओंको अपनी मानता है तो सर्वथा परतन्त्र हो जाता है, और भगवान्‌को अपना मानता है और उनके अनन्य शरण होता है तो सर्वथा स्वतन्त्र हो जाता है। प्रभुके शरणागत होनेपर परतन्त्रता लेशमात्र भी नहीं रहती—यह शरणागतिकी महिमा है। परंतु जो प्रभुकी शरण न लेकर अहंकारकी शरण लेते हैं, वे मौतके मार्ग (संसार) में बह जाते हैं—**'निवर्तन्ते मृत्युसंसारवर्त्मनि'** (९ । ३)। इसी बातकी चेतावनी देते हुए भगवान् अर्जुनसे कह रहे हैं कि तू जो यह कहता है कि मैं युद्ध नहीं करूँगा,

---

* त्रिभिर्गुणमयैर्भावैरेभिः सर्वमिदं जगत्।
मोहितं नाभिजानाति मामेभ्यः परमव्ययम्॥ (गीता ७ । १३)

तेरा यह कहना, तेरी यह हेकड़ी चलेगी नहीं। तुझे क्षात्र प्रकृतिके परवश होकर युद्ध करना ही पड़ेगा—'प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति'।

'मिथ्यैष व्यवसायस्ते'—व्यवसाय अर्थात् निश्चय दो तरहका होता है—वास्तविक और अवास्तविक। परमात्माके साथ अपना जो नित्य सम्बन्ध है, उसका निश्चय करना तो वास्तविक है और प्रकृतिके साथ मिलकर प्राकृत पदार्थोंका निश्चय करना अवास्तविक है। जो निश्चय परमात्माको लेकर होता है, उसमें स्वयंकी प्रधानता रहती है, और जो निश्चय प्रकृतिको लेकर होता है, उसमें अन्तः-करणकी प्रधानता रहती है। इस वास्ते भगवान् यहाँ अर्जुनसे कहते हैं कि अहंकारका अर्थात् प्रकृतिका आश्रय लेकर तू जो यह कह रहा है कि मैं युद्ध नहीं करूँगा, ऐसा तेरा (क्षात्र-प्रकृतिके विरुद्ध) निश्चय अवास्तविक अर्थात् मिथ्या है, झूठा है। आश्रय परमात्माका ही होना चाहिये, प्रकृति और प्रकृतिके कार्य संसारका नहीं।

यदि प्राणी यह निश्चय कर लेता है कि मैं परमात्माका ही हूँ और मुझे केवल परमात्माकी तरफ ही चलना है, तो उसका यह निश्चय वास्तविक अर्थात् सत्य है, नित्य है। इस निश्चयकी महिमा भगवान्ने नवें अध्यायके तीसरे श्लोकमें की है कि अगर दुराचारी-से-दुराचारी पुरुष भी अनन्यभावसे मेरा भजन करता है तो उसको दुराचारी नहीं मानना चाहिये, प्रत्युत साधु ही मानना

तेरा यह कहना, तेरी यह हेकड़ी चलेगी नहीं। तुझे क्षात्र प्रकृतिके परवश होकर युद्ध करना ही पड़ेगा—'**प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति**'।

'**मिथ्यैष व्यवसायस्ते**'—व्यवसाय अर्थात् निश्चय दो तरहका होता है—वास्तविक और अवास्तविक। परमात्माके साथ अपना जो नित्य सम्बन्ध है, उसका निश्चय करना तो वास्तविक है और प्रकृतिके साथ मिलकर प्राकृत पदार्थोंका निश्चय करना अवास्तविक है। जो निश्चय परमात्माको लेकर होता है, उसमें स्वयंकी प्रधानता रहती है, और जो निश्चय प्रकृतिको लेकर होता है, उसमें अन्तः-करणकी प्रधानता रहती है। इस वास्ते भगवान् यहाँ अर्जुनसे कहते हैं कि अहंकारका अर्थात् प्रकृतिका आश्रय लेकर तू जो यह कह रहा है कि मैं युद्ध नहीं करूँगा, ऐसा तेरा (क्षात्र-प्रकृतिके विरुद्ध) निश्चय अवास्तविक अर्थात् मिथ्या है, झूठा है। आश्रय परमात्माका ही होना चाहिये, प्रकृति और प्रकृतिके कार्य संसारका नहीं।

यदि प्राणी यह निश्चय कर लेता है कि मैं परमात्माका ही हूँ और मुझे केवल परमात्माकी तरफ ही चलना है, तो उसका यह निश्चय वास्तविक अर्थात् सत्य है, नित्य है। इस निश्चयकी महिमा भगवान्‌ने नवें अध्यायके तीसवें श्लोकमें की है कि अगर दुराचारी-से-दुराचारी पुरुष भी अनन्यभावसे मेरा भजन करता है तो उसको दुराचारी नहीं मानना चाहिये, प्रत्युत साधु ही मानना

चाहिये; क्योंकि वह वास्तविक निश्चय कर चुका है कि मैं भगवान्‌का ही हूँ और भगवान्‌का ही भजन करूँगा* ।

जो प्रकृतिके साथ सम्बन्ध रखता है, उसको प्रकृतिके परवश होकर कर्म करने ही पड़ते हैं । वह उनसे छूट नहीं सकता† । परन्तु जिसने प्रकृतिसे सम्बन्ध-विच्छेद कर लिया है अर्थात् प्रकृतिसे सर्वथा विमुख हो गया है, वह सब कर्म करते हुए भी प्रकृतिके परवश नहीं होता अर्थात् बँधता नहीं (गीता १८ । १७) । जैसे, किसी जीवन्मुक्त क्षत्रियके सामने युद्धका अवसर उपस्थित हो जाय, तो उसके भीतर युद्ध करनेका उछाल आ सकता है और वह युद्ध भी कर सकता है, पर वह प्रकृतिके परवश नहीं होगा; क्योंकि प्रकृति तो उसके वशमें होती है । तात्पर्य यह निकला कि संसारके साथ सम्बन्ध रखनेसे स्वभावज कर्म मनुष्यको परवश करते हैं, बाध्य करते हैं । परन्तु संसारसे सम्बन्ध-रहित होनेपर स्वभावज कर्म परवश नहीं करते, बाध्य नहीं करते, प्रत्युत प्रवाहरूपसे स्वाभाविक होते रहते हैं ।

सम्बन्ध—

पिछले श्लोकमें भगवान्‌ने अर्जुनसे कहा कि प्रकृति तुझे कर्ममें लगा देगी, अब अगले श्लोकमें उसीका विवेचन करते हैं ।

---

* अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक् ।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः ॥ (गीता ९ । ३०)

† न हि देहभृता शक्यं त्यक्तुं कर्माण्यशेषतः । (गीता १८ । ११)

श्लोक—

स्वभावजेन कौन्तेय निबद्धः स्वेन कर्मणा।
कर्तुं नेच्छसि यन्मोहात् करिष्यस्यवशोऽपि तत् ॥ ६० ॥

व्याख्या—

'स्वभावजेन कौन्तेय निबद्धः स्वेन कर्मणा'—पूर्वजन्ममें जैसे कर्म और गुणोंकी वृत्तियाँ रही हैं, इस जन्ममें जैसे माता-पितासे पैदा हुए हैं अर्थात् माता-पिताके जैसे संस्कार रहे हैं, जन्मके बाद जैसा देखा-सुना है, जैसी शिक्षा प्राप्त हुई है और जैसे कर्म किये हैं—उन सबके मिलनेसे अपनी जो कर्म करनेकी एक आदत बनी है, उसका नाम स्वभाव है। इसको भगवान्‌ने स्वभावजन्य स्वकीय कर्म कहा है। इसी स्वभावको स्वधर्म भी कहते हैं—'स्वधर्ममपि चावेक्ष्य न विकम्पितुमर्हसि' (गीता २ । ३१)।

'कर्तुं नेच्छसि यन्मोहात् करिष्यस्यवशोऽपि तत्'—स्वभावजन्य क्षात्र-प्रकृतिसे बँधा हुआ तू मोहके कारण जो नहीं करना चाहता, उसको तू परवश होकर करेगा। स्वभावके अनुसार ही शास्त्रोंने कर्तव्य-पालनकी आज्ञा दी है। उस आज्ञामें यदि दूसरोंके कर्मोंकी अपेक्षा अपने कर्ममें कमियाँ अथवा दोष दीखते हों, तो भी वे दोष बाधक (पाप-जनक) नहीं होते—'श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्।' (गीता ३ । ३५)। उस स्वभावज कर्म (क्षात्र-धर्म) के अनुसार तू युद्ध करनेके लिये परवश है। युद्धरूप कर्तव्यको न करनेका तेरा विचार मूढतापूर्वक किया गया है।

जो जीवन्मुक्त महापुरुष होते हैं, उनका स्वभाव सर्वथा शुद्ध होता है। इस वास्ते उनपर स्वभावका आधिपत्य नहीं रहता अर्थात् वे स्वभावके परवश नहीं होते, फिर भी वे किसी काममें प्रवृत्त होते हैं, तो अपनी प्रकृति (स्वभाव) के अनुसार ही काम करते हैं। परन्तु साधारण प्राणी प्रकृतिके परवश होते हैं, इस वास्ते उनका स्वभाव उनको जबर्दस्ती कर्ममें लगा देता है।* भगवान् अर्जुनसे कहते हैं कि तेरा भी क्षात्र-स्वभाव तुझे जबर्दस्ती युद्धमें लगा देगा; परन्तु उसका फल तेरे लिये बढ़िया नहीं होगा। यदि तू शास्त्र या सन्त महापुरुषोंकी आज्ञासे अथवा मेरी आज्ञासे युद्धरूप कर्म करेगा तो वही कर्म तेरे लिये कल्याणकारी हो जायगा। कारण कि शास्त्र अथवा मेरी आज्ञासे कर्मोंको करनेसे, उन कर्मोंमें जो राग-द्वेष हैं, वे स्वाभाविक ही मिटते चले जायँगे; क्योंकि तेरी दृष्टि आज्ञाकी तरफ रहेगी, राग-द्वेषकी तरफ नहीं। इस वास्ते वे कर्म बन्धनकारक न होकर कल्याणकारक ही होंगे।

विशेष बात—

गीतामें प्रकृतिकी परवशताकी बात सामान्यरूपसे कई जगह आयी है (जैसे—३। ५, ८। १९, ९। ८ आदि); परन्तु दो जगह प्रकृतिकी परवशताकी बात विशेषरूपसे आयी है— '**प्रकृतिं यान्ति भूतानि**' (३। ३३) और यहाँ '**प्रकृतिस्त्वां**

---

* सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि।
प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति॥
(गीता ३। ३३)

नियोक्ष्यति' (१८ । ६०) *। इससे तो स्वभावकी प्रबलता ही सिद्ध होती है; क्योंकि कोई भी प्राणी जिस किसी योनिमें भी जन्म लेता है, उसकी प्रकृति यानी स्वभाव उसके साथमें रहता है। अगर उसका स्वभाव परम शुद्ध हो अर्थात् स्वभावमें सर्वथा असङ्गता हो तो उसका जन्म ही क्यों होगा? यदि उसका जन्म होगा तो उसमें स्वभावकी ही मुख्यता रहेगी—'**कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु**' (गीता १३ । २१) । जब स्वभावकी ही मुख्यता अथवा परवशता रहेगी और प्रत्येक क्रिया स्वभावके अनुसार ही होगी, तो फिर शास्त्रोंका विधि-निषेध किसपर लागू होगा? गुरुजनोंकी शिक्षा किसके काम आयेगी? और मनुष्य दुर्गुण-दुराचारोंका त्याग करके सद्गुण-सदाचारोंमें कैसे प्रवृत्त होगा?

उपर्युक्त प्रश्नोंका उत्तर यह है कि जैसे मनुष्य गङ्गाजीके प्रवाहको रोक तो नहीं सकता, पर उसके प्रवाहको मोड़ सकता है, घुमा सकता है। ऐसे ही मनुष्य अपने वर्णोचित स्वभावको छोड़ तो नहीं सकता, पर भगवत्प्राप्तिका उद्देश्य रखकर उसको राग-द्वेषसे रहित परम शुद्ध, निर्मल बना सकता है। तात्पर्य यह हुआ कि स्वभावको शुद्ध करनेमें मनुष्यमात्र सर्वथा सबल और स्वतन्त्र है, निर्बल और परतन्त्र नहीं है। निर्बलता और परतन्त्रता तो केवल राग-द्वेष होनेसे प्रतीत होती है।

---

* ज्ञानयोगमें ज्ञानी प्रकृतिसे सम्बन्ध-विच्छेद कर लेता है, इस वास्ते उसके लिये प्रकृतिकी परवशताकी बात नहीं आयी है।

जो जीवन्मुक्त महापुरुष होते हैं, उनका स्वभाव सर्वथा शुद्ध होता है । इस वास्ते उनपर स्वभावका आधिपत्य नहीं रहता अर्थात् वे स्वभावके परवश नहीं होते, फिर भी वे किसी काममें प्रवृत्त होते हैं, तो अपनी प्रकृति (स्वभाव) के अनुसार ही काम करते हैं । परन्तु साधारण प्राणी प्रकृतिके परवश होते हैं, इस वास्ते उनका स्वभाव उनको जबर्दस्ती कर्ममें लगा देता है ।* भगवान् अर्जुनसे कहते हैं कि तेरा भी क्षात्र-स्वभाव तुझे जबर्दस्ती युद्धमें लगा देगा; परन्तु उसका फल तेरे लिये बढ़िया नहीं होगा । यदि तू शास्त्र या सन्त महापुरुषोंकी आज्ञासे अथवा मेरी आज्ञासे युद्धरूप कर्म करेगा तो वही कर्म तेरे लिये कल्याणकारी हो जायगा । कारण कि शास्त्र अथवा मेरी आज्ञासे कर्मोंको करनेसे, उन कर्मोंमें जो राग-द्वेष हैं, वे स्वाभाविक ही मिटते चले जायँगे; क्योंकि तेरी दृष्टि आज्ञाकी तरफ रहेगी, राग-द्वेषकी तरफ नहीं । इस वास्ते वे कर्म बन्धनकारक न होकर कल्याणकारक ही होंगे ।

विशेष बात—

गीतामें प्रकृतिकी परवशताकी बात सामान्यरूपसे कई जगह आयी है (जैसे—३ । ५, ८ । १९, ९ । ८ आदि); परन्तु दो जगह प्रकृतिकी परवशताकी बात विशेषरूपसे आयी है— **'प्रकृतिं यान्ति भूतानि'** (३ । ३३) और यहाँ **'प्रकृतिस्त्वां**

---

* सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि ।
प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति ॥
(गीता ३ । ३३)

नियोक्ष्यति' (१८ । ६०) *। इससे तो स्वभावकी प्रबलता ही सिद्ध होती है; क्योंकि कोई भी प्राणी जिस किसी योनिमें भी जन्म लेता है, उसकी प्रकृति यानी स्वभाव उसके साथमें रहता है। अगर उसका स्वभाव परम शुद्ध हो अर्थात् स्वभावमें सर्वथा असङ्गता हो तो उसका जन्म ही क्यों होगा? यदि उसका जन्म होगा तो उसमें स्वभावकी ही मुख्यता रहेगी—**'कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु'** (गीता १३ । २१) । जब स्वभावकी ही मुख्यता अथवा परवशता रहेगी और प्रत्येक क्रिया स्वभावके अनुसार ही होगी, तो फिर शास्त्रोंका विधि-निषेध किसपर लागू होगा? गुरुजनोंकी शिक्षा किसके काम आयेगी? और मनुष्य दुर्गुण-दुराचारोंका त्याग करके सद्गुण-सदाचारोंमें कैसे प्रवृत्त होगा?

उपर्युक्त प्रश्नोंका उत्तर यह है कि जैसे मनुष्य गङ्गाजीके प्रवाहको रोक तो नहीं सकता, पर उसके प्रवाहको मोड़ सकता है, घुमा सकता है। ऐसे ही मनुष्य अपने वर्णोचित स्वभावको छोड़ तो नहीं सकता, पर भगवत्प्राप्तिका उद्देश्य रखकर उसको राग-द्वेषसे रहित परम शुद्ध, निर्मल बना सकता है। तात्पर्य यह हुआ कि स्वभावको शुद्ध करनेमें मनुष्यमात्र सर्वथा सबल और स्वतन्त्र है, निर्बल और परतन्त्र नहीं है। निर्बलता और परतन्त्रता तो केवल राग-द्वेष होनेसे प्रतीत होती है।

* ज्ञानयोगमें ज्ञानी प्रकृतिसे सम्बन्ध-विच्छेद कर लेता है, इस वास्ते उसके लिये प्रकृतिकी परवशताकी बात नहीं आयी है।

अब इस स्वभावको सुधारनेके लिये भगवान्‌ने गीतामें कर्मयोग और भक्तियोगकी दृष्टिसे दो उपाय बताये हैं—

(१) **कर्मयोगकी दृष्टिसे**—तीसरे अध्यायके चौंतीसवें श्लोकमें भगवान्‌ने बताया कि प्राणीके खास शत्रु राग-द्वेष ही हैं। इस वास्ते राग-द्वेषके वशमें नहीं होना चाहिये अर्थात् राग-द्वेषको लेकर कोई भी कर्म नहीं करना चाहिये, प्रत्युत शास्त्रकी आज्ञाके अनुसार ही प्रत्येक कर्म करना चाहिये। शास्त्रके आज्ञानुसार अर्थात् शिष्य गुरुकी, पुत्र माँ-बापकी, पत्नी पतिकी और नौकर मालिककी आज्ञाके अनुसार प्रसन्नतापूर्वक सब कर्म करता है तो उसमें राग-द्वेष नहीं रहते। कारण कि अपने मनके अनुसार कर्म करनेसे ही राग-द्वेषकी पुष्टि होती है। शास्त्र आदिकी आज्ञाके अनुसार कार्य करनेसे, कभी दूसरा नया कार्य करनेकी मनमें आ जानेपर भी उनकी आज्ञा न होनेसे हम वह कार्य नहीं करते तो उससे हमारा 'राग' मिट जायगा और कभी कार्यको न करनेकी मनमें आ जानेपर भी उनकी आज्ञा होनेसे हम वह कार्य प्रसन्नतापूर्वक करते हैं तो उससे हमारा 'द्वेष' मिट जायगा।

(२) **भक्तियोगकी दृष्टिसे**—जब मनुष्य अपनी ममतावाली वस्तुओंके सहित स्वयं भगवान्‌के शरण हो जाता है तो उसके पास अपना करके कुछ नहीं रहता। वह भगवान्‌के हाथकी कठपुतली बन जाता है। फिर भगवान्‌की आज्ञाके अनुसार, उनकी इच्छाके अनुसार ही उसके द्वारा सब कार्य होते हैं, जिससे उसके स्वभावमें रहनेवाले राग-द्वेष मिट जाते हैं।

तात्पर्य यह हुआ कि कर्मयोगमें राग-द्वेषके वशीभूत न होकर कार्य करनेसे स्वभाव शुद्ध हो जाता है (गीता ३ । ३४) और भक्तियोगमें भगवान्‌के सर्वथा अर्पित होनेसे स्वभाव शुद्ध हो जाता है (गीता १८ । ६२) । स्वभाव शुद्ध होनेसे बन्धनका कोई प्रश्न ही नहीं रहता ।

मनुष्य जो कुछ कर्म करता है, वह कभी राग-द्वेषके वशीभूत होकर करता है और कभी सिद्धान्तके अनुसार करता है । राग-द्वेष-पूर्वक कर्म करनेसे राग-द्वेष दृढ़ हो जाते हैं और फिर मनुष्यका वैसा ही स्वभाव बन जाता है । सिद्धान्तके अनुसार कर्म करनेसे उसका सिद्धान्तके अनुसार ही करनेका स्वभाव बन जाता है । जो मनुष्य परमात्मप्राप्तिका उद्देश्य रखकर शास्त्र और महापुरुषोंके सिद्धान्तके अनुसार कर्म करते हैं और जो परमात्माको प्राप्त हो गये हैं—इन दोनों (साधकों और सिद्ध महापुरुषों) के कर्म दुनियाके लिये आदर्श होते हैं, अनुकरणीय होते हैं—

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः ।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते ॥ ६१ ॥

(गीता ३ । २१)

सम्बन्ध—

जीव स्वयं परमात्माका अंश है और स्वभाव प्रकृतिका अंश है; स्वयं स्वतःसिद्ध है और स्वभाव खुदका बनाया हुआ है; स्वयं चेतन है और स्वभाव जड़ है—ऐसा होनेपर भी जीव स्वभावके परवश कैसे हो जाता है ? इस प्रश्नके उत्तरमें भगवान् अगला श्लोक कहते हैं ।

श्लोक—

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति ।
भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया ॥ ६१ ॥

व्याख्या

हे अर्जुन ! ईश्वर सम्पूर्ण प्राणियोंके हृदयमें रहता है और अपनी मायासे शरीररूपी यन्त्रपर आरूढ़ हुए प्राणियोंको भ्रमण कराता रहता है । तात्पर्य यह कि जो ईश्वर सबका शासक, नियामक, सबका भरण-पोषण करनेवाला और निरपेक्षरूपसे सबका संचालक है, वह अपनी शक्तिसे उन प्राणियोंको घुमाता है, जिन्होंने शरीरको 'मैं' और 'मेरा' मान रखा है ।

जैसे, विद्युत्-शक्तिसे संचालित यन्त्र—रेलपर कोई आरूढ़ हो जाता है, चढ़ जाता है तो उसको परवशतासे रेलके अनुसार ही जाना पड़ता है । परंतु जब वह रेलपर आरूढ़ नहीं रहता, नीचे उतर जाता है, तब उसको रेलके अनुसार नहीं जाना पड़ता । ऐसे ही जबतक यह प्राणी शरीररूपी यन्त्रके साथ 'मैं' और 'मेरे'-पनका सम्बन्ध रखता है, तबतक ईश्वर अपनी मायासे उसको उसके स्वभाव * के अनुसार संचालित करते रहते हैं और वह प्राणी जन्म-मरणरूप संसारके चक्रमें घूमता रहता है ।

शरीरके साथ मैं-मेरेपनका सम्बन्ध होनेसे ही राग-द्वेष पै[दा] होते हैं, जिससे स्वभाव अशुद्ध हो जाता है । स्वभावके अ[नुसार] ...

* स्वभाव कारणशरीरमें रहता है । वही स्वभाव सूक्ष्म और स[्थूल] शरीरमें प्रकट होता है ।

होनेपर प्राणी प्रकृति अर्थात् स्वभावके परवश हो जाता है। परंतु शरीरसे सर्वथा सम्बन्ध-विच्छेद होनेपर जब स्वभाव राग-द्वेषसे रहित अर्थात् शुद्ध हो जाता है, तब प्रकृतिकी परवशता नहीं रहती। प्रकृति (स्वभाव) की परवशता न रहनेसे ईश्वरकी माया उसको संचालित नहीं करती।

अब यहाँ यह शङ्का होती है कि जब ईश्वर ही हमारेको भ्रमण करवाता है, क्रिया करवाता है, तब यह काम करना चाहिये और यह काम नहीं करना चाहिये—ऐसी स्वतन्त्रता कहाँ रही? क्योंकि यन्त्रारूढ़ होनेके कारण हम यन्त्रके और यन्त्रके संचालक ईश्वरके अधीन हो गये, परतन्त्र हो गये तो फिर यन्त्रका संचालक (प्रेरक) जैसा करायेगा, वैसा ही होगा। इसका समाधान इस प्रकार है—

जैसे, बिजलीसे संचालित होनेवाले अनेक तरहके यन्त्र होते हैं। एक ही बिजलीसे संचालित होनेपर भी किसी यन्त्रमें बर्फ जम जाती है और किसी यन्त्रमें आग जल जाती है अर्थात् उनमें एक-एकसे बिल्कुल विरुद्ध काम होता है। परंतु बिजलीका यह आग्रह नहीं रहता कि मैं तो केवल बर्फ ही जमाऊँगी अथवा केवल आग ही जलाऊँगी। यन्त्रोंका भी ऐसा आग्रह नहीं रहता कि हम तो केवल बर्फ ही जमायेंगे अथवा केवल आग ही जलायेंगे, प्रत्युत यन्त्र बनानेवाले कारीगरने यन्त्रोंको जैसा बना दिया है, उसके अनुसार उनमें स्वाभाविक ही बर्फ जमती है और आग जलती है। ऐसे ही मनुष्य, पशु, पक्षी, देवता, यक्ष, राक्षस आदि जितने भी प्राणी हैं, सब शरीररूपी यन्त्रोंपर चढ़े हुए हैं और उन सभी यन्त्रोंको

श्लोक—

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति ।
भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया ॥ ६१ ॥

व्याख्या

हे अर्जुन ! ईश्वर सम्पूर्ण प्राणियोंके हृदयमें रहता है और अपनी मायासे शरीररूपी यन्त्रपर आरूढ़ हुए प्राणियोंको भ्रमण कराता रहता है । तात्पर्य यह कि जो ईश्वर सबका शासक, नियामक, सबका भरण-पोषण करनेवाला और निरपेक्षरूपसे सबका संचालक है, वह अपनी शक्तिसे उन प्राणियोंको घुमाता है, जिन्होंने शरीरको 'मैं' और 'मेरा' मान रखा है ।

जैसे, विद्युत्-शक्तिसे संचालित यन्त्र—रेलपर कोई आरूढ़ हो जाता है, चढ़ जाता है तो उसको परवशतासे रेलके अनुसार ही जाना पड़ता है । परंतु जब वह रेलपर आरूढ़ नहीं रहता, नीचे उतर जाता है, तब उसको रेलके अनुसार नहीं जाना पड़ता । ऐसे ही जबतक यह प्राणी शरीररूपी यन्त्रके साथ 'मैं' और 'मेरे'-पनका सम्बन्ध रखता है, तबतक ईश्वर अपनी मायासे उसको उसके स्वभाव * के अनुसार संचालित करते रहते हैं और वह प्राणी जन्म-मरणरूप संसारके चक्रमें घूमता रहता है ।

शरीरके साथ मैं-मेरेपनका सम्बन्ध होनेसे ही राग-द्वेष पैदा होते हैं, जिससे स्वभाव अशुद्ध हो जाता है । स्वभावके अशुद्ध

* स्वभाव कारणशरीरमें रहता है । वही स्वभाव सूक्ष्म और स्थूल-शरीरमें प्रकट होता है ।

होनेपर प्राणी प्रकृति अर्थात् स्वभावके परवश हो जाता है। परंतु शरीरसे सर्वथा सम्बन्ध-विच्छेद होनेपर जब स्वभाव राग-द्वेषसे रहित अर्थात् शुद्ध हो जाता है, तब प्रकृतिकी परवशता नहीं रहती। प्रकृति (स्वभाव) की परवशता न रहनेसे ईश्वरकी माया उसको संचालित नहीं करती।

अब यहाँ यह शङ्का होती है कि जब ईश्वर ही हमारेको भ्रमण करवाता है, क्रिया करवाता है, तब यह काम करना चाहिये और यह काम नहीं करना चाहिये—ऐसी स्वतन्त्रता कहाँ रही? क्योंकि यन्त्रारूढ़ होनेके कारण हम यन्त्रके और यन्त्रके संचालक ईश्वरके अधीन हो गये, परतन्त्र हो गये तो फिर यन्त्रका संचालक (प्रेरक) जैसा करायेगा, वैसा ही होगा। इसका समाधान इस प्रकार है—

जैसे, बिजलीसे संचालित होनेवाले अनेक तरहके यन्त्र होते हैं। एक ही बिजलीसे संचालित होनेपर भी किसी यन्त्रमें बर्फ जम जाती है और किसी यन्त्रमें आग जल जाती है अर्थात् उनमें एक-एकसे बिल्कुल विरुद्ध काम होता है। परंतु बिजलीका यह आग्रह नहीं रहता कि मैं तो केवल बर्फ ही जमाऊँगी अथवा केवल आग ही जलाऊँगी। यन्त्रोंका भी ऐसा आग्रह नहीं रहता कि हम तो केवल बर्फ ही जमायेंगे अथवा केवल आग ही जलायेंगे, प्रत्युत यन्त्र बनानेवाले कारीगरने यन्त्रोंको जैसा बना दिया है, उसके अनुसार उनमें स्वाभाविक ही बर्फ जमती है और आग जलती है। ऐसे ही मनुष्य, पशु, पक्षी, देवता, यक्ष, राक्षस आदि जितने भी प्राणी हैं, सब शरीररूपी यन्त्रोंपर चढ़े हुए हैं और उन सभी यन्त्रोंको

ईश्वर संचालित करता है। उन अलग-अलग शरीरोंमें भी जिस शरीरमें जैसा स्वभाव है, उस स्वभावके अनुसार वे ईश्वरसे प्रेरणा पाते हैं और कार्य करते हैं। तात्पर्य यह कि उन शरीरोंके भे-देनका सम्बन्ध, भावनाओंका जैसा (अच्छा या मन्दा) स्वभाव होता है, उससे वैसी ही क्रियाएँ होती हैं। अच्छे स्वभाववाले सज्जन पुरुषोंके द्वारा श्रेष्ठ क्रियाएँ होती हैं और मन्द स्वभाववाले दुष्ट आदमियोंके द्वारा मलिन क्रियाएँ होती हैं। इस कारण अच्छी या मन्दी क्रियाओंके करानेमें ईश्वरका हाथ नहीं है, प्रत्युत खुदके बनाये हुए अच्छे या मन्द स्वभावका ही हाथ है।

जैसे बिजली यन्त्रोंके स्वभावके अनुसार ही उनका संचालन करती है, वैसे ही ईश्वर प्राणियोंके (शरीरमें स्थित) स्वभावके अनुसार उनका संचालन करते हैं। जैसा स्वभाव होगा, वैसे ही कर्म होंगे। इसमें एक बात विशेष ध्यान देनेकी है कि स्वभावको सुधारनेमें और बिगाड़नेमें सभी मनुष्य स्वतन्त्र हैं, कोई भी परतन्त्र नहीं है। परंतु पशु, पक्षी, देवता आदि जितने भी मनुष्येतर प्राणी हैं, उनमें अपने स्वभावको सुधारनेका न अधिकार है और न स्वतन्त्रता ही है। मनुष्य-शरीर अपना उद्धार करनेके लिये ही मिला है, इस कारण इसमें अपने स्वभावको सुधारनेका पूरा अधिकार है, पूरी स्वतन्त्रता है। उस स्वतन्त्रताका सदुपयोग करके स्वभाव सुधारनेमें और स्वतन्त्रताका दुरुपयोग करके स्वभाव बिगाड़नेमें प्राणी स्वयं ही हेतु है।

ईश्वर सम्पूर्ण प्राणियोंके हृदयदेशमें रहते हैं, यह कहनेका तात्पर्य है कि जैसे पृथ्वीमें सब जगह जल रहनेपर भी जहाँ कुआँ होता है, वहींसे जल प्राप्त होता है; ऐसे ही परमात्मा सब जगह समान रीतिसे परिपूर्ण होते हुए भी हृदयमें प्राप्त होते हैं अर्थात् हृदय सर्वव्यापी परमात्माकी प्राप्तिका विशेष स्थान है* । ऐसे ही तीसरे अध्यायमें सर्वव्यापी परमात्माको यज्ञ (निष्काम कर्म) में स्थित बताया गया है—'तस्मात्सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम्' (गीता ३ । १५) ।

विशेष बात—

साधककी प्रायः यह भूल होती है कि वे भजन, कीर्तन, ध्यान आदि करते हुए भी 'भगवान् दूर हैं, वे अभी नहीं मिलेंगे; यहाँ नहीं मिलेंगे; अभी हम योग्य नहीं हैं; भगवान्‌की कृपा नहीं है' आदि भावनाएँ बनाकर भगवान्‌की दूरीकी मान्यता ही दृढ़ करते रहते हैं । इस जगह साधकको यह सावधानी रखनी चाहिये कि जब परमात्मा सभी प्राणियोंमें मौजूद हैं तो मेरेमें भी हैं । वे सर्वत्र व्यापक हैं तो मैं जो जप करता हूँ उस जपमें भी भगवान् हैं; मैं श्वास लेता हूँ तो उस श्वासमें भी भगवान् हैं; मेरे मनमें भी भगवान् हैं, बुद्धिमें भी भगवान् हैं; मैं जो 'मैं-मैं' कहता हूँ, उस 'मैं' में भी भगवान् हैं । उस 'मैं' का जो आधार है, वह अपना

* यही बात गीतामें अन्य जगह भी आयी है; जैसे—'हृदि सर्वस्य विष्ठितम्' (१३ । १७); 'सर्वस्य चाहं हृदि संनिविष्टः' (१५ । १५); 'मां चैवान्तःशरीरस्थम्' (१७ । ६); आदि ।

स्वरूप भगवान्‌से अभिन्न है अर्थात् 'मैं'-पन तो दूर है, पर भगवान् 'मैं'-पनसे भी नजदीक हैं। इस प्रकार अपने भीतर भगवान्‌को मानते हुए ही भजन, जप, ध्यान आदि करने चाहिये।

अब शङ्का यह होती है कि अपनेमें परमात्माको माननेसे मैं और परमात्मा दो (अलग-अलग) हैं—यह द्वैतापत्ति होगी। इसका समाधान यह है कि परमात्माको अपनेमें माननेसे द्वैतापत्ति नहीं होती, प्रत्युत अहंकार ('मैं'-पन) को स्वीकार करनेसे जो अपनी अलग सत्ता प्रतीत होती है, उसीसे द्वैतापत्ति होती है। परमात्माको अपना और अपनेमें माननेसे तो परमात्मासे अभिन्नता होती है जिससे प्रेम प्रकट होता है।

जैसे, गङ्गाजीमें बाढ़ आ जानेसे उसका जल बहुत बढ़ जाता है और फिर पीछे वर्षा न होनेसे उसका जल पुनः कम हो जाता है; परंतु उसका जो जल गड्ढेमें रह जाता है अर्थात् गङ्गाजीसे अलग हो जाता है, उसको 'गङ्गोज्झ' कहते हैं। उस गङ्गोज्झको मदिराके समान महान् अपवित्र माना गया है। गङ्गाजीसे अलग होनेके कारण वह गन्दा हो जाता है और उसमें अनेक कीटाणु पैदा हो जाते हैं, जो कि रोगोंके कारण हैं। परंतु फिर कभी जोरकी बाढ़ आ जाती है, तो वह गङ्गोज्झ वापस गङ्गाजीमें मिल जाता है। गङ्गाजीमें मिलते ही उसकी एकदेशीयता, अपवित्रता, अशुद्धि आदि सभी दोष चले जाते हैं और वह पुनः महान् पवित्र गङ्गाजल बन जाता है।

ऐसे ही यह प्राणी जब अहंकारको स्वीकार करके परमात्मासे विमुख हो जाता है तो इसमें परिच्छिन्नता, पराधीनता, जड़ता, विषमता, अभाव, अशान्ति, अपवित्रता आदि सभी दोष (विकार) आ जाते हैं। परंतु जब यह अपने अंशी परमात्माके सम्मुख हो जाता है, उन्हींकी शरणमें चला जाता है अर्थात् अपना अलग कोई व्यक्तित्व नहीं रखता तो उसमें आये हुए भिन्नता, पराधीनता आदि सभी दोष मिट जाते हैं। कारण कि स्वयं (चेतन-स्वरूप)में दोष नहीं हैं । दोष तो अहंता (मैं-पन)को स्वीकार करनेसे ही आते हैं ।

सम्बन्ध—

अब भगवान् यन्त्रारूढ़ हुए प्राणियोंकी परवशताको मिटानेका उपाय बताते हैं ।

श्लोक—

तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत।
तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम्॥६२॥

व्याख्या—

मनुष्योंमें प्रायः यह एक कमजोरी रहती है कि जब उसके सामने संत-महापुरुष विद्यमान रहते हैं, तब उसकी उनपर श्रद्धा-विश्वास एवं महत्त्वबुद्धि नहीं होती*, पर जब वे चले जाते हैं, तो पीछे वह रोता रहता है, पश्चात्ताप करता रहता है । ऐसे ही भगवान् अर्जुनके रथके घोड़े हाँकते हैं और उसकी आज्ञाका पालन

* 'अतिपरिचयादवज्ञा' अर्थात् जहाँ किसीसे अति परिचय होता है, वहाँ उसकी अवज्ञा होती है ।

करते हैं। वे ही भगवान् जब अर्जुनसे कहते हैं कि शरणागत भक्त मेरी कृपासे शाश्वत पदको प्राप्त हो जाता है; और तू भी मेरेमें चित्तवाला होकर मेरी कृपासे सम्पूर्ण विघ्नोंको तर जायगा, तब अर्जुन कुछ बोला ही नहीं। इससे यह सम्भावना भी हो सकती है कि भगवान्‌के वचनोंपर अर्जुनको पूरा विश्वास न हुआ हो। इसी दृष्टिसे भगवान्‌को यहाँ अर्जुनके लिये अन्तर्यामी ईश्वरकी शरणमें जानेकी बात कहनी पड़ी।

'तमेव शरणं गच्छ'—भगवान् कहते हैं कि जो सर्वव्यापक ईश्वर सबके हृदयमें विराजमान है और सबका संचालक है, तू उसीकी शरणमें चला जा। तात्पर्य यह कि सांसारिक उत्पत्ति-विनाशशील पदार्थ, वस्तु, व्यक्ति, घटना, परिस्थिति आदि किसीका भी किंचिन्मात्र भी आश्रय न लेकर केवल एक अविनाशी परमात्माका ही आश्रय ले ले।

'सर्वभावेन'—सर्वभावसे शरण जानेका तात्पर्य यह हुआ कि मनसे उसी परमात्माका चिन्तन हो, शारीरिक क्रियाओंसे उसीका पूजन हो, उसीका प्रेमपूर्वक भजन हो और उसके प्रत्येक विधानमें परम प्रसन्नता हो। वह विधान चाहे शरीर, इन्द्रियाँ, मन आदिके अनुकूल हो, चाहे प्रतिकूल हो, उसे भगवान्‌का ही किया हुआ मानकर खूब प्रसन्न हो जाना चाहिये कि अहो! भगवान्‌की मेरेपर कितनी कृपा है कि मेरेसे बिना पूछे ही, मेरे मन, बुद्धि आदिके विपरीत जानते हुए भी केवल मेरे हितकी भावनासे, मेरा परम कल्याण करनेके लिये ही उस परमसुहृद् प्रभुने ऐसा विधान किया है!

'तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम्'— भगवान्‌ने पहले यह कह दिया था कि मेरी कृपासे शाश्वत पदकी प्राप्ति हो जाती है (१८ । ५६) और मेरी कृपासे तू सम्पूर्ण विघ्नोंसे तर जायगा (१८ । ५८)। वही बात यहाँ कहते हैं कि उस अन्तर्यामी परमात्माकी कृपासे तू परमशान्ति और शाश्वत स्थान-(पद-) को प्राप्त कर लेगा।

एक शान्ति होती है और एक 'परा शान्ति' होती है। संसारका सम्बन्ध त्यागनेसे शान्ति प्राप्त होती है और परमात्माकी शरण लेनेसे 'परा शान्ति' प्राप्त होती है। यह 'परा शान्ति' ही अविनाशी पद है। इसीको परमपद, परमशान्ति, परम पुरुष, अव्यक्त, अक्षर, परम गति आदि नामोंसे कहा गया है।

भगवान्‌ने 'तमेव शरणं गच्छ' पदोंसे अर्जुनको सर्वव्यापी ईश्वरकी शरणमें जानेके लिये कहा है। इससे यह शङ्का हो सकती है कि क्या भगवान् श्रीकृष्ण ईश्वर नहीं हैं? क्योंकि अगर भगवान् श्रीकृष्ण ईश्वर होते तो अर्जुनको 'उसीकी शरणमें जा'—ऐसा (परोक्ष रीतिसे) नहीं कहते।

इसका समाधान यह है कि भगवान्‌ने सर्वव्यापक ईश्वरकी शरणागतिको तो 'गुह्याद्गुह्यतरम्' (१८ । ६३) अर्थात् गुह्यसे गुह्यतर कहा है, पर अपनी शरणागतिको 'सर्वगुह्यतमम्' (१८ । ६४) अर्थात् सबसे गुह्यतम कहा है। इससे सर्वव्यापक ईश्वरकी अपेक्षा भगवान् श्रीकृष्ण बड़े ही सिद्ध हुए।

भगवान्‌ने पहले कहा है कि मैं अजन्मा, अविनाशी और सम्पूर्ण प्राणियोंका ईश्वर होते हुए भी अपनी प्रकृतिका आश्रय लेकर अपनी लीलाशक्तिके साथ प्रकट होता हूँ (४ । ६); मैं सम्पूर्ण यज्ञों और तपोंका भोक्ता हूँ, सम्पूर्ण लोकोंका महान् ईश्वर हूँ और सम्पूर्ण प्राणियोंका सुहृद् हूँ—ऐसा मुझे माननेसे शान्तिकी प्राप्ति होती है (५ । २९); परंतु जो मुझे सम्पूर्ण यज्ञोंका भोक्ता और सबका मालिक नहीं मानते, उनका पतन होता है (९ । २४)। इस प्रकार अन्वय-व्यतिरेकसे भी भगवान् श्रीकृष्णका ईश्वरत्व सिद्ध हो जाता है ।

इस अध्यायमें **'ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति'** (१८ । ६१) पदोंसे अन्तर्यामी ईश्वरको सब प्राणियोंके हृदयमें स्थित बताया है और पंद्रहवें अध्यायमें **'सर्वस्य चाहं हृदि संनिविष्टः'** (१५ । १५) पदोंसे अपनेको सबके हृदयमें स्थित बताया है । इसका तात्पर्य यह हुआ कि अन्तर्यामी परमात्मा और भगवान् श्रीकृष्ण दो नहीं हैं, एक ही हैं ।

जब अन्तर्यामी परमात्मा और भगवान् श्रीकृष्ण एक ही हैं, तो फिर भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनको **'तमेव शरणं गच्छ'** क्यों कहा ? इसका कारण यह है कि पहले छप्पनवें श्लोकमें भगवान्‌ने अपनी कृपासे शाश्वत अविनाशी पदकी प्राप्ति होनेकी बात कही और सत्तावनवें-अट्ठावनवें श्लोकोंमें अर्जुनको अपने परायण होनेकी आज्ञा देकर 'मेरी कृपासे सम्पूर्ण विघ्नोंको तर जायगा'—यह बात कही । परंतु अर्जुन कुछ बोले नहीं अर्थात् उन्होंने कुछ भी स्वीकार

नहीं किया। इसपर भगवान्‌ने अर्जुनको धमकाया कि यदि अहंकारके कारण तू मेरी बात नहीं सुनेगा तो तेरा पतन हो जायगा। उनसठवें श्लोकमें कहा कि 'मैं युद्ध नहीं करूँगा' इस प्रकार अहंकारका आश्रय लेकर किया हुआ तेरा निश्चय भी नहीं टिकेगा और तुझे स्वभावज कर्मोंके परवश होकर युद्ध करना ही पड़ेगा। भगवान्‌के इतना कहनेपर भी अर्जुन कुछ बोले ही नहीं। तो अन्तमें भगवान्‌को यह कहना पड़ा कि यदि तू मेरी शरणमें नहीं आना चाहता तो सबके हृदयमें स्थित जो अन्तर्यामी परमात्मा है, उसीकी शरणमें तू चला जा।

वास्तवमें अन्तर्यामी ईश्वर और भगवान् श्रीकृष्ण सर्वथा अभिन्न हैं अर्थात् सबके हृदयमें अन्तर्यामीरूपसे विराजमान ईश्वर ही भगवान् श्रीकृष्ण हैं और भगवान् श्रीकृष्ण ही सबके हृदयमें अन्तर्यामीरूपसे विराजमान ईश्वर हैं।

सम्बन्ध—

पिछले श्लोकमें भगवान्‌ने अर्जुनसे कहा कि तू उस अन्तर्यामी ईश्वरकी शरणमें चला जा। ऐसा कहनेपर भी अर्जुन कुछ नहीं बोले। इस वास्ते भगवान् अगले श्लोकमें अर्जुनको चेतानेके लिये उन्हें स्वतन्त्रता प्रदान करते हैं।

श्लोक—

इति ते ज्ञानमाख्यातं गुह्याद्गुह्यतरं मया।
विमृश्यैतदशेषेण यथेच्छसि तथा कुरु॥ ६३॥

व्याख्या—

'इति ते ज्ञानमाख्यातं गुह्याद्गुह्यतरं मया'—पिछले (बासठवें) श्लोकमें सर्वव्यापक अन्तर्यामी परमात्माकी जो शरणागति बतायी गयी है, उसीका लक्ष्य यहाँ 'इति' पदसे कराया गया है। भगवान् कहते हैं कि यह गुह्यसे भी गुह्यतर शरणागतिरूप ज्ञान मैंने तेरे लिये कह दिया है। भक्तिमिश्रित कर्मयोग 'गुह्य' है और अन्तर्यामी निराकार परमात्माकी शरणागति 'गुह्यतर है*।

---

* योगयुक्त बुद्धिवाले कर्मफलका त्याग करके अनामय पदको प्राप्त हो जाते हैं (२ । ५१), जो प्राप्ति ज्ञानयोगसे होती है, वह प्राप्ति कर्मयोगसे हो जाती है (४ । ३८); योगयुक्त मुनि बहुत जल्दी परमात्माको प्राप्त हो जाता है (५ । ६); कर्मफलका त्याग करनेपर सदा रहनेवाली शान्ति प्राप्त होती है (५ । १२) आदि श्लोकोंसे कर्मयोग परमात्मप्राप्तिका स्वतन्त्र साधन सिद्ध होता है। ऐसे कर्मयोगमें भी जब भक्तिका मिश्रण हो जाता है (१८ । ४६), तब उसे 'गुह्य' कहते हैं।

जड़तासे सम्बन्ध-विच्छेद करके निराकार परमात्माके शरण हो जाना—यह भक्तिमिश्रित कर्मयोगसे भी अधिक महत्त्वका है, इस वास्ते इसे 'गुह्यतर' कहते हैं।

सूर्यको मैंने ही उपदेश दिया था, वही मैं तेरेको कह रहा हूँ (४ । ३); सम्पूर्ण जगत् मेरेसे ही व्याप्त है (९ । ४); क्षरसे अतीत और अक्षरसे उत्तम 'पुरुषोत्तम' मैं ही हूँ (१५ । १८) आदि बातोंमें भगवान्ने अपनी भगवत्ता प्रकट की है, इस वास्ते ये बातें 'गुह्यतम' हैं।

तू केवल मेरी ही शरणमें आ जा, फिर तेरेको किंचिन्मात्र भी करना नहीं है, मैं तेरेको सम्पूर्ण पापोंसे मुक्त कर दूँगा, तू शोक-चिन्ता मत कर (१८ । ६६)—इस प्रकार अपनी शरणागतिकी बात कहना 'सर्वगुह्यतम' है।

जिसमें कर्मयोग, ज्ञानयोग, भक्तियोग आदि सब साधनोंका वर्णन होता है, उस योगशास्त्रको 'परमगुह्य' कहा गया है (१८ । ६८, ७५)।

भक्तिमिश्रित कर्मयोगका तात्पर्य है—अपने पास जो कुछ भी पदार्थ है, उसे अपना न मानकर केवल भगवान्‌का मानना और अपने कर्मोंके द्वारा उनका पूजन करना अर्थात् निष्कामभावपूर्वक सम्पूर्ण कर्मोंको भगवान्‌की प्रसन्नताके लिये ही करना (१८।४६)। परंतु अन्तर्यामी निराकार परमात्माकी शरणागति इस गुह्य (भक्तिमिश्रित कर्मयोग)से भी गुह्यतर है, जिसमें भक्त अपने-आपको परमात्माके समर्पित कर देता है।

'विमृश्यैतदशेषेण'—गुह्यसे गुह्यतर शरणागतिरूप ज्ञान बताकर भगवान् अर्जुनसे कहते हैं कि मैंने पहले जो भक्तिकी बातें कही हैं, उनपर तुम अच्छी तरहसे विचार कर लेना। भगवान्‌ने इसी अध्यायके सत्तावनवें-अट्ठावनवें श्लोकोंमें अपनी भक्ति (शरणागति) की जो बातें कही हैं, उन्हें 'एतद्' पदसे लेना चाहिये। गीतामें जहाँ-जहाँ भक्तिकी बातें आयी हैं, उन्हें 'अशेषेण' पदसे लेना चाहिये*।

* गीतामें भक्तिकी बातें इन श्लोकोंमें आयी हैं—सम्पूर्ण योगियोंमें भक्तियोगी श्रेष्ठ है (६।४७); मेरी शरण लेनेवाले मायाको तर जाते हैं (७।१४); सब कुछ वासुदेव ही है—इस प्रकार मेरी (भगवान्‌की) शरण लेनेवाले महात्मा अत्यन्त दुर्लभ हैं (७।१९); अनन्य भक्तिसे मैं सुलभ हूँ (८।१४); अनन्यभक्तिसे परम पुरुषकी प्राप्ति होती है (८।२२); दैवी-सम्पत्तिके आश्रित महात्मालोग अनन्यमनसे मेरा भजन करते हैं (९।१३); दृढ़ निश्चयवाले भक्त निरन्तर कीर्तन करते हुए तथा मुझे नमस्कार करते हुए भक्तिपूर्वक मेरी उपासना करते हैं (९।१४); अनन्यभक्तका योगक्षेम मैं वहन करता हूँ (९।२२); भक्तद्वारा प्रेमपूर्वक अर्पित पत्र, पुष्प, फल आदिको मैं खाता हूँ

'विमृश्यैतदशेषेण' कहनेमें भगवान्‌की अत्यधिक कृपालुताकी एक गूढ़ाभिसन्धि है कि कहीं अर्जुन मेरेसे विमुख न हो जाय, इस वास्ते यदि यह मेरी कही हुई बातोंकी तरफ विशेषतासे ख्याल करेगा तो असली बात अवश्य ही इसकी समझमें आ जायगी और फिर यह मेरेसे विमुख नहीं होगा।

'यथेच्छसि तथा कुरु'—पहले कही सब बातोंपर पूरा-पूरा विचार करके फिर तेरी जैसी मर्जी आये, वैसा कर। तू जैसा करना चाहता है, वैसा कर—ऐसा कहनेमें भी भगवान्‌की आत्मीयता, कृपालुता और हितैषिता ही प्रत्यक्ष दीख रही है।

पहले **'वक्ष्याम्यशेषतः'** (७ । २), **'इदं तु ते गुह्यतमं प्रवक्ष्याम्यनसूयवे'** (९ । १), **'वक्ष्यामि हितकाम्यया'** (१०।१)

(९ । २६); तू जो करता है, हवन करता है, दान देता है और तप करता है, वह सब मेरे अर्पण कर (९ । २७); सब कर्म मेरे अर्पण कर दे तो तू शुभाशुभ फलरूप बन्धनसे मुक्त हो जायगा (९ । २८); मेरेमें मनवाला हो, मेरा भक्त हो, मेरा पूजन करनेवाला हो और मेरेको नमस्कार कर (९ । ३४); सब प्रकारसे मेरेमें लगे हुए भक्तोंका अज्ञान मैं दूर कर देता हूँ, जिससे वे मेरेको ही प्राप्त होते हैं (१० । ९-११); अनन्यभक्तिसे ही मैं देखा और जाना जा सकता हूँ तथा मेरेमें प्रवेश किया जा सकता है (११ । ५४); अनन्यभक्तिवाला पुरुष मेरेको ही प्राप्त होता है (११ । ५५); मेरा भजन करनेवाला भक्त अति उत्तम योगी है (१२ । २); जो सब कर्मोंको मेरे समर्पित करके मेरे परायण हो गये हैं, उनका मैं बहुत जल्दी उद्धार करता हूँ (१२ । ६-७); तू मेरेमें ही मन और बुद्धिको अर्पित कर दे तो मेरी प्राप्ति हो जायगी (१२ । ८); अव्यभिचारी भक्तियोगसे मनुष्य गुणातीत हो जाता है (१४ । २६); सर्वभावसे मुझे भजनेवाला भक्त सर्ववित् है (१५ । १९)।

आदि श्लोकोंमें भगवान् अर्जुनके हितकी बात कहते आये हैं, पर इन वाक्योंमें भगवान्‌की अर्जुनपर 'सामान्य कृपा' है।

'न श्रोष्यसि विनङ्क्ष्यसि' (१८। ५८)—इस श्लोकमें अर्जुनको धमकानेमें भगवान्‌की 'विशेष कृपा' और अपनेपनका भाव टपकता है।

यहाँ **'यथेच्छसि तथा कुरु'** कहकर भगवान् जो अपनेपनका त्याग कर रहे हैं, इसमें तो भगवान्‌की 'अत्यधिक कृपा' और आत्मीयता भरी हुई है। कारण कि भक्त भगवान्‌का धमकाया जाना तो सह सकता है, पर भगवान्‌का त्याग नहीं सह सकता। इसलिये **'न श्रोष्यसि विनङ्क्ष्यसि'** आदि कहनेपर भी अर्जुनपर इतना असर नहीं पड़ा, जितना 'यथेच्छसि तथा कुरु' कहनेपर पड़ा। इसे सुनकर *अर्जुन घबरा गये कि भगवान् तो मेरा त्याग कर रहे हैं!* क्योंकि मैंने यह बड़ी भारी गलती की कि भगवान्‌के द्वारा प्यारसे समझाने, अपनेपनसे धमकाने और अन्तर्यामीकी शरणागतिकी कहनेपर भी मैं कुछ बोला नहीं, जिससे भगवान्‌को 'जैसी मर्जी आये, वैसा कर' यह कहना पड़ा। अब तो मैं कुछ भी कहनेके लायक नहीं हूँ! —ऐसा सोचकर अर्जुन बड़े दुःखी हो जाते हैं तो भगवान् अर्जुनके बिना पूछे ही सर्वगुह्यतम वचनोंको कहते हैं, जिनका वर्णन अगले श्लोकमें है।

सम्बन्ध—

पिछले श्लोकमें भगवान्‌ने 'विमृश्यैतदशेषेण' पदसे अर्जुनको कहा कि मेरे इस पूरे उपदेशका सार निकाल लेना। परंतु

भगवान्‌के सम्पूर्ण उपदेशका सार निकाल लेना अर्जुनके वशकी बात नहीं थी; क्योंकि अपने उपदेशका सार निकालना जितना वक्ता जानता है, उतना श्रोता नहीं जानता । दूसरी बात, 'जैसी मर्जी आये, वैसा कर'—इस प्रकार भगवान्‌के मुखसे अपने त्यागकी बात सुनकर अर्जुन बहुत डर गये, इस वास्ते अगले दो श्लोकोंमें भगवान् अपने प्रिय सखा अर्जुनको आश्वासन देते हैं ।

श्लोक—

सर्वगुह्यतमं भूयः शृणु मे परमं वचः ।
इष्टोऽसि मे दृढमिति ततो वक्ष्यामि ते हितम् ॥ ६४ ॥

व्याख्या—

'सर्वगुह्यतमं भूयः शृणु मे परमं वचः'—पहले तिरसठवें ोकमें भगवान्‌ने गुह्य (भक्तिमिश्रित कर्मयोग) और गुह्यतर अन्तर्यामी निराकारकी शरणागति) बात कही और **'इदं तु ते** ुह्यतमं' (९ । १) तथा **'इति गुह्यतमं शास्त्रम्'** (१५ । २०) —इन पदोंसे गुह्यतम (अपना प्रभाव) बात कह दी, पर र्वगुह्यतम बात गीतामें पहले कहीं नहीं कही । अब यहाँ अर्जुनकी ाबराहटको देखकर भगवान् कहते हैं कि मैं सर्वगुह्यतम अर्थात् ाबसे अत्यन्त गोपनीय बात फिर कहूँगा, तू मेरे परम, सर्वश्रेष्ठ ाचनोंको सुन ।

इस श्लोकमें **'सर्वगुह्यतम'** पदसे भगवान्‌ने बताया कि यह हरेकके सामने प्रकट करनेकी बात नहीं है और सड़सठवें श्लोकमें **'इदं ते नातपस्काय नाभक्ताय कदाचन'** पदसे भगवान्‌ने बताया

कि इस बातको-असहिष्णु और अभक्तसे कभी मत कहना। इस प्रकार दोनों तरफसे निषेध करके बीचमें (छियासठवें श्लोकमें) **'सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज'**—इस सर्वगुह्यतम बातको रखा है। दोनों तरफसे निषेध करनेका तात्पर्य है कि यह गीताभरमें अत्यन्त रहस्यमय खास उपदेश है*।

---

* दसवें अध्यायके आरम्भमें भगवान्ने 'भूय एव महाबाहो शृणु मे परमं वचः' कहा और यहाँ 'सर्वगुह्यतमं भूयः शृणु मे परमं वचः' कहा। इन दोनोंमें केवल 'एव महाबाहो' की जगह 'सर्वगुह्यतमम्' पद आया है अर्थात् केवल छः अक्षर ही बदले हैं, बाकी दस अक्षर वे-के-वे ही हैं। वहाँ 'भूय एव महाबाहो' कहकर 'मच्चित्ताः' (१० । ९) कहते हैं। और यहाँ 'मच्चित्तः' (१८ । ५७-५८) कहकर 'सर्वगुह्यतमं भूयः' कहते हैं। परंतु 'मच्चित्ताः' और 'मच्चित्तः'में थोड़ा फर्क है। वहाँ 'मच्चित्ताः'में प्रथम पुरुषका प्रयोग करके सामान्य रीतिसे सबके लिये बात कही है, और यहाँ 'मच्चित्तः'में मध्यम पुरुषका प्रयोग करके अर्जुनके लिये विशेष आज्ञा दी है। वहाँ भी 'मेरी कृपासे अज्ञान दूर हो जायगा' ऐसा कहा है और यहाँ भी 'मेरी कृपासे तू सब विघ्नोंको तर जायगा' ऐसा कहा है।

वहाँ 'यत्तेऽहं प्रीयमाणाय वक्ष्यामि हितकाम्यया' (१० । १) कहा है और यहाँ 'ततो वक्ष्यामि ते हितम्' कहा है। वहाँ 'मन्मना भव…' (९ । ३४) कहकर अव्यवहित-रूपसे (लगातार पासमें ही।) 'भूय एव महाबाहो……' कहा है, और यहाँ 'सर्वगुह्यतमं भूयः……' कहकर अव्यवहित-रूपसे 'मन्मना भव……' (१८ । ६५) कहा है।

जैसे 'सर्वगुह्यतमम्' पद गीतामें एक ही बार आया है, ऐसे ही 'सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज'—ऐसा वाक्य भी एक ही बार आया है।

दूसरे अध्यायके सातवें श्लोकमें '**धर्मसम्मूढचेताः**' कहकर अर्जुन अपनेको धर्मका निर्णय करनेमें अयोग्य समझते हुए भगवान्से पूछते हैं, उनके शिष्य बनते हैं और शिक्षा देनेके लिये कहते हैं। अतः भगवान् यहाँ (१८ । ६६में) कहते हैं कि तू धर्मके निर्णयका भार अपने ऊपर मत ले, वह भार मेरेपर छोड़ दे—मेरे ही समर्पित कर दे और अनन्यभावसे केवल मेरी शरणमें आ जा। फिर तेरेको जो पाप आदिका डर है, उन सब पापोंसे मैं तुझे मुक्त कर दूँगा। तू सब चिन्ताओंको छोड़ दे। यही भगवान्का '**सर्वगुह्यतम परम वचन**' है।

'**भूयः शृणु**'—मैंने यही बात दूसरे शब्दोंमें पहले भी कही थी, पर तुमने ध्यान नहीं दिया। इस वास्ते मैं फिर वही बात कहता हूँ। अबकी बार इस बातपर विशेषरूपसे ध्यान दो।

यह सर्वगुह्यतमवाली बात भगवान्ने पहले '**मत्परः**···**मच्चित्तः सततं भव**' (१८ । ५७) और '**मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात्तरिष्यसि**' (१८ । ५८) पदोंसे कह दी थी; परंतु '**सर्वगुह्यतमम्**' पद पहले नहीं कहा, और अर्जुनका भी उस बात-पर लक्ष्य नहीं गया। इस वास्ते अब फिर उस बातपर अर्जुनका ख्याल कराने के लिये और उस बातका महत्त्व बतानेके लिये भगवान् यहाँ '**सर्वगुह्यतमम्**' पद देते हैं।

'**इष्टोऽसि मे दृढमिति**'—इससे पहले भगवान्ने कहा था कि जैसी मर्जी आये वैसा कर। जो अनुयायी है, आज्ञा-पालक है, शरणागत है, उसके लिये ऐसी बात कहनेके समान दूसरा क्या

दण्ड दिया जा सकता है। अतः इस बातको सुनकर अर्जुनके मनमें भय पैदा हो गया कि भगवान् मेरा त्याग कर रहे हैं। उस भयको दूर करनेके लिये भगवान् यहाँ कहते हैं कि तुम मेरे अत्यन्त प्यारे मित्र हो*। यदि अर्जुनके मनमें भय या सन्देह न होता, तो भगवान्को 'तुम मेरे अत्यन्त प्यारे मित्र हो'—यह कहकर सफाई देनेकी क्या जरूरत थी? सफाई देना तभी बनता है, जब दूसरेके मनमें भय हो; सन्देह हो, हलचल हो।

'इष्ट' कहनेका दूसरा भाव यह है कि भगवान् अपने शरणागत भक्तको अपना इष्टदेव मान लेते हैं। भक्त सब कुछ छोड़कर केवल भगवान्को अपना इष्ट मानता है तो भगवान् भी उसको अपना इष्ट मानते हैं; क्योंकि भक्तिके विषयमें भगवान्का यह कानून है— **'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्'** (गीता ४। ११) अर्थात् जो भक्त जैसे मेरे शरण होते हैं, मैं भी उनका वैसे ही भजन करता हूँ—उन्हें सर्वश्रेष्ठ मानता हूँ। भगवान्की दृष्टिमें भक्तके समान और कोई श्रेष्ठ नहीं है। भागवतमें भगवान् उद्धवजीसे कहते हैं—'तुम्हारे-जैसे प्रेमी भक्त मुझे जितने प्यारे हैं, उतने प्यारे न ब्रह्माजी हैं, न शंकरजी हैं, न बलरामजी हैं, और तो क्या, मेरे शरीरमें निवास करनेवाली लक्ष्मीजी और मेरी आत्मा भी उतनी प्यारी नहीं है†'।

* सासति करि पुनि करहिं पसाऊ। नाथ प्रभुन्ह कर सहज सुभाऊ॥
(मानस १। ८८। २)

† न तथा मे प्रियतम आत्मयोनिर्न शंकरः।
न च संकर्षणो न श्रीर्नैवात्मा च यथा भवान्॥
(श्रीमद्भा० ११। १

'दृढम्'कहनेका तात्पर्य है कि जब तुमने एक बार कह दिया कि 'मैं आपके शरण हूँ' (२ । ७) तो अब तुम्हें बिल्कुल भी भय नहीं करना चाहिये। कारण कि जो मेरी शरणमें आकर एक बार भी सच्चे हृदयसे कह देता है कि 'मैं आपका ही हूँ', उसको मैं सम्पूर्ण प्राणियोंसे अभय (सुरक्षित) कर देता हूँ—यह मेरा व्रत है* ।

'ततो वक्ष्यामि ते हितम्'—तू मेरा अत्यन्त प्यारा मित्र है, इस वास्ते अपने हृदयकी अत्यन्त गोपनीय और अपने दरबारकी श्रेष्ठ-से-श्रेष्ठ बात तुझे कहूँगा। दूसरी बात, मैं जो आगे शरणागतिकी बात कहूँगा, उसका यह तात्पर्य नहीं है कि मेरी शरणमें आनेसे मुझे कोई लाभ हो जायगा, प्रत्युत इसमें केवल तेरा ही हित होगा। इससे सिद्ध होता है कि प्राणिमात्रका हित केवल इसी बातमें है कि वह किसी औरका सहारा न लेकर केवल मेरी ही शरण ले लें अर्थात् भगवान्‌के शरण होनेके सिवाय जीवका कहीं भी, किंचिन्मात्र भी हित नहीं है। कारण यह है कि जीव साक्षात् परमात्माका अंश है। इस वास्ते वह परमात्माको छोड़कर किसीका भी सहारा लेगा तो वह सहारा टिकेगा नहीं। जब संसारकी कोई भी वस्तु, व्यक्ति, घटना परिस्थिति, अवस्था आदि स्थिर नहीं हैं, तो फिर इनका सहारा कैसे स्थिर रह सकता है ? इनका सहारा तो रहेगा नहीं, केवल चिन्

* सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते ।
अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद् व्रतं मम ॥
(वाल्मीकि० ६ । १८ । ३

शोक, दुःख आदि रह जायँगे । जैसे, अग्निसे अङ्गार दूर हो जाता है तो वह काला कोयला बन जाता है—'कोयला होय नहीं उजला ? सौ मन साबुन लगाय ।' पर वही कोयला जब पुनः अग्निसे मिल जाता है तो वह अङ्गार (अग्निरूप) बन जाता है और चमक उठता है । ऐसे ही यह जीव भगवान्‌से विमुख हो जाता है तो वह बार-बार जन्मता-मरता और दुःख पाता रहता है, पर जब वह भगवान्‌के सम्मुख हो जाता है अर्थात् अनन्यभावसे भगवान्‌की शरणमें हो जाता है तो वह भगवत्स्वरूप बन जाता है और चमक उठता है तथा दुनियामात्रका कल्याण करनेवाला हो जाता है ।

श्लोक—

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु ।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे ॥ ६५ ॥

व्याख्या—

'मद्भक्तः'—साधकको सबसे पहले 'मैं भगवान्‌का हूँ' इस प्रकार अपनी अहंता (मैं-पन) को बदल देना चाहिये । कारण कि बिना अहंताके बदले साधन सुगमतासे नहीं होता और अहंताके बदलनेपर साधन सुगमतासे, स्वाभाविक ही होने लगता है । इस वास्ते साधकको सबसे पहले **'मद्भक्तः'** होना चाहिये ।

किसीका शिष्य बननेपर व्यक्ति अपनी अहंताको बदल देता है कि 'मैं तो गुरु महाराजका ही हूँ ।' विवाह हो जानेपर कन्या अपनी अहंताको बदल देती है कि 'मैं तो ससुरालकी ही हूँ,' और पिताके कुलका सम्बन्ध बिल्कुल छूट जाता है । ऐसे ही साधकको

अपनी अहंता बदल देनी चाहिये कि 'मैं भगवान्‌का हूँ और भगवान् ही मेरे हैं; मैं संसारका नहीं हूँ और संसार मेरा नहीं है' [अहंताके बदलनेपर ममता भी अपने-आप बदल जाती है ।]

'मन्मना भव'—उपर्युक्त प्रकारसे अपनेको भगवान्‌का मान लेनेपर भगवान्‌में स्वाभाविक ही मन लगने लगता है । कारण कि जो अपना होता है, वह स्वाभाविक ही प्रिय लगता है और जहाँ प्रियता होती है, वहाँ स्वाभाविक ही मन लगता है । अतः भगवान्‌को अपना माननेसे भगवान् स्वाभाविक ही प्रिय लगते हैं । फिर मनसे स्वाभाविक ही भगवान्‌के नाम, गुण, प्रभाव, लीला आदिका चिन्तन होता है । भगवान्‌के नामका जप और स्वरूपका ध्यान बड़ी तत्परता और लगनपूर्वक होता है ।

'मद्याजी'—अहंता बदल जानेपर अर्थात् अपने-आपको भगवान्‌का मान लेनेपर संसारका सब काम भगवान्‌की सेवाके रूपमें बदल जाता है अर्थात् साधक पहले जो संसारका काम करता था, वही काम अब भगवान्‌का काम हो जाता है । भगवान्‌का सम्बन्ध ज्यों-ज्यों दृढ़ होता जाता है, त्यों-ही-त्यों उसका सेवा-भाव पूजा-भावमें परिणत होता जाता है । फिर वह चाहे संसारका काम करे, चाहे घरका काम करे, चाहे शरीरका काम करे, चाहे ऊँचा-नीचा कोई भी काम करे, उसमें भगवान्‌की पूजाका ही भाव बना रहता है । उसकी यह दृढ़ धारणा हो जाती है कि भगवान्‌की पूजाके सिवाय मेरा कुछ भी काम नहीं है ।

'मां नमस्कुरु'—भगवान्के चरणोंमें साष्टाङ्ग प्रणाम करके सर्वथा भगवान्के समर्पित हो जाय। मैं प्रभुके चरणोंमें ही पड़ा हुआ हूँ—ऐसा मनमें भाव रखते हुए जो कुछ अनुकूल या प्रतिकूल परिस्थिति सामने आ जाय, उसमें भगवान्का मंगलमय विधान मानकर परम प्रसन्न रहे।

भगवान्के द्वारा मेरे लिये जो कुछ भी विधान होगा, वह मङ्गलमय ही होगा। पूरी परिस्थिति मेरी समझमें आये या न आये—यह बात दूसरी है, पर भगवान्का विधान तो मेरे लिये *कल्याणकारी ही है, इसमें कोई सन्देह नहीं।* इस वास्ते जो कुछ होता है, वह मेरे कर्मोंका फल नहीं है, प्रत्युत भगवान्के द्वारा कृपा करके केवल मेरे हितके लिये भेजा हुआ विधान है। कारण कि भगवान् प्राणिमात्रके परम सुहृद् होनेसे जो कुछ विधान करते हैं, *वह जीवोंके कल्याणके लिये ही करते हैं।* इस वास्ते भगवान् अनुकूल या प्रतिकूल परिस्थिति भेजकर प्राणियोंके पुण्य-पापोंका नाश करके, उन्हें परम शुद्ध बनाकर अपने चरणोंमें खींच रहे हैं—इस प्रकार दृढ़तासे भाव होना ही भगवान्के चरणोंमें नमस्कार करना है।

'मामेवैष्यसि सत्यं ते *प्रतिजाने प्रियोऽसि मे*'—भगवान् कहते हैं कि इस प्रकार मेरा भक्त होनेसे, मेरेमें मनवाला होनेसे तथा मेरा पूजन करनेवाला होनेसे और मुझे नमस्कार करनेसे तू मेरेको ही

अपनी अहंता बदल देनी चाहिये कि 'मैं भगवान्‌का हूँ और भगवान् ही मेरे हैं; मैं संसारका नहीं हूँ और संसार मेरा नहीं है' [अहंताके बदलनेपर ममता भी अपने-आप बदल जाती है ।]

'मन्मना भव'—उपर्युक्त प्रकारसे अपनेको भगवान्‌का मान लेनेपर भगवान्‌में स्वाभाविक ही मन लगने लगता है । कारण कि जो अपना होता है, वह स्वाभाविक ही प्रिय लगता है और जहाँ प्रियता होती है, वहाँ स्वाभाविक ही मन लगता है । अतः भगवान्‌को अपना माननेसे भगवान् स्वाभाविक ही प्रिय लगते हैं । फिर मनसे स्वाभाविक ही भगवान्‌के नाम, गुण, प्रभाव, लीला आदिका चिन्तन होता है । भगवान्‌के नामका जप और स्वरूपका ध्यान बड़ी तत्परता और लगनपूर्वक होता है ।

'मद्याजी'—अहंता बदल जानेपर अर्थात् अपने-आपको भगवान्‌का मान लेनेपर संसारका सब काम भगवान्‌की सेवाके रूपमें बदल जाता है अर्थात् साधक पहले जो संसारका काम करता था, वही काम अब भगवान्‌का काम हो जाता है । भगवान्‌का सम्बन्ध ज्यों-ज्यों दृढ़ होता जाता है, त्यों-ही-त्यों उसका सेवा-भाव पूजा-भावमें परिणत होता जाता है । फिर वह चाहे संसारका काम करे, चाहे घरका काम करे, चाहे शरीरका काम करे, चाहे ऊँचा-नीचा कोई भी काम करे, उसमें भगवान्‌की पूजाका ही भाव बना रहता है । उसकी यह दृढ़ धारणा हो जाती है कि भगवान्‌की पूजाके सिवाय मेरा कुछ भी काम नहीं है ।

'मां नमस्कुरु'—भगवान्‌के चरणोंमें साष्टाङ्ग प्रणाम करके सर्वथा भगवान्‌के समर्पित हो जाय। मैं प्रभुके चरणोंमें ही पड़ा हुआ हूँ—ऐसा मनमें भाव रखते हुए जो कुछ अनुकूल या प्रतिकूल परिस्थिति सामने आ जाय, उसमें भगवान्‌का मंगलमय विधान मानकर परम प्रसन्न रहे।

भगवान्‌के द्वारा मेरे लिये जो कुछ भी विधान होगा, वह मङ्गलमय ही होगा। पूरी परिस्थिति मेरी समझमें आये या न आये—यह बात दूसरी है, पर भगवान्‌का विधान तो मेरे लिये कल्याणकारी ही है, इसमें कोई सन्देह नहीं। इस वास्ते जो कुछ होता है, वह मेरे कर्मोंका फल नहीं है, प्रत्युत भगवान्‌के द्वारा कृपा करके केवल मेरे हितके लिये भेजा हुआ विधान है। कारण कि भगवान् प्राणिमात्रके परम सुहृद् होनेसे जो कुछ विधान करते हैं, वह जीवोंके कल्याणके लिये ही करते हैं। इस वास्ते भगवान् अनुकूल या प्रतिकूल परिस्थिति भेजकर प्राणियोंके पुण्य-पापोंका नाश करके, उन्हें परम शुद्ध बनाकर अपने चरणोंमें खींच रहे हैं—इस प्रकार दृढ़तासे भाव होना ही भगवान्‌के चरणोंमें नमस्कार करना है।

'मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे'—भगवान् कहते हैं कि इस प्रकार मेरा भक्त होनेसे, मेरेमें मनवाला होनेसे तथा मेरा पूजन करनेवाला होनेसे और मुझे नमस्कार करनेसे तू मेरेको ही

प्राप्त होगा अर्थात् मेरेमें ही निवास करेगा*—ऐसी मैं सत्य प्रतिज्ञा करता हूँ; क्योंकि तू मेरा प्यारा है ।

'प्रियोऽसि मे' कहनेका तात्पर्य है कि भगवान्‌का जीवमात्रपर अत्यधिक स्नेह है । अपना ही अंश होनेसे कोई भी जीव भगवान्‌को अप्रिय नहीं है । भगवान् जीवोंको चाहे चौरासी लाख योनियोंमें भेजें, चाहे नरकोंमें भेजें, उनका उद्देश्य जीवोंको पवित्र करनेका ही होता है । जीवोंके प्रति भगवान्‌का जो यह कृपापूर्ण विधान है, वह भगवान्‌के प्यारका ही द्योतक है । इसी बातको प्रकट करनेके लिये भगवान् अर्जुनको प्राणिमात्रका प्रतिनिधि बनाकर 'प्रियोऽसि मे' वचन कहते हैं ।

जीवमात्र भगवान्‌को अत्यन्त प्रिय है । केवल जीव ही भगवान्‌से विमुख होकर प्रतिक्षण वियुक्त होनेवाले संसार (धन-सम्पत्ति, कुटुम्बी, शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, प्राण आदि) को अपना मानने लगता है, जबकि संसारने कभी जीवको अपना नहीं माना है । जीव ही अपनी तरफसे संसारसे सम्बन्ध जोड़ता है । संसार प्रतिक्षण परिवर्तनशील है और जीव नित्य अपरिवर्तनशील है । जीवसे यही गलती होती है कि वह प्रतिक्षण बदलनेवाले संसारके सम्बन्धको नित्य मान लेता है । यही कारण है कि सम्बन्धीके न रहनेपर भी उससे माना हुआ सम्बन्ध रहता है । यह माना हुआ सम्बन्ध ही

* भगवान्‌का भक्त होना, उनमें मन लगाना, उनका पूजन करना और उन्हें नमस्कार करना—इन चारोंमें एक भी साधन ठीक तरह होनेपर शेष तीनों साधन उसमें स्वतः आ जाते हैं ।

अनर्थका हेतु है। इस सम्बन्धको मानने अथवा न माननेमें सभी स्वतन्त्र हैं। इस वास्ते इस माने हुए सम्बन्धका त्याग करके, जिनसे हमारा वास्तविक और नित्य-सम्बन्ध है, उन भगवान्‌की शरणमें चले जाना चाहिये।

सम्बन्ध—

पिछले दो श्लोकोंमें अर्जुनको आश्वासन देकर अब भगवान् अगले श्लोकमें अपने उपदेशकी अत्यन्त गोपनीय सार बात बताते हैं।

श्लोक—

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥ ६६ ॥

व्याख्या—

'सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज'भगवान् कहते हैं कि सम्पूर्ण धर्मोंका आश्रय, धर्मके निर्णयका विचार छोड़कर अर्थात् क्या करना है और क्या नहीं करना है—इसको छोड़कर केवल एक मेरी ही शरणमें आ जा।

स्वयं भगवान्‌के शरणागत हो जाना—यह सम्पूर्ण साधन सार है। इसमें शरणागत भक्तको अपने लिये कुछ भी करना नहीं रहता; जैसे—पतिव्रताका अपना कोई काम नहीं रह अपने शरीरकी सार-सँभाल भी पतिके नाते, पतिके लिये है। वह घर, कुटुम्ब, वस्तु, पुत्र-पुत्री और अपने शरीरको भी अपना नहीं मानती, प्रत्युत पतिदेवका है तात्पर्य यह हुआ कि जिस प्रकार पतिव्रता पतिके

पतिके गोत्रमें ही अपना गोत्र मिला देती है और पतिके ही घरपर रहती है, उसी प्रकार शरणागत भक्त भी शरीरको लेकर माने जानेवाले गोत्र, जाति, नाम आदिको भगवान्के चरणोंमें समर्पित करके निश्चिन्त, निर्भय, निःशोक और निःशङ्क हो जाता है।

गीताके अनुसार यहाँ 'धर्म' शब्द कर्तव्य-कर्मका वाचक है। कारण कि इसी अध्यायके इकतालीसवेंसे चौवालीसवें श्लोकतक 'स्वभावजं कर्म' पद आये हैं, फिर सैंतालीसवें श्लोकके पूर्वार्द्धमें 'स्वधर्म' पद आया है। उसके बाद, सैंतालीसवें श्लोकके ही उत्तरार्द्धमें तथा (प्रकरणके अन्तमें) अड़तालीसवें श्लोकमें 'कर्म' पद आया है। तात्पर्य यह हुआ कि आदि और अन्तमें 'कर्म' पद आया है और बीचमें 'स्वधर्म' पद आया है तो इससे स्वतः ही 'धर्म' शब्द कर्तव्य-कर्मका वाचक सिद्ध हो जाता है।

अब यहाँ प्रश्न यह होता है कि 'सर्वधर्मान्परित्यज्य' पदसे क्या धर्म अर्थात् कर्तव्य-कर्मका स्वरूपसे त्याग माना जाय? इसका उत्तर यह है कि धर्मका स्वरूपसे त्याग करना न तो गीताके अनुसार ठीक है और न यहाँके प्रसङ्गके अनुसार ही ठीक है; क्योंकि भगवान्की यह बात सुनकर अर्जुनने कर्तव्य-कर्मका त्याग नहीं किया है, प्रत्युत 'करिष्ये वचनं तव' (१८। ७३) कहकर भगवान्की आज्ञाके अनुसार कर्तव्य-कर्मका पालन करना स्वीकार किया है। केवल स्वीकार ही नहीं किया है, प्रत्युत अपने क्षात्रधर्मके अनुसार युद्ध भी किया है। अतः उपर्युक्त पदमें धर्म अर्थात्

कर्तव्यका त्याग करनेकी बात नहीं है। भगवान् भी कर्तव्यके त्यागकी बात कैसे कह सकते हैं! भगवान्‌ने इसी अध्यायके छठे श्लोकमें कहा है कि यज्ञ, दान, तप और अपने-अपने वर्ण-आश्रमोंके जो कर्तव्य हैं, उनका कभी त्याग नहीं करना चाहिये, प्रत्युत उनको जरूर करना चाहिये*।

---

* तीसरे अध्यायमें तो भगवान्‌ने कर्तव्य-कर्मको न छोड़नेके लिये प्रकरण-का-प्रकरण ही कहा है—कर्मोंको त्यागनेसे न तो निष्कर्मताकी प्राप्ति होती है और न सिद्धि ही होती है (३ । ४); कोई भी मनुष्य किसी भी अवस्थामें क्षणमात्र भी कर्म किये बिना नहीं रह सकता (३ । ५); जो बाहरसे कर्मोंको त्यागकर भीतरसे विषयोंका चिन्तन करता है, वह मिथ्याचारी है (३ । ६); जो मन-इन्द्रियोंको वशमें करके कर्तव्य-कर्म करता है, वही श्रेष्ठ है (३ । ७); कर्म किये बिना शरीरका निर्वाह भी नहीं होता, इस वास्ते कर्म करना चाहिये (३ । ८); 'कर्मणा बध्यते जन्तुः'—इस बन्धनके भयसे भी कर्मोंका त्याग करना उचित नहीं है; क्योंकि केवल कर्तव्य-पालनके लिये कर्म करना बन्धनकारक नहीं है, प्रत्युत कर्तव्य-कर्मकी परम्परा सुरक्षित रखनेके सिवाय अपने लिये कुछ भी कर्म करना ही बन्धनकारक है (३ । ९); ब्रह्माजीने कर्तव्य-सहित प्रजाकी रचना करके कहा कि इस कर्तव्य-कर्मसे ही तुमलोगोंकी वृद्धि होगी और यही कर्तव्य-कर्म तुम लोगोंको कर्तव्य-सामग्री देनेवाला होगा (३ । १०); मनुष्य और देवता-दोनों ही कर्तव्यका पालन करते हुए कल्याणको प्राप्त होंगे (३ । ११); जो कर्तव्यका पालन किये बिना प्राप्त सामग्रीका उपभोग करता है, वह चोर है (३ । १२); कर्तव्य-कर्म करके अपना निर्वाह करनेवाला सम्पूर्ण पापोंसे मुक्त हो जाता है और जो केवल अपने लिये ही कर्म करता है, वह पापी पापका ही भक्षण करता है (३ । १३); कर्तव्य-पालनसे ही सृष्टिचक्र चलता है, परंतु जो सृष्टिमें

मिलकर अकेले अभिमन्युको घेरकर उसे मार डाला । इस वास्ते धर्मकी दुहाई देनेसे कोई लाभ नहीं है । हाँ, यह सौभाग्यकी बात है कि इस समय तुम्हें धर्मकी बात याद आ रही है, पर जो स्वयं धर्मका पालन नहीं करता, उसे धर्मकी दुहाई देनेका कोई अधिकार नहीं है ।' ऐसा कहकर भगवान्ने अर्जुनको बाण मारनेकी आज्ञा दी तो अर्जुनने बाण मारना आरम्भ कर दिया ।

इस प्रकार यदि अर्जुन अपनी बुद्धिसे धर्मका निर्णय करते तो भूल कर बैठते; अतः उन्होंने धर्मका निर्णय भगवान्पर ही रखा और भगवान्ने धर्मका निर्णय किया भी ।

अर्जुनके मनमें सन्देह था कि हम लोगोंके लिये युद्ध करना श्रेष्ठ है अथवा युद्ध न करना श्रेष्ठ है (२ । ६) । यदि हम युद्ध करते हैं तो अपने कुटुम्बका नाश होता है और अपने कुटुम्बका नाश करना बड़ा भारी पाप है—**'स एव पापिष्ठतमो यः कुर्यात् कुलनाशनम्'**। इससे तो अनर्थ-परम्परा ही बढ़ेगी (२ । ४०—४४) । दूसरी तरफ हमलोग देखते हैं तो क्षत्रियके लिये युद्धसे बढ़कर श्रेयका कोई साधन नहीं है । तो भगवान् कहते हैं कि क्या करना है और क्या नहीं करना है, क्या धर्म है और क्या अधर्म है, इस पचड़ेमें तू क्यों पड़ता है ? तू धर्मके निर्णयका भार मेरेपर छोड़ दे । यही 'सर्वधर्मान्परित्यज्य' का तात्पर्य है ।

'आग लगानेवाला, विष देनेवाला, हाथमें शस्त्र लेकर मारनेको उद्यत, धनका हरण करनेवाला, जमीन छीननेवाला और स्त्रीका हरण करनेवाला—ये छहों ही आततायी हैं ।

'मामेकं शरणं व्रज'—इन पदोंमें 'एकम्' पद 'माम्' का विशेषण नहीं हो सकता; क्योंकि 'माम्' (भगवान्) एक ही हैं, अनेक नहीं। इस वास्ते 'एकम्' पदका अर्थ 'अनन्य' लेना ही ठीक बैठता है। दूसरी बात, अर्जुनने 'तदेकं वद निश्चित्य' (३।२) और 'यच्छ्रेय एतयोरेकम्' (५ । १) पदोंमें भी 'एकम्' पदसे सांख्य और कर्मयोगके विषयमें एक निश्चित श्रेयका साधन पूछा है। उसी 'एकम्' पदको लेकर भगवान् यहाँ यह बताना चाहते हैं कि सांख्ययोग, कर्मयोग आदि जितने भी भगवत्प्राप्तिके साधन हैं, उन सम्पूर्ण साधनोंमें मुख्य साधन एक अनन्य शरणागति ही है।

गीतामें अर्जुनने अपने कल्याणके साधनके विषयमें कई तरहके प्रश्न किये और भगवान्ने उनके उत्तर भी दिये। वे सब साधन होते हुए भी गीताके पूर्वापरको देखनेसे यह बात स्पष्ट दीखती है कि सम्पूर्ण साधनोंका सार और शिरोमणि साधन भगवान्के अनन्यशरण होना ही है।

भगवान्ने गीतामें जगह-जगह अनन्यभक्तिकी बहुत महिमा गायी है। जैसे, दुस्तर मायाको सुगमतासे तरनेका उपाय अनन्य शरणागति ही है* (७ । १४); अनन्यचेताके लिये मैं सुलभ हूँ† (८ । १४); परम पुरुषकी प्राप्ति अनन्य भक्तिसे ही होती है (८ । २२); अनन्य भक्तोंका योगक्षेम मैं वहन करता हूँ (९ । २२); अनन्य भक्तिसे ही भगवान्को जाना, देखा तथा प्राप्त किया जा

* इस श्लोकमें 'एव' पद अनन्यताका ही वाचक है।
† इस श्लोकमें 'अनन्यचेताः' पद अनन्य आश्रयका वाचक है।

सकता है (११ । ५४); अनन्य भक्तोंका मैं बहुत जल्दी उद्धार करता हूँ (१२ । ६-७); गुणातीत होनेका उपाय अनन्यभक्ति ही है (१४ । २६)। इस प्रकार अनन्य भक्तिकी महिमा गाकर भगवान् यहाँ पूरी गीताका सार बताते हैं—**'मामेकं शरणं व्रज'**। तात्पर्य यह कि उपाय और उपेय, साधन और साध्य मैं ही हूँ।

'मामेकं शरणं व्रज'का तात्पर्य मन-बुद्धिके द्वारा शरणागतिको स्वीकार करना नहीं है, प्रत्युत स्वयंको भगवान्‌की शरणमें जाना है। कारण कि स्वयंके शरण होनेपर मन, बुद्धि, इन्द्रियाँ, शरीर आदि भी उसीमें आ जाते हैं, अलग नहीं रहते।

'अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः'—यहाँ कोई ऐसा मान सकता है कि पहले अध्यायमें अर्जुनने जो युद्धसे पाप होनेकी बातें कही थीं, उन पापोंसे छुटकारा दिलानेका प्रलोभन भगवान्‌ने दिया है। परंतु यह मान्यता युक्तिसंगत नहीं है; क्योंकि जब अर्जुन सर्वथा भगवान्‌के शरण हो गया है, तब उसके पाप कैसे रह सकते हैं* और उसके लिये प्रलोभन कैसे दिया जा सकता है अर्थात् उसके लिये प्रलोभन देना बनता ही नहीं। हाँ, पापोंसे मुक्त करनेका प्रलोभन देना हो तो वह शरणागत होनेके पहले ही दिया जा सकता है, शरणागत होनेके बाद नहीं।

* सनमुख होइ जीव मोहि जबहीं।
जन्म कोटि अघ नासहिं तबहीं॥
(मानस ५।४३।१)

'मै तुझे सम्पूर्ण पापोंसे मुक्त कर दूँगा'—इसका भाव यह है कि जब तू सम्पूर्ण धर्मोंका आश्रय छोड़कर मेरी शरणमें आ गया और शरण होनेके बाद भी तुम्हारे भावों, वृत्तियों, आचरणों आदि-में फर्क नहीं पड़ा अर्थात् उनमें सुधार नहीं हुआ; भगवत्प्रेम, भगवद्दर्शन आदि नहीं हुए और अपनेमें अयोग्यता, अनधिकारता, निर्बलता आदि माल्रम होती है, तो भी उनको लेकर तुम चिन्ता या भय मत करो। कारण कि जब तुम मेरी अनन्य-शरण हो गये तो वह कमी तुम्हारी कमी कैसे रही ? उसका सुधार करना तुम्हारा काम कैसे रहा ? वह कमी मेरी कमी है। अब उस कमीको दूर करना, उसका सुधार करना मेरा काम रहा। तुम्हारा तो बस, एक ही काम है; वह काम है—निश्चिन्त, निःशोक, निर्भय और निःशङ्क होकर मेरे चरणोंमें पड़े रहना !* परंतु अगर तेरेमें चिन्ता, भय, वहम आदि दोष आ जायँगे तो वे शरणागतिमें बाधक हो जायँगे और सब भार तेरेपर आ जायगा। शरण होकर अपनेपर भार लेना शरणागतिमें कलङ्क है।

जैसे विभीषण भगवान् रामके चरणोंकी शरण हो जाता है तो फिर विभीषणके दोषको भगवान् अपना ही दोष मानते हैं। एक समय विभीषणजी समुद्रके इस पार आये। वहाँ विप्रघोष नामक गाँवमें उनसे एक अज्ञात ब्रह्महत्या हो गयी। इसपर वहाँके ब्राह्मणोंने इकट्ठे होकर विभीषणको खूब मारा-पीटा, पर वे मरे नहीं। फिर

* काहू के बल भजन को, काहू के आचार।
'व्यास' भरोसे कुँवरि के, सोवत पाँव पसार॥

ब्राह्मणोंने उन्हें जंजीरोंसे बाँधकर जमीनके भीतर एक गुफामें ले जाकर बन्द कर दिया। रामजीको विभीषणके कैद होनेका पता लगा तो वे पुष्पकविमानके द्वारा तत्काल विप्रघोष नामक गाँवमें पहुँच गये और वहाँ विभीषणका पता लगाकर उनके पास गये। ब्राह्मणोंने रामजीका बहुत आदर-सत्कार किया और कहा कि 'महाराज! इसने ब्रह्महत्या कर दी है। इसको हमने बहुत मारा, पर यह मरा नहीं।' भगवान् रामने कहा कि 'हे ब्राह्मणो! विभीषणको मैंने कल्पतककी आयु और राज्य दे रखा है, वह कैसे मारा जा सकता है! और उसको मारनेकी जरूरत ही क्या है? वह तो मेरा भक्त है। भक्तके लिये मैं स्वयं मरनेको तैयार हूँ। दासके अपराधकी जिम्मेवारी वास्तवमें उसके मालिकपर ही होती है अर्थात् मालिक ही उसके दण्डका पात्र होता है। इस वास्ते विभीषणके बदलेमें आपलोग मेरेको ही दण्ड दें*।' भगवान्की यह शरणागतवत्सलता देखकर सब ब्राह्मण आश्चर्य करने लगे और उन सबने भगवान्की शरण ले ली।

तात्पर्य यह हुआ कि 'मैं भगवान्का हूँ और भगवान् मेरे हैं'—इस अपनेपनके समान योग्यता, पात्रता, अधिकारता आदि कुछ भी नहीं है। यह सम्पूर्ण साधनोंका सार है। छोटा-सा बच्चा

* वरं ममैव मरणं मद्भक्तो हन्यते कथम्।
राज्यमायुर्मया दत्तं तथैव स भविष्यति॥
भृत्यापराधे सर्वत्र स्वामिनो दण्ड इष्यते।
रामवाक्यं द्विजाः श्रुत्वा विस्मयादिदमब्रुवन्॥
(पद्मपुराण, पाताल० १०४। १५०-१५१)

भी अपनेपनके बलपर ही आधी रातमें सारे घरको नचाता है अर्थात् जब वह रातमें रोता है तो सारे घरवाले उठ जाते हैं और उसे राजी करते हैं। इस वास्ते शरणागत भक्तको अपनी योग्यता आदिकी तरफ न देखकर भगवान्‌के साथ अपने अपनेपनकी तरफ ही देखते रहना चाहिये।

'मा शुचः' का तात्पर्य है—

(१) मेरे शरण होकर तू चिन्ता करता है, यह मेरे प्रति अपराध है, तेरा अभिमान है और शरणागतिमें कलंक है।

मेरे शरण होकर भी मेरा पूरा विश्वास, भरोसा न रखना ही मेरे प्रति अपराध है। अपने दोषोंको लेकर चिन्ता करना वास्तवमें अपने बलका अभिमान है; क्योंकि दोषोंको मिटानेमें अपनी सामर्थ्य मालूम देनेसे ही उनको मिटानेकी चिन्ता होती है। हाँ, अगर दोषोंको मिटानेमें चिन्ता न होकर दुःख होता है तो दुःख होना इतना दोषी नहीं है। जैसे, छोटे बालकके पास कुत्ता आता है तो वह कुत्तेको देखकर रोता है, चिन्ता नहीं करता। ऐसे ही दोषोंका न सुहाना दोष नहीं है, प्रत्युत चिन्ता करना दोष है। चिन्ता करनेका अर्थ यही होता है कि भीतरमें अपने छिपे हुए बलका आश्रय है* और यही तेरा अभिमान है। मेरा भक्त होकर भी

* कौरवोंकी सभामें द्रौपदीका चीर खींचा गया तो द्रौपदी अपनी साड़ीको हाथोंसे, दाँतोंसे पकड़ती है और भगवान्‌को पुकारती है। अपने बलका आश्रय रखते हुए भगवान्‌को पुकारनेसे भगवान्‌के आनेमें देरी लगती है। परंतु जब द्रौपदी अपना उद्योग सर्वथा छोड़कर भगवान्‌पर ही निर्भर हो जाती है तो दुःशासन चीरको खींच-खींचकर थक जाता है और चीरोंका ढेर लग जाता है, पर द्रौपदीका कोई भी अङ्ग उघड़ता नहीं।

तू चिन्ता करता है तो तेरी चिन्ता दूर कहाँ होगी ? लोग भी देखेंगे तो यही कहेंगे कि यह भगवान्‌का भक्त है और चिन्ता करता है ! भगवान् इसकी चिन्ता नहीं मिटाते ! तू मेरा विश्वास न करके चिन्ता करता है तो विश्वासकी कमी तो है तेरी और कलंक आता है मेरेपर, मेरी शरणागतिपर । इनको तू छोड़ दे ।

(२) तेरे भाव, वृत्तियाँ, आचरण शुद्ध नहीं हुए हैं तो भी तू इनकी चिन्ता मत कर । इनकी चिन्ता मैं करूँगा ।

(३) दूसरे अध्यायके सातवें श्लोकमें अर्जुन भगवान्‌के शरण हो जाते हैं और फिर आठवें श्लोकमें कहते हैं कि इस भूमण्डलका धन-धान्यसे सम्पन्न निष्कण्टक राज्य मिलनेपर अथवा देवताओंका आधिपत्य मिलनेपर भी इन्द्रियोंको सुखानेवाला मेरा शोक दूर नहीं हो सकता । भगवान् मानो कह रहे हैं कि तेरा कहना ठीक ही है; क्योंकि भौतिक नाशवान् पदार्थोंके सम्बन्धसे किसीका शोक कभी दूर हुआ नहीं, हो सकता नहीं और होनेकी सम्भावना भी नहीं । परंतु मेरी शरण लेकर जो तू शोक करता है, यह तेरी बड़ी भारी गलती है । तू मेरे शरण होकर भी भार अपने सिरपर ले रहा है ।

(४) शरणागत होनेके बाद भक्तको लोक-परलोक, सद्‌गति-दुर्गति आदि किसी भी बातकी चिन्ता नहीं करनी चाहिये । इस विषयमें किसी भक्तने कहा है—

दिवि वा भुवि वा ममास्तु वासो नरके वा नरकान्तक प्रकामम् ।
अवधीरितशारदारविन्दौ चरणौ ते मरणेऽपि चिन्तयामि ॥

'हे नरकासुरका अन्त करनेवाले प्रभो ! आप मेरेको चाहे स्वर्गमें रखें, चाहे भूमण्डलपर रखें और चाहे यथेच्छ नरकमें रखें अर्थात् आप जहाँ रखना चाहें, वहीं रखें । जो कुछ करना चाहें, वह करें । इस विषयमें मेरा कुछ भी कहना नहीं है । मेरी तो एक यही माँग है कि शरद्‌ऋतुके कमलकी शोभाको तिरस्कृत करनेवाले आपके अति सुन्दर चरणोंका मृत्यु-जैसी भयंकर अवस्थामें भी चिन्तन करता रहूँ; आपके चरणोंको भूलूँ नहीं ।'

विशेष बात

शरणागत भक्त 'मैं भगवान्‌का हूँ और भगवान् मेरे हैं' इस भावको दृढ़तासे पकड़ लेता है, स्वीकार कर लेता है तो उसकी चिन्ता, भय, शोक, शंका आदि दोषोंकी जड़ कट जाती है अर्थात् दोषोंका आधार कट जाता है । कारण कि भक्तिकी दृष्टिसे सभी दोष भगवान्‌की विमुखतापर ही टिके रहते हैं ।

भगवान्‌के सम्मुख होनेपर भी संसार और शरीरके आश्रयके संस्कार रहते हैं, जो भगवान्‌के सम्बन्धकी दृढ़ता होनेपर मिट जाते हैं* । उनके मिटनेपर सब दोष भी मिट जाते हैं ।

सम्बन्धका दृढ़ होना क्या है ? चिन्ता, भय, शोक, शङ्का, परीक्षा और विपरीत भावनाका न होना ही सम्बन्धका दृढ़ होना है । अब इनपर विचार करें ।

* भगवान्‌के सम्बन्धकी दृढ़ता होनेपर जब संसार-शरीरका आश्रय सर्वथा नहीं रहता, तब जीनेकी आशा, मरनेका भय, करनेका राग और पानेकी लालच —ये चारों ही नहीं रहते ।

(१) निश्चिन्त होना—जब भक्त अपनी मानी हुई वस्तुओं-सहित अपने-आपको भगवान्‌के समर्पित कर देता है, तब उसको लौकिक-पारलौकिक किंचिन्मात्र भी चिन्ता नहीं होती अर्थात् अभी जीवन-निर्वाह कैसे होगा ? कहाँ रहना होगा ? मेरी क्या दशा होगी ? क्या गति होगी ? आदि चिन्ताएँ बिल्कुल नहीं रहतीं * ।

भगवान्‌के शरण होनेपर शरणागत भक्तमें यह एक बात आती है कि 'अगर मेरा जीवन प्रभुके लायक सुन्दर और शुद्ध नहीं बना तो भक्तोंकी बात मेरे आचरणमें कहाँ आयी ? अर्थात् नहीं आयी; क्योंकि मेरी वृत्तियाँ ठीक नहीं रहतीं' । वास्तवमें 'मेरी वृत्तियाँ हैं' ऐसा मानना ही दोष है, वृत्तियाँ उतनी दोषी नहीं हैं । मन, बुद्धि, इन्द्रियाँ, शरीर आदिमें जो मेरापन है—यही गलती है; क्योंकि जब मैं भगवान्‌के शरण हो गया और जब सब कुछ उनके समर्पित कर दिया तो मन, बुद्धि, आदि मेरे कहाँ रहे ? इस वास्ते शरणागतको मन, बुद्धि आदिकी अशुद्धिकी चिन्ता कभी नहीं करनी चाहिये अर्थात् मेरी वृत्तियाँ ठीक नहीं हैं—ऐसा भाव कभी नहीं लाना चाहिये । किसी कारणवश अचानक ऐसी वृत्तियाँ आ भी जायँ तो आर्तभावसे 'हे मेरे नाथ ! हे मेरे प्रभो ! बचाओ ! बचाओ !! बचाओ !!!' ऐसे प्रभुको पुकारना चाहिये; क्योंकि वे मेरे अपने स्वामी हैं, मेरे सर्व-समर्थ प्रभु हैं तो अब मैं चिन्ता क्यों करूँ ? और भगवान्‌ने भी

* चिन्ता दीनदयालको, मो मन सदा अनन्द ।
जायो सो प्रतिपालसी, रामदास गोविन्द ॥

कह दिया है कि 'तू चिन्ता मत कर' (मा शुचः) । इस वास्ते मैं निश्चिन्त हूँ---ऐसा कहकर मनसे भगवान्‌के चरणोंमें गिर जाओ, और निश्चिन्त होकर भगवान्‌से कह दो---'हे नाथ ! यह सब आपके हाथकी बात है, आप जानो ।'

सर्वसमर्थ प्रभुके शरण भी हो गये और चिन्ता भी करें---ये दोनों बातें बड़ी विरोधी हैं; क्योंकि शरण हो गये तो चिन्ता कैसी ! और चिन्ता होती है तो शरणागति कैसी ! इस वास्ते शरणागतको ऐसा सोचना चाहिये कि जब भगवान् यह कहते हैं कि मैं सम्पूर्ण पापोंसे छुड़ा दूँगा तो क्या ऐसी वृत्तियोंसे छूटनेके लिये मेरेको कुछ करना पड़ेगा ? 'मैं तो बस, आपका हूँ । हे भगवन् ! मेरेमें वृत्तियोंको अपना माननेका भाव कभी आये ही नहीं । हे नाथ ! शरीर, इन्द्रियाँ, प्राण, मन, बुद्धि---ये कभी मेरे दीखें ही नहीं । परंतु हे नाथ ! सब कुछ आपको देनेपर भी ये शरीर आदि कभी-कभी मेरे दीख जाते हैं; अब इस अपराधसे मेरेको आप ही छुड़ाइये'---ऐसा कहकर निश्चिन्त हो जाओ ।

(२) निर्भय होना---आचरणोंकी कमी होनेसे भीतरसे भय पैदा होता है और साँप, बिच्छू, बाघ आदिसे बाहरसे भय पैदा होता है । शरणागत भक्तके ये दोनों ही प्रकारके भय मिट जाते हैं । इतना ही नहीं, पतञ्जलि महाराजने जिस मृत्युके भयको पाँचवाँ क्लेश माना है*

---

* अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः क्लेशाः । (योगदर्शन २ । ३)

(१) निश्चिन्त होना—जब भक्त अपनी मानी हुई वस्तुओं-सहित अपने-आपको भगवान्‌के समर्पित कर देता है, तब उसको लौकिक-पारलौकिक किंचिन्मात्र भी चिन्ता नहीं होती अर्थात् अभी जीवन-निर्वाह कैसे होगा ? कहाँ रहना होगा ? मेरी क्या दशा होगी ? क्या गति होगी ? आदि चिन्ताएँ बिल्कुल नहीं रहतीं * ।

भगवान्‌के शरण होनेपर शरणागत भक्तमें यह एक बात आती है कि 'अगर मेरा जीवन प्रभुके लायक सुन्दर और शुद्ध नहीं बना तो भक्तोंकी बात मेरे आचरणमें कहाँ आयी ? अर्थात् नहीं आयी; क्योंकि मेरी वृत्तियाँ ठीक नहीं रहतीं' । वास्तवमें 'मेरी वृत्तियाँ हैं' ऐसा मानना ही दोष है, वृत्तियाँ उतनी दोषी नहीं हैं । मन, बुद्धि, इन्द्रियाँ, शरीर आदिमें जो मेरापन है—यही गलती है; क्योंकि जब मैं भगवान्‌के शरण हो गया और जब सब कुछ उनके समर्पित कर दिया तो मन, बुद्धि, आदि मेरे कहाँ रहे ? इस वास्ते शरणागतको मन, बुद्धि आदिकी अशुद्धिकी चिन्ता कभी नहीं करनी चाहिये अर्थात् मेरी वृत्तियाँ ठीक नहीं हैं—ऐसा भाव कभी नहीं लाना चाहिये । किसी कारणवश अचानक ऐसी वृत्तियाँ आ भी जायँ तो आर्तभावसे 'हे मेरे नाथ ! हे मेरे प्रभो ! बचाओ ! बचाओ !! बचाओ !!!' ऐसे प्रभुको पुकारना चाहिये; क्योंकि वे मेरे अपने स्वामी हैं, मेरे सर्व-समर्थ प्रभु हैं तो अब मैं चिन्ता क्यों करूँ ? और भगवान्‌ने भी

---

* चिन्ता दीनदयालको, मो मन सदा अनन्द ।
जायो सो प्रतिपालसी, रामदास गोविन्द ॥

कह दिया है कि 'तू चिन्ता मत कर' (मा शुचः)। इस वास्ते मैं निश्चिन्त हूँ—ऐसा कहकर मनसे भगवान्‌के चरणोंमें गिर जाओ, और निश्चिन्त होकर भगवान्‌से कह दो—'हे नाथ ! यह सब आपके हाथकी बात है, आप जानो।'

सर्वसमर्थ प्रभुके शरण भी हो गये और चिन्ता भी करें—ये दोनों बातें बड़ी विरोधी हैं; क्योंकि शरण हो गये तो चिन्ता कैसी ! और चिन्ता होती है तो शरणागति कैसी ! इस वास्ते शरणागतको ऐसा सोचना चाहिये कि जब भगवान् यह कहते हैं कि मैं सम्पूर्ण पापोंसे छुड़ा दूँगा तो क्या ऐसी वृत्तियोंसे छूटनेके लिये मेरेको कुछ करना पड़ेगा ? 'मैं तो बस, आपका हूँ। हे भगवन् ! मेरेमें वृत्तियोंको अपना माननेका भाव कभी आये ही नहीं। हे नाथ ! शरीर, इन्द्रियाँ, प्राण, मन, बुद्धि—ये कभी मेरे दीखें ही नहीं। परंतु हे नाथ ! सब कुछ आपको देनेपर भी ये शरीर आदि कभी-कभी मेरे दीख जाते हैं; अब इस अपराधसे मेरेको आप ही छुड़ाइये'—ऐसा कहकर निश्चिन्त हो जाओ।

(२) निर्भय होना—आचरणोंकी कमी होनेसे भीतरसे भय पैदा होता है और साँप, बिच्छू, बाघ आदिसे बाहरसे भय पैदा होता है। शरणागत भक्तके ये दोनों ही प्रकारके भय मिट जाते हैं। इतना ही नहीं, पतञ्जलि महाराजने जिस मृत्युके भयको पाँचवाँ क्लेश माना है*

* अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः क्लेशाः। (योगदर्शन २। ३)

और जो बड़े-बड़े विद्वानोंको भी होता है *, वह भय भी सर्वथा मिट जाता है †।

अब मेरी वृत्तियाँ खराब हो जायँगी !—ऐसा भयका भाव भी साधकको भीतरसे ही निकाल देना चाहिये; क्योंकि 'मैं भगवान्की कृपामें तरान्तर हो गया हूँ, अब मेरेको किसी बातका भय नहीं है। इन वृत्तियोंको मेरी माननेसे ही मैं इनको शुद्ध नहीं कर सका; क्योंकि इनको मेरी मानना ही मलिनता है—'ममता मल जरि जाइ' (मानस ७। ११७ क)। इस वास्ते अब मैं कभी भी इनको मेरी नहीं मानूँगा। जब वृत्तियाँ मेरी हैं ही नहीं तो मेरेको भय किस बातका ? अब तो केवल भगवान्की कृपा-ही-कृपा है ! भगवान्की कृपा ही सर्वत्र परिपूर्ण हो रही है। यह बड़ी खुशीकी, बड़ी प्रसन्नताकी बात है !'

लोग ऐसी शङ्का करते हैं कि भगवान्के शरण होकर उनका भजन करनेसे तो द्वैत हो जायगा अर्थात् भगवान् और भक्त—ये

* स्वरसवाही विदुषोऽपि तथारूढोऽभिनिवेशः। (योगदर्शन २। ९)

† तथा न ते माधव तावकाः क्वचिद् भ्रश्यन्ति मार्गात्त्वयि बद्धसौहृदाः।
त्वयाभिगुप्ता विचरन्ति निर्भया विनायकानीकपमूर्धसु प्रभो ॥
(श्रीमद्भा० १० । २ । ३३)

'भगवन् ! जो आपके भक्त हैं, जिन्होंने आपके चरणोंमें अपनी सच्ची प्रीति जोड़ रखी है, वे कभी ज्ञानाभिमानियोंकी तरह अपने साधनसे गिरते नहीं। प्रभो ! वे बड़े-बड़े विघ्न डालनेवाली सेनाके सरदारोंके सिरपर पैर रखकर निर्भय होकर विचरते हैं, कोई भी विघ्न उनके मार्गमें रुकावट नहीं डाल सकते।'

दो हो जायँगे और दूसरेसे भय होता है—'द्वितीयाद्वै भयं भवति'! पर यह शङ्का निराधार है। भय द्वितीयसे तो होता है, पर आत्मीयसे भय नहीं होता अर्थात् भय दूसरेसे होता है, अपनेसे नहीं। प्रकृति और प्रकृतिका कार्य शरीर-संसार द्वितीय है, इस वास्ते इनसे सम्बन्ध रखनेपर ही भय होता है; क्योंकि इनके साथ सदा सम्बन्ध रह ही नहीं सकता। कारण यह है कि प्रकृति और पुरुषका स्वभाव सर्वथा भिन्न-भिन्न है; जैसे एक जड़ है और एक चेतन; एक विकारी है और एक निर्विकार; एक परिवर्तनशील है और एक अपरिवर्तनशील; एक प्रकाश्य है और एक प्रकाशक इत्यादि।

भगवान् द्वितीय नहीं हैं। वे तो आत्मीय हैं; क्योंकि जीव उनका सनातन अंश है, उनका स्वरूप है। इस वास्ते भगवान्‌के शरण होनेपर उनसे भय कैसे हो सकता है! प्रत्युत उनके शरण होनेपर मनुष्य सदाके लिये अभय हो जाता है। स्थूल दृष्टिसे देखा जाय तो बच्चेको माँसे दूर रहनेपर तो भय होता है, पर माँकी गोदीमें चले जानेपर उसका भय मिट जाता है; क्योंकि माँ उसकी अपनी है। भगवान्‌का भक्त इससे भी विलक्षण होता है। कारण कि बच्चे और माँमें तो भेदभाव दीखता है, पर भक्त और भगवान्‌में भेदभाव सम्भव ही नहीं है।

(३) निःशोक होना—जो बात बीत चुकी है, उसको लेकर शोक होता है। बीती हुई बातको लेकर शोक करना बड़ी भारी भूल है; क्योंकि जो हुआ है, वह अवश्यम्भावी था और जो

नहीं होनेवाला है, वह कभी हो ही नहीं सकता तथा अभी जो हो रहा है, वह ठीक-ठीक (वास्तविक) होनेवाला ही हो रहा है, फिर उसमें शोक करनेकी कोई बात ही नहीं है * । प्रभुके इस मङ्गलमय विधानको जानकर शरणागत भक्त सदा निःशोक रहता है; शोक उसके पास कभी आता ही नहीं ।

(४) निःशङ्क होना—भगवान्‌के सम्बन्धमें कभी यह सन्देह न करें कि मैं भगवान्‌का हुआ या नहीं ? भगवान्‌ने मुझे स्वीकार किया या नहीं ? प्रत्युत इस बातको देखें कि 'मैं तो अनादिकालसे भगवान्‌का ही था, भगवान्‌का ही हूँ और आगे भी सदा भगवान्‌का ही रहूँगा । मैंने ही अपनी मूर्खतासे अपनेको भगवान्‌से अलग—विमुख मान लिया था । परंतु मैं अपनेको भगवान्‌से कितना ही अलग मान लूँ तो भी उनसे अलग हो सकता ही नहीं और होना सम्भव भी नहीं । अगर मैं भगवान्‌से अलग होना भी चाहूँ तो भी अलग कैसे हो सकता हूँ ? क्योंकि भगवान्‌ने कहा है कि यह जीव मेरा ही अंश है—**'मम एव अंशः'** (गीता १५ । ७)' । इस प्रकार 'मैं भगवान्‌का हूँ और भगवान् मेरे हैं'—इस वास्तविकताकी स्मृति आते ही शङ्काएँ-सन्देह मिट जाते हैं; शङ्काओं-सन्देहोंके लिये किञ्चिन्मात्र भी गुंजाइश नहीं रहती ।

---

* राम कीन्ह चाहहिं सोइ होई । करै अन्यथा अस नहिं कोई ॥
(मानस १ । १२७ । १)
होइहि सोइ जो राम रचि राखा । को करि तर्क बढ़ावै साखा ॥
(मानस १ । ५१ । ४)

(५) परीक्षा न करना—भगवान्‌के शरण होकर ऐसी परीक्षा न करें कि 'जब मैं भगवान्‌के शरण हो गया हूँ तो मेरेमें ऐसे-ऐसे लक्षण घटने चाहिये। यदि ऐसे-ऐसे लक्षण मेरेमें नहीं हैं तो मैं भगवान्‌के शरण कहाँ हुआ !' प्रत्युत 'अद्वेष्टा' आदि (गीता १२। १३-१९) गुणोंकी अपनेमें कमी दीखे तो आश्चर्य करे कि मेरेमें यह कमी कैसे रह गयी !* ऐसा भाव आते ही यह कमी नहीं रहेगी,

---

* इसे समझनेके लिये एक ग्रामीण कहानी है। एक माँके तीन लड़के थे। दो लड़के बड़े थे और काम-धंधा करते थे। तीसरा लड़का सीधा-सादा और भोला था। उनकी माँ मर गयी। तो दोनों बड़े भाइयोंने छोटे भाईसे कहा कि माँके फूल गङ्गाजीमें डाल दे, इतना काम तू कर दे। उसने कहा—बहुत ठीक है। वह माँके फूल लेकर अपने घरसे चला। घरसे गङ्गाजी ३०० कोस दूर थीं। पैदल रास्ता चलते-चलते वह थक गया तो किसीसे पूछा—भैया ! गङ्गाजी कितनी दूर हैं ! वह बोला—तुम तो १५० कोस आये हो, अभी १५० कोस गङ्गाजी और अगाड़ी हैं। उसने सोचा कि गङ्गाजी कब पहुँचूँगा और फिर लौटकर कब आऊँगा ! ऐसे दुःखी हो करके उसने वे हड्डियाँ जंगलमें ही फेंक दीं और गाँवके पाससे थोड़ा मीठा जल बर्तनमें भर लिया; क्योंकि गङ्गाजी जाते हैं तो लौटते वक्त गङ्गाजल लाते हैं। फिर वह वहाँसे पीछे चला आया और अपने गाँव पहुँच गया। बड़े भाई सोचने लगे कि अगर यह गङ्गाजी जाकर आता तो इतने दिनोंमें नहीं आ सकता था, यह गङ्गाजी गया ही नहीं। बड़े भाइयोंने उससे पूछा—तू गङ्गाजी जाकर आया है क्या ? उसने कहा—हाँ, गङ्गाजी जाकर आया हूँ; ठेठ गङ्गाजीके ब्रह्मकुण्डमें फूल डालकर वहाँसे गङ्गाजीका यह जल लाया हूँ। ऐसे वह झूठ बोल गया। भाइयोंने समझ लिया कि यह ठीक नहीं बोल रहा है, इस वास्ते वे चुप हो गये।

नहीं होनेवाला है, वह कभी हो ही नहीं सकता तथा अभी जो हो रहा है, वह ठीक-ठीक (वास्तविक) होनेवाला ही हो रहा है, फिर उसमें शोक करनेकी कोई बात ही नहीं है *। प्रभुके इस मङ्गलमय विधानको जानकर शरणागत भक्त सदा निःशोक रहता है; शोक उसके पास कभी आता ही नहीं।

(४) निःशङ्क होना—भगवान्‌के सम्बन्धमें कभी यह सन्देह न करें कि मैं भगवान्‌का हुआ या नहीं ? भगवान्‌ने मुझे स्वीकार किया या नहीं ? प्रत्युत इस बातको देखें कि 'मैं तो अनादिकालसे भगवान्‌का ही था, भगवान्‌का ही हूँ और आगे भी सदा भगवान्‌का ही रहूँगा। मैंने ही अपनी मूर्खतासे अपनेको भगवान्‌से अलग—विमुख मान लिया था। परंतु मैं अपनेको भगवान्‌से कितना ही अलग मान लूँ तो भी उनसे अलग हो सकता ही नहीं और होना सम्भव भी नहीं। अगर मैं भगवान्‌से अलग होना भी चाहूँ तो भी अलग कैसे हो सकता हूँ ? क्योंकि भगवान्‌ने कहा है कि यह जीव मेरा ही अंश है—**'मम एव अंशः'** (गीता १५। ७)'। इस प्रकार 'मैं भगवान्‌का हूँ और भगवान् मेरे हैं'—इस वास्तविकताकी स्मृति आते ही शङ्काएँ-सन्देह मिट जाते हैं। शङ्काओं-सन्देहोंके लिये किञ्चिन्मात्र भी गुंजाइश नहीं रहती।

---

* राम कीन्ह चाहहिं सोइ होई। करै अन्यथा अस नहिं कोई॥
(मानस १। १२७। १)

होइहि सोइ जो राम रचि राखा। को करि तर्क बढ़ावै साखा॥
(मानस १। ५१।

(५) परीक्षा न करना—भगवान्‌के शरण होकर ऐसी परीक्षा न करें कि 'जब मैं भगवान्‌के शरण हो गया हूँ तो मेरेमें ऐसे-ऐसे लक्षण घटने चाहिये। यदि ऐसे-ऐसे लक्षण मेरेमें नहीं हैं तो मैं भगवान्‌के शरण कहाँ हुआ?' प्रत्युत 'अद्वेष्टा' आदि (गीता १२ । १३-१९) गुणोंकी अपनेमें कमी दीखे तो आश्चर्य करे कि मेरेमें यह कमी कैसे रह गयी!* ऐसा भाव आते ही यह कमी नहीं रहेगी,

* इसे समझनेके लिये एक ग्रामीण कहानी है। एक माँके तीन लड़के थे। दो लड़के बड़े थे और काम-धंधा करते थे। तीसरा लड़का सीधा-सादा और भोला था। उनकी माँ मर गयी। तो दोनों बड़े भाइयोंने छोटे भाईसे कहा कि माँके फूल गङ्गाजीमें डाल दे, इतना काम तू कर दे। उसने कहा—बहुत ठीक है। वह माँके फूल लेकर अपने घरसे चला। घरसे गङ्गाजी ३०० कोस दूर थीं। पैदल रास्ता चलते-चलते वह थक गया तो किसीसे पूछा—भैया! गङ्गाजी कितनी दूर है? वह बोला—तुम तो १५० कोस आये हो, अभी १५० कोस गङ्गाजी और अगाड़ी हैं। उसने सोचा कि गङ्गाजी कब पहुँचूँगा और फिर लौटकर कब आऊँगा! ऐसे दुःखी हो करके उसने वे हड्डियाँ जंगलमें ही फेंक दीं और गाँवके पाससे वर्षाका मीठा जल बर्तनमें भर लिया; क्योंकि गङ्गाजी जाते हैं तो लौटते वक्त गङ्गाजल लाते हैं। फिर वह वहाँसे पीछे चला आया और अपने गाँव पहुँच गया। बड़े भाई सोचने लगे कि अगर यह गङ्गाजी जाकर आता तो इतने दिनोंमें नहीं आ सकता था, यह गङ्गाजी गया ही नहीं। बड़े भाइयोंने उससे पूछा—तू गङ्गाजी जाकर आया है क्या? उसने कहा—हाँ, गङ्गाजी जाकर आया हूँ; ठेठ गङ्गाजीके ब्रह्मकुण्डमें फूल डालकर वहाँसे गङ्गाजीका यह जल लाया हूँ। ऐसे वह झूठ बोल गया। भाइयोंने समझ लिया कि यह ठीक नहीं बोल रहा है, इस वास्ते वे चुप हो गये।

कमी मिट जायगी । कारण कि यह उसका प्रत्यक्ष अनुभव है कि पहले अद्वेष्टा आदि गुण जितने कम थे, उतने कम अब नहीं हैं । शरणागत होनेपर भक्तोंके जितने भी लक्षण हैं, वे बिना प्रयत्न किये ही आते हैं ।

(६) **विपरीत धारणा न करना**—भगवान्‌के शरणागत भक्त-में यह विपरीत धारणा भी कैसे हो सकती है कि 'मैं भगवान्‌का नहीं हूँ'; क्योंकि यह मेरे मानने अथवा न माननेपर निर्भर नहीं है । भगवान्‌का और मेरा परस्पर जो सम्बन्ध है, वह अटूट है,

दूसरे दिन नींदसे उठकर एक भाई छोटे भाईसे बोला—अरे भाई ! तू सच्ची बात बता दे, क्या तू ठेठ गङ्गाजी हो आया और फूल ठेठ गङ्गाजीमें डाल दिये । उसने कहा—हाँ, बिल्कुल गङ्गाजी जाकर आया हूँ । बड़े भाईने कहा—देख, रातको स्वप्नमें मेरेको माँ मिली थी और माँने मेरेसे कहा कि इसने तो मेरेको ठेठ गङ्गाजी पहुँचाया ही नहीं, बीचमें ही डालकर आ गया । तो अब तू ही बता कि माँकी बात सच्ची या तेरी बात सच्ची ? छोटा भाई बोला—माँ इधर ही क्यों आयी, उधर क्यों नहीं गयी ? अर्थात् १५० कोस तो मैंने पहुँचा ही दिया था, यहाँ आकर उधर ही चली जाती तो ठेठ गङ्गाजी पहुँच जाती !

इस कहानीका तात्पर्य यह हुआ कि भगवान्‌के शरण होनेके यह कसौटी कसते हैं, परीक्षा करते हैं कि 'भक्तोंके, सन्तोंके लक्षण नहीं आये तो मैं भगवान्‌के शरण नहीं हुआ'—यह माँ उल्टी क्यों सुल्टी ही क्यों नहीं गयी कि 'जब मैं भगवान्‌के शरण हो गया तो इन लक्षणोंकी कमी क्यों रह गयी ? मेरेमें ये लक्षण क्यों नहीं ऐसी मान्यतासे तो आप शरणागत हो जाओगे और पूर्णता भी हो परंतु यह मान्यता करोगे कि 'मेरेमें ऐसे लक्षण नहीं आये तो नहीं हुआ' तो धोखा हो जायगा !

अखण्ड है, नित्य है, मैंने इस सम्बन्धकी तरफ ख्याल नहीं किया, यह मेरी गल्ती थी। अब यह गल्ती मिट गयी तो फिर विपरीत धारणा हो ही कैसे सकती है!

जो मनुष्य सच्चे हृदयसे प्रभुकी शरणागतिको स्वीकार कर लेता है, उसमें चिन्ता, भय, शोक आदि दोष नहीं रहते। उसका शरण-भाव स्वतः ही दृढ़ होता चला जाता है, वैसे ही जैसे विवाह होनेके बाद कन्याका अपने पिताके घरसे सम्बन्ध-विच्छेद और पतिके घरसे सम्बन्ध स्वतः ही दृढ़ होता चला जाता है। यह सम्बन्ध यहाँतक दृढ़ हो जाता है कि जब वह कन्या दादी-परदादी बन जाती है, तब उसके स्वप्नमें भी यह भाव नहीं आता कि मैं यहाँकी नहीं हूँ। उसके मनमें यह भाव दृढ़ हो जाता है कि मैं तो यहाँकी ही हूँ और ये सब हमारे ही हैं। जब उसके पौत्रकी स्त्री आती है और घरमें उद्दण्डता करती है, खटपट मचाती है तो वह (दादी) कहती है कि इस परायी जायी छोकरीने मेरा घर बिगाड़ दिया, पर उस बूढ़ी दादीको यह बात याद ही नहीं आती कि मैं भी तो परायी जायी (पराये घरमें जन्मी) हूँ। तात्पर्य यह हुआ कि जब बनावटी सम्बन्धमें भी इतनी दृढ़ता हो सकती है, तब भगवान्‌के ही अंश इस प्राणीका भगवान्‌के साथ जो नित्य सम्बन्ध है, वह दृढ़ हो जाय तो क्या आश्चर्य है! वास्तवमें भगवान्‌के सम्बन्धकी दृढ़ताके लिये केवल संसारके माने हुए सम्बन्धोंका त्याग करनेकी ही आवश्यकता है।

सच्चे हृदयसे प्रभुके चरणोंकी शरण होनेपर उस शरणागत भक्तमें यदि किसी भाव, आचरण आदिकी किञ्चित् कमी रह जाय, वक्तपर विपरीत वृत्ति पैदा हो जाय अथवा किसी परिस्थितिमें पड़कर परवशतासे कभी किञ्चित् कोई दुष्कर्म हो जाय, तो उसके हृदयमें जलन पैदा हो जायगी। इस वास्ते उसके लिये अन्य कोई प्रायश्चित्त करनेकी आवश्यकता नहीं है। भगवान् कृपा करके उसके उस पापको सर्वथा नष्ट कर देते हैं*।

भगवान् भक्तके अपनेपनको ही देखते हैं, गुणों और अवगुणोंको नहीं† अर्थात् भगवान्को भक्तके दोष दीखते ही नहीं, उनको तो केवल भक्तके साथ जो अपनापन है, वही दीखता है। कारण कि स्वरूपसे भक्त सदासे ही भगवान्का है। दोष आगन्तुक होनेसे आते-जाते रहते हैं और वह नित्य-निरन्तर ज्यों-का-त्यों ही रहता है। इस वास्ते भगवान्की दृष्टि इस वास्तविकतापर ही सदा जमी रहती है। जैसे, कीचड़ आदिसे सना हुआ बच्चा जब

---

* स्वपादमूलं भजतः प्रियस्य त्यक्तान्यभावस्य हरिः परेशः।
विकर्म यच्चोत्पतितं कथञ्चिद् धुनोति सर्वं हृदि संनिविष्टः॥
(श्रीमद्भा० ११। ५। ४२)

'जो प्रेमी भक्त भगवान्के चरणोंका अनन्यभावसे भजन करता है, उसके द्वारा यदि अकस्मात् कोई पाप-कर्म बन भी जाय तो उसके हृदयमें विराजमान परमपुरुष भगवान् श्रीहरि उसे सर्वथा नष्ट कर देते हैं।'

† रहति न प्रभु चित चूक किए की।
करत सुरति सय बार हिए की॥
(मानस १। २८)

माँके सामने आता है तो माँकी दृष्टि केवल अपने बच्चेकी तरफ ही जाती है, बच्चेके मैलेकी तरफ नहीं जाती। बच्चेकी दृष्टि भी मैलेकी तरफ नहीं जाती। माँ साफ करे या न करे, पर बच्चेकी दृष्टिमें तो मैला है ही नहीं, उसकी दृष्टिमें तो केवल माँ ही है। द्रौपदीके मनमें कितना द्वेष और क्रोध भरा हुआ था कि जब दुःशासनके खूनसे अपने केश धोऊँगी, तभी केशोंको बाँधूँगी! परंतु द्रौपदी जब भी भगवान्‌को पुकारती है, भगवान् चट आ जाते हैं; क्योंकि भगवान्‌के साथ द्रौपदीका गाढ़ अपनापन था।

भगवान्‌के साथ अपनापन होनेमें दो भाव रहते हैं— (१) भगवान् मेरे हैं और (२) मैं भगवान्‌का हूँ। इन दोनोंमें ही भगवान्‌का सम्बन्ध समान रीतिसे रहते हुए भी 'भगवान् मेरे हैं' —इस भावमें भगवान्‌से अपनी अनुकूलताकी इच्छा हो सकती है कि भगवान् मेरे हैं तो मेरी इच्छाकी पूर्ति क्यों नहीं करते? और 'मैं भगवान्‌का हूँ' इस भावमें भगवान्‌से अपनी अनुकूलताकी इच्छा नहीं हो सकती; क्योंकि मैं भगवान्‌का हूँ तो भगवान् मेरे लिये जैसा ठीक समझें, वैसा ही निःसंकोच होकर करें। इस वास्ते साधकको चाहिये कि वह भगवान्‌की ही मर्जीमें सर्वथा अपनी मर्जी मिला दे; भगवान्‌पर अपना किंचित् भी आधिपत्य न माने, प्रत्युत अपनेपर उनका पूरा आधिपत्य माने। कहीं भी भगवान् हमारे मनकी करें तो उसमें संकोच हो कि मेरे लिये भगवान्‌को ऐसा करना पड़ा! यदि अपने मनकी बात पूरी होनेसे संकोच नहीं होता, प्रत्युत संतोष होता है तो वह शरणागति नहीं है। शरणागत

भक्त शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धिके प्रतिकूल परिस्थितिमें भी भगवान्की मर्जी समझकर प्रसन्न रहता है।

शरणागत भक्तको अपने लिये कभी किञ्चिन्मात्र भी कुछ करना शेष नहीं रहता; क्योंकि उसने सम्पूर्ण ममतावाली वस्तुओंसहित अपने-आपको भगवान्के समर्पित कर दिया, जो वास्तवमें प्रभुका ही था। अब करने, कराने आदिका सब काम भगवान्का ही रह गया। ऐसी अवस्थामें वह कठिन-से-कठिन और भयंकर-से-भयंकर घटना, परिस्थितिमें भी अपनेपर प्रभुकी महान् कृपा मानकर सदा प्रसन्न रहता है, मस्त रहता है। जैसे, गरुड़जीके पूछनेपर काकभुशुण्डिजीने अपने पूर्वजन्मके ब्राह्मण-शरीरकी कथा सुनायी, जिसमें लोमश ऋषिने शाप देकर उन्हें (ब्राह्मणको) पक्षियोंमें नीच चाण्डाल पक्षी (कौआ) बना दिया; परंतु काकभुशुण्डिजीके मनमें न कुछ भय हुआ और न कुछ दीनता ही आयी! उन्होंने उसमें भगवान्का शुद्ध विधान ही समझा। केवल समझा ही नहीं, प्रत्युत मन-ही-मन बोल उठे—'उर प्रेरक रघुबंस बिभूषन' (मानस ७।११२।१)। ऐसा भयंकर शाप मिलनेपर भी जब काकभुशुण्डिजीकी प्रसन्नतामें कोई कमी नहीं आयी, तब लोमश ऋषिने उनको भगवान्का प्यारा भक्त समझकर अपने पास बुलाया और बालक रामजीका ध्यान बताया। फिर भगवान्की कथा सुनायी और अत्यन्त प्रसन्न होकर काकभुशुण्डिजीके सिरपर हाथ रखकर आशीर्वाद दिया—'मेरी कृपासे तुम्हारे हृदयमें अबाध, अखण्ड रामभक्ति रहेगी। तुम रामजीको प्यारे हो जाओगे। तुम

सम्पूर्ण गुणोंकी खान बन जाओगे। जिस रूपकी इच्छा करोगे, वह रूप धारण कर लोगे। जिस स्थानपर तुम रहोगे, उसमें एक योजनपर्यन्त मायाका कण्टक किञ्चिन्मात्र भी नहीं आयेगा' आदि-आदि। इस प्रकार बहुत-से आशीर्वाद देते ही आकाशवाणी होती है कि 'हे ऋषे! तुमने जो कुछ कहा, वह सब सत्य होगा; यह मन, वाणी, कर्मसे मेरा भक्त है'। इन्हीं बातोंको लेकर भगवान्‌के विधानमें सदा प्रसन्न रहनेवाले काकभुशुण्डिजीने कहा है—

भगति पच्छ हठ करि रहेउँ दीन्हि महा रिषि साप।
मुनि दुर्लभ बर पायउँ देखहु भजन प्रताप॥
(मानस ७। ११४ ख)

यहाँ 'भजन प्रताप' शब्दोंका अर्थ है—भगवान्‌के विधानमें हर समय प्रसन्न रहना। विपरीत-से-विपरीत अवस्थामें भी प्रेमी भक्तकी प्रसन्नता अधिक-से-अधिक बढ़ती रहती है; क्योंकि प्रेमका स्वरूप ही प्रतिक्षण वर्द्धमान है।

यह नियम है कि जो चीज अपनी होती है, वह सदैव अपनेको प्यारी लगती है। भगवान् सम्पूर्ण जीवोंको अपना प्रिय मानते हैं—'सब मम प्रिय सब मम उपजाए' (मानस ७। ८५। २) और इस जीवको भी प्रभु स्वतः ही प्रिय लगते हैं। हाँ, यह बात दूसरी है कि यह जीव परिवर्तनशील संसार और शरीरको भूलसे अपना मानकर अपने प्यारे प्रभुसे विमुख हो जाता है। इसके विमुख होनेपर भी भगवान्‌ने अपनी तरफसे किसी भी जीवका त्याग नहीं किया है और न कभी त्याग कर ही सकते हैं। कि

जीव सदासे साक्षात् भगवान्‌का ही अंश है। इस वास्ते सम्पूर्ण जीवोंके साथ भगवान्‌की आत्मीयता अक्षुण्ण, अखण्डितरूपसे स्वाभाविक ही बनी हुई है। इसीसे वे मात्र जीवोंपर कृपा करनेके लिये अर्थात् भक्तोंकी रक्षा, दुष्टोंका विनाश और धर्मकी स्थापना—इन तीन बातोंके लिये वक्त-वक्तपर अवतार लेते हैं*। इन तीनों बातोंमें केवल भगवान्‌की आत्मीयता ही टपक रही है, नहीं तो भक्तोंकी रक्षा, दुष्टोंका विनाश और धर्मकी स्थापनासे भगवान्‌का क्या प्रयोजन सिद्ध होता है? अर्थात् कुछ भी प्रयोजन सिद्ध नहीं होता। भगवान् तो ये तीनों ही काम केवल प्राणिमात्रके कल्याणके लिये ही करते हैं। इससे भी प्राणिमात्रके साथ भगवान्‌की स्वाभाविक आत्मीयता, कृपालुता, प्रियता, हितैषिता, सुहृत्ता और निरपेक्ष उदारता ही सिद्ध होती है, और यहाँ भी इसी दृष्टिसे अर्जुनसे कहते हैं—**'मद्भक्तो भव, मन्मना भव, मद्याजी भव, मां नमस्कुरु'**। इन चारों बातोंमें भगवान्‌का तात्पर्य केवल जीवको अपने सम्मुख करानेमें ही है, जिससे सम्पूर्ण जीव असत् पदार्थोंसे विमुख हो जायँ; क्योंकि दुःख, संताप, बार-बार जन्मना-मरना, मात्र विपत्ति आदिमें मुख्य हेतु भगवान्‌से विमुख होना ही है।

भगवान् जो कुछ भी विधान करते हैं, वह संसारमात्रके सम्पूर्ण प्राणियोंके कल्याणके लिये ही करते हैं—बस, भगवान्‌की इस कृपाकी तरफ प्राणीकी दृष्टि हो जाय तो फिर उसके लिये क्या करना बाकी

---

* परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे॥
(गीता ४।८)

रहा ! प्राणियोंके हितके लिये भगवान्‌के हृदयमें एक तड़पन है, इसी वास्ते भगवान् 'सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज' वाली अत्यन्त गोपनीय बात कह देते हैं। कारण कि भगवान् जीवमात्रको अपना मित्र मानते हैं—'सुहृदं सर्वभूतानाम्' (५। २९) और उन्हें यह स्वतन्त्रता देते हैं कि वे कर्मयोग, ज्ञानयोग, भक्तियोग आदि जितने भी साधन हैं, उनमेंसे किसी भी साधनके द्वारा सुगमता-पूर्वक मेरी प्राप्ति कर सकते हैं और दुःख, संताप आदिको सदाके लिये समूल नष्ट कर सकते हैं।

वास्तवमें जीवका उद्धार केवल भगवत्कृपासे ही होता है। कर्मयोग, ज्ञानयोग, भक्तियोग, अष्टाङ्गयोग, लययोग, हठयोग, राजयोग, मन्त्रयोग आदि जितने भी साधन हैं, वे सब-के-सब भगवान्‌के द्वारा और भगवत्तत्त्वको जाननेवाले महापुरुषोंके द्वारा ही प्रकट किये गये हैं*। इस वास्ते इन सब साधनोंमें भगवत्कृपा ही ओतप्रोत है। साधन करनेमें तो साधक निमित्तमात्र होता है, पर साधनकी सिद्धिमें भगवत्कृपा ही मुख्य है।

शरणागत भक्तको तो ऐसी चिन्ता भी कभी नहीं करनी चाहिये कि अभी भगवान्‌के दर्शन नहीं हुए, भगवान्‌के चरणोंमें प्रेम नहीं हुआ, अभी वृत्तियाँ शुद्ध नहीं हुईं, आदि। इस प्रकारकी चिन्ताएँ करना मानो बंदरीका बच्चा बनना है। बंदरीका बच्चा स्वयं ही बंदरीको पकड़े रहता है। बंदरी कूदे-फाँदे, किधर भी जाय, बच्चा स्वयं बंदरीसे कहीं भी चिपक जाता है।

* हेतु रहित जग जुग उपकारी। तुम्ह तुम्हार सेवक असुरारी॥
(मानस ७। ४७। ३)

भक्तको तो अपनी सब चिन्ताएँ भगवान्‌पर ही छोड़ देनी चाहिये अर्थात् भगवान् दर्शन दें या न दें, प्रेम दें या न दें, वृत्तियोंको ठीक करें या न करें, हमें शुद्ध बनायें या न बनायें—यह सब भगवान्‌की मर्जीपर छोड़ देना चाहिये। उसे तो बिल्लीका बच्चा बनना चाहिये। बिल्लीका बच्चा अपनी माँपर निर्भर रहता है। बिल्ली चाहे जहाँ रखे, चाहे जहाँ ले जाय। बिल्ली अपनी मर्जीसे बच्चेको उठाकर ले जाती है तो वह पैर समेट लेता है। ऐसे ही शरणागत भक्त संसारकी तरफसे अपने हाथ-पैर समेटकर* केवल भगवान्‌का चिन्तन, नाम-जप आदि करते हुए भगवान्‌की तरफ ही देखता रहता है। भगवान्‌का जो विधान है, उसमें परम प्रसन्न रहता है, अपने मनकी कुछ भी नहीं लगाता।

जैसे, कुम्हार पहले मिट्टीको सिरपर उठाकर लाता है तो कुम्हारकी मर्जी, फिर उस मिट्टीको गीला करके उसे रौंदता है तो कुम्हारकी मर्जी, फिर चक्केपर चढ़ाकर घुमाता है तो कुम्हारकी मर्जी। मिट्टी कभी कुछ नहीं कहती कि तुम घड़ा बनाओ, सकोरा बनाओ, मटकी बनाओ। कुम्हार चाहे जो बनाये, उसकी मर्जी है। ऐसे ही शरणागत भक्त अपनी कुछ भी मर्जी, मनकी बात नहीं रखता। वह जितना अधिक निश्चिन्त और निर्भय होता है, भगवत्कृपा उसको अपने-आप उतना ही अधिक अपने अनुकूल

---

* भक्त जो कुछ काम करता है, उसको भगवान्‌का ही समझकर, भगवान्‌की ही शक्ति मानकर, भगवान्‌के ही लिये करता है, अपने लिये किंचिन्मात्र भी नहीं करता—यही उसका हाथ-पैर समेटना है।

बना लेती है और जितनी वह चिन्ता करता है, अपना बल मानता है, उतना ही वह आती हुई भगवत्कृपामें बाधा लगाता है अर्थात् शरणागत होनेपर भगवान्‌की ओरसे जो विलक्षण, विचित्र, अखण्ड, अटूट कृपा आती है, अपनी चिन्ता करनेसे उस कृपामें बाधा लग जाती है।

जैसे, धीवर (मछुआ) मछलियोंको पकड़नेके लिये नदीमें जाल डालता है तो जालके भीतर आनेवाली सब मछलियाँ पकड़ी जाती हैं; परंतु जो मछली जाल डालनेवाले मछुएके चरणोंके पास आ जाती है, वह नहीं पकड़ी जाती। ऐसे ही भगवान्‌की माया (संसार) में ममता करके जीव फँस जाते हैं और जन्मते-मरते रहते हैं; परंतु जो जीव मायापति भगवान्‌के चरणोंकी शरण हो जाते हैं, वे मायाको तर जाते हैं—'मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते' (गीता ७। १४)। इस दृष्टान्तका एक ही अंश ग्रहण करना चाहिये; क्योंकि धीवरका तो मछलियोंको पकड़नेका भाव होता है; परंतु भगवान्‌का जीवोंको मायामें फँसानेका किंचिन्मात्र भी भाव नहीं होता। भगवान्‌का भाव तो जीवोंको मायाजालसे मुक्त करके अपने शरण लेनेका होना है, तभी तो वे कहते हैं—'मामेकं शरणं व्रज'। जीव संयोगजन्य सुखकी लोलुपतासे खुद ही मायामें फँस जाते हैं।

जैसे, चलती हुई चक्कीके भीतर आनेवाले सभी दाने पिस जाते हैं*; परंतु जिसके आधारपर चक्की चलती है, उस कीलके

* चलती चक्की देखकर, दिया कबीरा रोय।
दो पाटनमें आयके, साबुत बचा न कोय॥

आस-पास रहनेवाले दाने ज्यों-के-त्यों साबूत रह जाते हैं। ऐसे ही जन्म-मरणरूप संसारकी चलती हुई चक्कीमें पड़े हुए सब-के-सब जीव पिस जाते हैं अर्थात् दुःख पाते हैं; परंतु जिसके आधारपर संसार-चक्र चलता है, उन भगवान्‌के चरणोंका सहारा लेनेवाला जीव पिसनेसे बच जाता है—'कोई हरिजन ऊबरे, कील माकड़ी पाल'। यह दृष्टान्त भी पूरा नहीं घटता; क्योंकि दाने तो स्वाभाविक ही कीलके पास रह जाते हैं। वे बचनेका कोई उपाय नहीं करते। परंतु भगवान्‌के भक्त संसारसे विमुख होकर प्रभुके चरणोंका आश्रय लेते हैं। तात्पर्य यह कि जो भगवान्‌का अंश होकर भी संसारको अपना मानता है अथवा संसारसे कुछ चाहता है, वही जन्म-मरणरूप चक्रमें पड़कर दुःख भोगता है।

संसार और भगवान्—इन दोनोंका सम्बन्ध दो तरहका होता है। संसारका सम्बन्ध केवल माना हुआ है और भगवान्‌का सम्बन्ध वास्तविक है। संसारका सम्बन्ध तो मनुष्यको पराधीन बनाता है, गुलाम बनाता है, पर भगवान्‌का सम्बन्ध मनुष्यको स्वाधीन बनाता है, चिन्मय बनाता है और बनाता है भगवान्‌का भी मालिक!

किसी बातको लेकर अपनेमें कुछ भी अपनी विशेषता दीखती है, वही वास्तवमें पराधीनता है। यदि मनुष्य विद्या, बुद्धि, धन-सम्पत्ति, त्याग, वैराग्य आदि किसी बातको लेकर अपनी विशेषता मानता है तो यह उन विद्या आदिकी पराधीनता, दासता ही है। जैसे, कोई धनको लेकर अपनेमें विशेषता मानता है तो यह विशेषता वास्तवमें

धनकी ही हुई, खुदकी नहीं। वह अपनेको धनका मालिक मानता है, पर वास्तवमें वह धनका गुलाम है।

संसारका यह कायदा है कि सांसारिक पदार्थोंको लेकर जो अपनेमें कुछ विशेषता मानता है, उसको ये सांसारिक पदार्थ तुच्छ बना देते हैं, पद-दलित कर देते हैं। परंतु जो भगवान्‌के आश्रित होकर सदा भगवान्‌पर ही निर्भर रहते हैं, उनको अपनी कुछ विशेषता दीखती ही नहीं, प्रत्युत भगवान्‌की ही अलौकिकता, विलक्षणता, विचित्रता दीखती है। भगवान् चाहे उसको अपना मुकुटमणि बना लें और चाहे अपना मालिक बना लें, तो भी उसको अपनेमें कुछ भी विशेषता नहीं दीखती। प्रभुका यह कायदा है कि जिस भक्तको अपनेमें कुछ भी विशेषता नहीं दीखती, अपनेमें किसी बातका अभिमान नहीं होता, उस भक्तमें भगवान्‌की विलक्षणता उतर आती है। किसी-किसीमें यहाँतक विलक्षणता आती है कि उसके शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि आदि प्राकृत पदार्थ भी चिन्मय बन जाते हैं। उनमें जड़ताका अत्यन्त अभाव हो जाता है। ऐसे भगवान्‌के प्रेमी भक्त भगवान्‌में ही समा गये हैं, अन्तमें उनके शरीर नहीं मिले। जैसे, मीराबाई शरीर-सहित भगवान्‌के श्रीविग्रहमें लीन हो गयी। केवल पहचानके लिये उनकी साड़ीका छोटा-सा छोर श्रीविग्रहके मुखमें रह गया और कुछ नहीं बचा। ऐसे ही सन्त श्रीतुकारामजी शरीर-सहित वैकुण्ठ चले गये।

ज्ञानमार्गमें शरीर चिन्मय नहीं होता; क्योंकि ज्ञानी असत्‌से सम्बन्ध-विच्छेद करके, असत्‌से अलग होकर स्वयं चिन्मय तत्त्वमें स्थित हो जाता है। परंतु जब भक्त भगवान्‌के सम्मुख होता है तो उसके शरीर, इन्द्रियाँ, मन, प्राण आदि सभी भगवान्‌के सम्मुख हो जाते हैं। तात्पर्य यह हुआ कि जिनकी दृष्टि केवल चिन्मय तत्त्वपर ही है अर्थात् जिनकी दृष्टिमें चिन्मय तत्त्वसे भिन्न जड़ताकी स्वतन्त्र सत्ता ही नहीं होती तो वह चिन्मयता उनके शरीर आदिमें भी उतर आती है और वे शरीर आदि चिन्मय हो जाते हैं। हाँ, लोगोंकी दृष्टिमें तो उनके शरीरमें जड़ता दीखती है, पर वास्तवमें उनके शरीर चिन्मय होते हैं।

भगवान्‌के सर्वथा शरण हो जानेपर शरणागतके लिये भगवान्‌की कृपा विशेषतासे प्रकट होती ही है, पर मात्र संसारका स्नेहपूर्वक पालन करनेवाली और भगवान्‌से अभिन्न रहनेवाली वात्सल्यमयी माता लक्ष्मीका प्रभु-शरणागतपर कितना अधिक स्नेह होता है, वे कितना अधिक प्यार करती हैं, इसका कोई भी वर्णन नहीं कर सकता। लौकिक व्यवहारमें भी देखनेमें आता है कि पतिव्रता स्त्रीको पितृभक्त पुत्र बहुत प्यारा लगता है।

दूसरी बात, प्रेमभावसे परिपूरित प्रभु जब अपने भक्तको देखनेके लिये गरुड़पर बैठकर पधारते हैं तो माता लक्ष्मी भी प्रभुके साथ गरुड़पर बैठकर आती हैं, जिस गरुड़की पाँखोंसे सामवेदके मन्त्रोंका गान होता रहता है। परंतु कोई भगवान्‌को न चाहकर केवल माता लक्ष्मीको ही चाहता है तो उसके स्नेहके कारण माता

लक्ष्मी आ भी जाती है, पर उनका वाहन दिवान्ध उल्लू होता है। ऐसे वाहनवाली लक्ष्मीको प्राप्त करके मनुष्य भी मदान्ध हो जाता है। अगर उस माँको कोई भोग्या समझ लेता है तो उसका बड़ा भारी पतन हो जाता है; क्योंकि वह तो अपनी माँको ही कुदृष्टिसे देखता है, इस वास्ते वह महान् अधम है।

तीसरी बात, जहाँ केवल भगवान्‌का प्रेम होता है, वहाँ तो भगवान्‌से अभिन्न रहनेवाली लक्ष्मी भगवान्‌के साथ आ ही जाती है, पर जहाँ केवल लक्ष्मीकी चाहना है, वहाँ लक्ष्मीके साथ भगवान् भी आ जायँ—यह नियम नहीं है।

शरणागतिके विषयमें एक कथा आती है। सीताजी, रामजी और हनुमान्‌जी जंगलमें एक वृक्षके नीचे बैठे थे। उस वृक्षकी शाखाओं और टहनियोंपर एक लता छायी हुई थी। लताके कोमल-कोमल तन्तु फैल रहे थे। उन तन्तुओंमें कहींपर नयी-नयी कोंपलें निकल रही थीं और कहींपर ताम्रवर्णके पत्ते निकल रहे थे। पुष्प और पत्तोंसे लता छायी हुई थी। उससे वृक्षकी सुन्दर शोभा हो रही थी। वृक्ष बहुत ही सुहावना लग रहा था। उस वृक्षकी शोभाको देखकर भगवान् श्रीराम हनुमान्‌जीसे बोले—'देखो हनुमान्! यह लता कितनी सुन्दर है! वृक्षके चारों ओर कैसी छायी हुई है! यह लता अपने सुन्दर-सुन्दर फल, सुगन्धित फूल और हरी-हरी पत्तियोंसे इस वृक्षकी कैसी शोभा बढ़ा रही है। इससे जंगलके अन्य सब वृक्षोंसे यह वृक्ष कितना सुन्दर दीख रहा है! इतना ही नहीं, इस वृक्षके कारण ही सारे जंगलकी शोभा हो रही है।

इस लताके कारण ही पशु-पक्षी इस वृक्षका आश्रय लेते हैं। धन्य है यह लता!'

भगवान् श्रीरामके मुखसे लताकी प्रशंसा सुनकर सीताजी हनुमान्‌जीसे बोलीं—'देखो बेटा हनुमान्! तुमने ख्याल किया कि नहीं? देखो, इस लताका ऊपर चढ़ जाना, फूल-पत्तोंसे छा जाना, तन्तुओंका फैल जाना—ये सब वृक्षके आश्रित हैं, वृक्षके कारण ही हैं। इस लताकी शोभा भी वृक्षके ही कारण है। इस वास्ते मूलमें महिमा तो वृक्षकी ही है। आधार तो वृक्ष ही है। वृक्षके सहारे बिना लता स्वयं क्या कर सकती है? कैसे छा सकती है? अब बोलो हनुमान्! तुम्हीं बताओ, महिमा वृक्षकी ही हुई न?'

रामजीने कहा—'क्यों हनुमान्! यह महिमा तो लताकी ही हुई न?'

हनुमान्‌जी बोले—'हमें तो तीसरी ही बात सूझती है।'

सीताजीने पूछा—'वह क्या है बेटा?'

हनुमान्‌जीने कहा—'माँ! वृक्ष और लताकी छाया बड़ी सुन्दर है। इस वास्ते हमें तो इन दोनोंकी छायामें रहना ही अच्छा लगता है अर्थात् हमें तो आप दोनोंकी छाया (चरणोंके आश्रय) में रहना ही अच्छा लगता है!'

सेवक सुत पति मातु भरोसें।
रहइ असोच बनइ प्रभु पोसें॥

(मानस ४। २। २)

ऐसे ही भगवान् और उनकी दिव्य आह्लादिनी शक्ति—दोनों ही एक-दूसरेकी शोभा बढ़ाते हैं। परंतु कोई तो उन दोनोंको श्रेष्ठ बताता है, कोई केवल भगवान्‌को श्रेष्ठ बताता है, और कोई केवल उनकी आह्लादिनी शक्तिको श्रेष्ठ बताता है। शरणागत भक्तके लिये तो प्रभु और उनकी आह्लादिनी शक्ति—दोनोंका आश्रय ही श्रेष्ठ है।

एक बार एक प्रज्ञाचक्षु (नेत्रहीन) संत हाथमें लाठी पकड़े आगराके लिये यमुनाके किनारे-किनारे चले जा रहे थे। नदीमें बाढ़ आयी हुई थी। उससे एक जगह यमुनाका किनारा पानीमें गिर पड़ा तो बाबाजी भी पानीमें गिर पड़े। हाथसे लाठी छूट गयी थी। दीखता तो था ही नहीं, अब तैरें तो किधर तैरें! भगवान्‌की शरणागतिकी बात याद आते ही प्रयासरहित होकर शरीरको ढीला छोड़ दिया तो उनको ऐसा लगा कि किसीने हाथ पकड़कर किनारेपर डाल दिया। वहाँ दूसरी कोई लाठी हाथमें आ गयी और उसके सहारे वे चल पड़े। तात्पर्य यह कि जो भगवान्‌के शरण होकर भगवान्‌पर निर्भर रहता है, उसको अपने लिये करना कुछ नहीं रहता। भगवान्‌के विधानसे जो हो जाय, उसीमें वह प्रसन्न रहता है।

बहुत-सी भेड़-बकरियाँ जंगलमें चरने गयीं। उनमेंसे एक बकरी चरते-चरते एक लतामें उलझ गयी। उसको उस लतामेंसे निकलनेमें बहुत देर लगी, तबतक अन्य सब भेड़-बकरियाँ अपने घर पहुँच गयीं। अँधेरा भी हो रहा था। वह बकरी घूमते-घूमते एक

सरोवरके किनारे पहुँची। वहाँ किनारेकी गीली जमीनपर सिंहका एक चरण-चिह्न मँढ़ा हुआ था। वह उस चरण-चिह्नके शरण होकर उसके पास बैठ गयी। रातमें जंगली सियार, भेड़िया, बाघ आदि प्राणी बकरीको खानेके लिये पासमें जाते हैं तो वह बकरी बता देती है—'पहले देख लेना कि मैं किसके शरणमें हूँ; तब मुझे खाना!' वे चिह्नको देखकर कहते हैं—'अरे, यह तो सिंहके चरण-चिह्नके शरण है, जल्दी भागो यहाँसे! सिंह आ जायगा तो हमको मार डालेगा!' इस प्रकार सभी प्राणी भयभीत होकर भाग जाते हैं। अन्तमें जिसका चरण-चिह्न था, वह सिंह स्वयं आया और बकरीसे बोला—'तू जंगलमें अकेली कैसे बैठी है?' बकरीने कहा—'यह चरण-चिह्न देख लेना, फिर बात करना। जिसका यह चरण-चिह्न है, उसीके मैं शरण हुए बैठी हूँ।' सिंहने देखा, ओह! यह तो मेरा ही चरण-चिह्न है, यह बकरी तो मेरे ही शरण हुई!' सिंहने बकरीको आश्वासन दिया कि अब तुम डरो मत, निर्भय होकर रहो।

रातमें जब जल पीनेके लिये हाथी आया तो सिंहने हाथीसे कहा—'तू इस बकरीको अपनी पीठपर चढ़ा ले। इसको जंगलमें चराकर लाया कर और हरदम अपनी पीठपर ही रखा कर, नहीं तो तू जानता नहीं, मैं कौन हूँ? मार डालूँगा!' सिंहकी बात सुनकर हाथी थर-थर काँपने लगा। उसने अपनी सूँड़से झट बकरीको पीठपर चढ़ा लिया। अब वह बकरी निर्भय होकर हाथीकी पीठपर

बैठे-बैठे ही वृक्षोंकी ऊपरकी कोंपलें खाया करती और मस्त रहती।

> खोज पकड़ सैठे रहो, धणी मिलेंगे आय।
> अजया गज मस्तक चढ़े, निर्भय कोंपल खाय॥

ऐसे ही जब मनुष्य भगवान्‌के शरण हो जाता है, उनके चरणोंका सहारा ले लेता है तो वह सम्पूर्ण प्राणियोंसे, विघ्न-बाधाओंसे निर्भय हो जाता है। उसको कोई भी भयभीत नहीं कर सकता, कोई भी कुछ बिगाड़ नहीं सकता।

> जो जाको शरणो गहै, ताकहँ ताकी लाज।
> उलटे जल मछली चले, बह्यो जात गजराज॥

भगवान्‌के साथ काम, भय, द्वेष, क्रोध, स्नेह आदिसे भी सम्बन्ध क्यों न जोड़ा जाय, वह भी जीवका कल्याण करनेवाला ही होता है*। तात्पर्य यह हुआ कि काम, भय, द्वेष आदि किसी

---

* कामाद् द्वेषाद् भयात् स्नेहाद् यथा भक्त्येश्वरे मनः।
आवेश्य तदघं हित्वा बहवस्तद्गतिं गताः॥
गोप्यः कामाद् भयात् कंसो द्वेषाच्चैद्यादयो नृपाः।
सम्बन्धाद् वृष्णयः स्नेहाद् यूयं भक्त्या वयं विभो॥
(श्रीमद्भा० ७।१।२९-३०)

'एक नहीं, अनेक मनुष्य कामसे, द्वेषसे, भयसे और स्नेहसे अपने मनको भगवान्‌में लगाकर तथा अपने सारे पाप धोकर वैसे ही भगवान्‌को प्राप्त हुए हैं, जैसे भक्त भक्तिसे। जैसे, गोपियोंने कामसे, कंसने भयसे, शिशुपाल-दन्तवक्त्र आदि राजाओंने द्वेषसे, यदुवंशियोंने परिवारके सम्बन्धसे, तुमलोगों (युधिष्ठिर आदि) ने स्नेहसे और हमलोगों (नारद आदि) ने भक्तिसे अपने मनको भगवान्‌में लगाया है।'

तरहसे भी जिनका भगवान्‌के साथ सम्बन्ध जुड़ गया, उनका तो उद्धार हो ही गया, पर जिन्होंने किसी तरहसे भी भगवान्‌के

सत्सङ्गेन हि दैतेया यातुधाना मृगाः खगाः ।
गन्धर्वाप्सरसो नागाः सिद्धाश्चारणगुह्यकाः ॥
विद्याधरा मनुष्येषु वैश्याः शूद्राः स्त्रियोऽन्त्यजाः ।
रजस्तमःप्रकृतयस्तस्मिंस्तस्मिन् युगेऽनघ ॥
बहवो मत्पदं प्राप्तास्त्वाष्ट्रकायाधवादयः ।
वृषपर्वा बलिर्बाणो मयश्चाथ विभीषणः ॥
सुग्रीवो हनुमानृक्षो गजो गृध्रो वणिक्पथः ।
व्याधः कुब्जा व्रजे गोप्यो यज्ञपत्न्यस्तथापरे ॥
ते नाधीतश्रुतिगणा नोपासितमहत्तमाः ।
अव्रतातप्ततपसः सत्सङ्गान्मामुपागताः ॥
(श्रीमद्भा० ११ । १२ । ३-७)

भगवान् कहते हैं—'निष्पाप उद्धवजी ! यह एक युगकी नहीं सभी युगोंकी एक-सी बात है । सत्सङ्ग अर्थात् मेरे सम्बन्धद्वारा ही दैत्य-राक्षस, पशु-पक्षी, गन्धर्व-अप्सरा, नाग-सिद्ध, चारण-गुह्यक और विद्याधरोंको मेरी प्राप्ति हुई है । मनुष्योंमें वैश्य, शूद्र, स्त्री और अन्त्यज आदि रजोगुणी-तमोगुणी प्रकृतिके बहुत-से जीवोंने मेरा परमपद प्राप्त किया है । वृत्रासुर, प्रह्लाद, वृषपर्वा, बलि, बाणासुर, मयदानव, विभीषण, सुग्रीव, हनुमान्, जाम्बवान्, गजेन्द्र, जटायु, तुलाधार वैश्य, धर्मव्याध, कुब्जा, व्रजकी गोपियाँ, यज्ञपत्नियाँ और दूसरे लोग भी सत्सङ्गके प्रभावसे ही मुझे प्राप्त कर सके हैं ।'

'उन लोगोंने न तो वेदोंका स्वाध्याय किया था और न विधिपूर्वक महापुरुषोंकी उपासना ही की थी । इसी प्रकार उन्होंने कृच्छ्रचान्द्रायण आदि व्रत और कोई तपस्या भी नहीं की थी । बस, केवल सत्सङ्ग—मेरे सम्बन्धके प्रभावसे ही वे मुझे प्राप्त हो गये ।'

साथ सम्बन्ध नहीं जोड़ा, उदासीन ही रहे, वे भगवत्प्राप्तिसे वञ्चित रह गये।

भगवान्‌के अनन्य भक्तोंके लिये नारदजीने कहा है—

नास्ति तेषु जातिविद्यारूपकुलधनक्रियादिभेदः ।

(नारदभक्तिसूत्र ७२)

'उन भक्तोंमें जाति, विद्या, रूप, कुल, धन, क्रिया आदिका भेद नहीं है।'

तात्पर्य यह कि जो सर्वथा भगवान्‌के अर्पित हो गये हैं अर्थात् जिन्होंने भगवान्‌के साथ आत्मीयता, परायणता, अनन्यता आदि वास्तविकताको स्वीकार कर लिया है तो स्थूल, सूक्ष्म और कारण-शरीरको लेकर सांसारिक जितने भी जाति, विद्या आदि भेद हो सकते हैं, वे सब उनपर लागू नहीं होते * । कारण कि

---

* पुंस्त्वे स्त्रीत्वे विशेषो वा जातिनामाश्रमादयः ।
न कारणं मद्भजने भक्तिरेव हि कारणम् ॥

(अध्यात्म० अरण्य० १० । २०)

'मेरे भजनमें पुरुष-स्त्रीका भेद अथवा जाति, नाम और आश्रम कारण नहीं है, प्रत्युत मेरी भक्ति ही एकमात्र कारण है।'

किं जन्मना सकलवर्णजनोत्तमेन
किं विद्यया सकलशास्त्रविचारवत्या ।
यस्यास्ति चेतसि सदा परमेशभक्तिः
कोऽन्यस्ततस्त्रिभुवने पुरुषोऽस्ति धन्यः ॥

(ब्र० सं० भ० १३)

'सम्पूर्ण वर्णोंमें उत्तम वर्ण (ब्राह्मण-कुल) में जन्म होनेसे क्या हुआ ! सम्पूर्ण शास्त्रोंके गहरे अध्ययनसे क्या हुआ ! अर्थात् कुछ

वे अच्युत भगवान्‌के ही हैं—'यतस्तदीयाः' (नारदभक्तिसूत्र ७३), संसारके नहीं। अच्युत भगवान्‌के होनेसे वे 'अच्युत गोत्र' के ही कहलाते हैं *।

शरणागतिका रहस्य

शरणागतिका रहस्य क्या है?—इसको वास्तवमें भगवान् ही जानते हैं। फिर भी अपनी समझमें आयी बात कहनेकी चेष्टा की जाती है; क्योंकि हरेक आदमी जो बात कहता है, उससे वह अपनी बुद्धिका ही परिचय देता है। पाठकोंसे प्रार्थना है कि वे

नहीं हुआ। जिसके हृदयमें भगवान्‌की भक्ति विराजमान है, इस त्रिलोकीमें उसके समान दूसरा कौन मनुष्य धन्य हो सकता है?'

व्याधस्याचरणं ध्रुवस्य च वयो विद्या गजेन्द्रस्य का
का जातिर्विदुरस्य यादवपतेरुग्रस्य किं पौरुषम्।
कुब्जायाः किमु नाम रूपमधिकं किं तत्सुदाम्नो धनं
भक्त्या तुष्यति केवलं न च गुणैर्भक्तिप्रियो माधवः॥

'व्याधका कौन-सा श्रेष्ठ आचरण था? ध्रुवकी कौन-सी बड़ी उम्र थी? गजेन्द्रके पास कौन-सी विद्या थी? विदुरकी कौन-सी ऊँची जाति थी? यदुपति उग्रसेनका कौन-सा पराक्रम था? कुब्जाका कौन-सा सुन्दर रूप था? सुदामाके पास कौन-सा धन था? फिर भी उन लोगोंको भगवान्‌की प्राप्ति हो गयी। कारण कि भगवान्‌को केवल भक्ति ही प्यारी है, वे केवल भक्तिसे ही सन्तुष्ट होते हैं, आचरण, विद्या आदि गुणोंसे नहीं।'

* पितृगोत्री यथा कन्या स्वामिगोत्रेण गोत्रिका।
श्रीरामभक्तिमात्रेणाच्युतगोत्रेण गोत्रकः॥
(नारदपाञ्...

यहाँ आयी बातोंका उल्टा अर्थ न निकालें; क्योंकि प्रायः लोग किसी तात्त्विक, रहस्यवाली बातको गहराईसे समझे बिना उसका उल्टा अर्थ जल्दी ले लेते हैं। इस वास्ते ऐसी बातको पढ़ने-सुननेके पात्र बहुत कम होते हैं।

भगवान्‌ने गीतामें शरणागतिके विषयमें दो बातें बतायी हैं— (१) 'मामेकं शरणं व्रज' (१८ । ६६) 'अनन्यभावसे केवल मेरी शरणमें आ जा' (२) 'स सर्वविद्भजति मां सर्वभावेन भारत' (१५ । १९) 'वह सर्वज्ञ पुरुष सर्वभावसे मेरेको भजता है', 'तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत' (१८ । ६२) 'तू सर्वभावसे उस परमात्माकी शरणमें जा'। तो हम भगवान्‌के शरण कैसे हो जायँ? केवल एक भगवान्‌के शरण हो जायँ अर्थात् भगवान्‌के गुण, ऐश्वर्य आदिकी तरफ दृष्टि न रखें और सर्वभावसे भगवान्‌के शरण हो जायँ अर्थात् साथमें अपनी कोई सांसारिक कामना न रखें।

केवल एक भगवान्‌के शरण होनेका रहस्य यह है कि भगवान्‌के अनन्त गुण हैं, प्रभाव हैं, तत्त्व है, रहस्य है, महिमा है, लीलाएँ हैं, नाम हैं, धाम हैं; भगवान्‌का अनन्त ऐश्वर्य है, माधुर्य है, सौन्दर्य है—इन विभूतियोंकी तरफ शरणागत भक्त देखता ही नहीं। उसका यही एक भाव रहता है कि 'मैं केवल भगवान्‌का हूँ और केवल भगवान् ही मेरे हैं'। अगर वह गुण, प्रभाव आदिकी तरफ देखकर भगवान्‌की शरण लेता है तो वास्तवमें वह गुण, प्रभाव आदिके ही शरण हुआ, भगवान्‌के शरण नहीं हुआ। परंतु इन बातोंका उल्टा अर्थ न लगा लें।

उल्टा अर्थ लगाना क्या है ? भगवान्‌के गुण, प्रभाव, नाम, धाम, ऐश्वर्य, माधुर्य, सौन्दर्य आदिको मानना ही नहीं है, इनकी तरफ जाना ही नहीं है। अब कुछ करना है ही नहीं, न भजन करना है, न भगवान्‌के गुण, प्रभाव, लीला आदि सुननी है, न भगवान्‌के धाममें जाना है—यह उल्टा अर्थ लगाना है। इनका ऐसा अर्थ लगाना महान् अनर्थ करना है।

केवल एक भगवान्‌के शरण होनेका तात्पर्य है—केवल भगवान् मेरे हैं, अब वे ऐश्वर्य-सम्पन्न हैं तो बड़ी अच्छी बात। और कुछ भी ऐश्वर्य नहीं है तो बड़ी अच्छी बात। वे बड़े दयालु हैं तो बड़ी अच्छी बात और बड़े निष्ठुर, कठोर हैं कि उनके समान दुनियामें कोई कठोर है ही नहीं, तो बड़ी अच्छी बात। उनका बड़ा भारी प्रभाव है तो बड़ी अच्छी बात और उनमें कोई प्रभाव नहीं है तो बड़ी अच्छी बात। शरणागतमें इन बातोंकी कोई परवाह नहीं होती। उसका तो एक ही भाव रहता है कि भगवान् जैसे भी हैं, हमारे हैं*। भगवान्‌की इन बातोंकी परवाह न होनेसे

* असुन्दरः सुन्दरशेखरो वा गुणैर्विहीनो गुणिनां वरो वा।
द्वेषी मयि स्यात् करुणाम्बुधिर्वा श्यामः स एवाद्य गतिर्ममायम्॥

'मेरे प्रियतम श्रीकृष्ण असुन्दर हों या सुन्दर-शिरोमणि हों, गुणहीन हों या गुणियोंमें श्रेष्ठ हों, मेरे प्रति द्वेष रखते हों या करुणासिन्धु-रूपसे कृपा करते हों; वे चाहे जैसे हों, मेरी तो वे ही एकमात्र गति हैं।'

आश्लिष्य वा पादरतां पिनष्टु मामदर्शनान्मर्महतां करोतु वा।
यथा तथा वा विदधातु लम्पटो मत्प्राणनाथस्तु स एव नापरः॥

'वे चाहे मुझे हृदयसे लगा लें या चरणोंमें लिपटे हुए मुझे पैरोंतले रौंद डालें अथवा दर्शन न देकर मर्माहत ही करें। वे परम स्वतन्त्र श्रीकृष्ण जैसे चाहें वैसे करें, मेरे तो वे ही प्राणनाथ हैं, दूसरा कोई नहीं।'

भगवान्‌का ऐश्वर्य, माधुर्य, सौन्दर्य, गुण, प्रभाव आदि चले जायँगे, ऐसी बात नहीं है। पर हम उनकी परवाह नहीं करेंगे तो हमारी असली शरणागति होगी।

जहाँ गुण, प्रभाव आदिको लेकर भगवान्‌की शरण होते हैं, वहाँ केवल भगवान्‌की शरण नहीं होते, प्रत्युत गुण, प्रभाव आदिकी ही शरण होते हैं; जैसे—कोई रुपयोंवाले आदमीका आदर करे तो वास्तवमें वह आदर उस आदमीका नहीं, रुपयोंका है। किसी मिनिस्टरका कितना ही आदर किया जाय तो वह आदर उसका नहीं, मिनिस्टरी (पद) का है। किसी बलवान् व्यक्तिका आदर किया जाय तो वह उसके बलका आदर है, उसका खुदका आदर नहीं है। परंतु अगर कोई केवल व्यक्ति (धनी आदि)का आदर करे तो इससे धनीका धन या मिनिस्टरकी मिनिस्टरी चली जायगी—यह बात नहीं है। वह तो रहेगी ही। ऐसे ही केवल भगवान्‌की शरण होनेसे भगवान्‌के गुण, प्रभाव आदि चले जायँगे—ऐसी बात नहीं है। परंतु हमारी दृष्टि तो केवल भगवान्‌पर ही रहनी चाहिये; उनके गुण आदिपर नहीं।

सप्तर्षियोंने जब पार्वतीजीके सामने शिवजीके अनेक अवगुणोंका और विष्णुके अनेक सद्‌गुणोंका वर्णन करते हुए उन्हें शिवजीका त्याग करनेके लिये कहा तो पार्वतीजीने उन्हें यही उत्तर दिया—

> महादेव अवगुन भवन बिष्नु सकल गुन धाम।
> जेहि कर मनु रम जाहि सन तेहि तेही सन काम॥
> (मानस १। ८

ऐसी ही वात गोपियोंने भी उद्धवजीसे कही थी—

ऊधौ ! मन माने की बात ।
दाख छोहारा छाड़ि अमृतफल, विषकीरा विष खात ॥
जो चकोर को दै कपूर कोउ, तजि अंगार अघात ।
मधुप करत घर कोरे काठ में, वँधत कमल के पात ॥
ज्यों पतंग हित जान आपनो, दीपक सों लपटात ।
'सूरदास' जाको मन जासों, ताको सोइ सुहात ॥

भगवान्‌के प्रभाव आदिकी तरफ देखनेवालेको, उससे प्रेम करनेवालेको मुक्ति, ऐश्वर्य आदि तो मिल जायगा, पर भगवान् नहीं मिल सकते। भगवान्‌के प्रभावकी तरफ न देखनेवाला भगवत्प्रेमी भक्त ही भगवान्‌को पा सकता है। इतना ही नहीं, वह प्रेमी भक्त भगवान्‌को वाँध सकता है, उनकी भी विक्री कर सकता है! भगवान् देखते हैं कि वह मेरेसे प्रेम करता है, मेरे प्रभावकी तरफ देखतातक नहीं तो भगवान्‌के मनमें उसका वड़ा आदर होता है।

प्रभावकी तरफ देखना यह सिद्ध करता है कि हमारेमें कुछ पानेकी कामना है। हमारे मनमें उस कामनावाले पदार्थका आदर है। जवतक हमारेमें कामना है, तवतक हम प्रभावको देखते हैं। अगर हमारे मनमें कोई कामना न रहे तो भगवान्‌के प्रभाव, ऐश्वर्यकी तरफ हमारी दृष्टि नहीं जायगी। केवल भगवान्‌की तरफ दृष्टि होगी तो हम भगवान्‌की शरण हो जायँगे, भगवान्‌के अपने हो जायँगे।

विचार करें, पूतना राक्षसी जहर लगाकर स्तन मुखमें देती

है। उसको भगवान्ने माताकी गति दे दी*—'जसुमति की गति पाई' अर्थात् जो मुक्ति यशोदा मैयाको मिले, वह मुक्ति पूतनाको मिल गयी। जो मुखमें जहर देती है, उसे तो भगवान्ने मुक्ति दे दी। अब जो रोजाना दूध पिलाती है, उस मैयाको भगवान् क्या दें? तो अनन्त जीवोंको मुक्ति देनेवाले भगवान् मैयाके अधीन हो गये, उन्हें अपने-आपको ही दे दिया। मैयाके इतने वशीभूत हो गये कि मैया छड़ी दिखाती है तो वे डरकर रोने लग जाते हैं। कारण कि मैयाकी भगवान्के प्रभाव, ऐश्वर्यकी तरफ दृष्टि ही नहीं है। इस प्रकार जो भगवान्से मुक्ति चाहते हैं, उन्हें भगवान् मुक्ति दे देते हैं, पर जो कुछ भी नहीं चाहता, उसे भगवान् अपने-आपको ही दे देते हैं।

सर्वभावसे भगवान्की शरण होनेका रहस्य यह है कि हमारा शरीर अच्छा है, इन्द्रियाँ वशमें हैं, मन शुद्ध निर्मल है, बुद्धिसे हम ठीक जानते हैं, हम पढ़े-लिखे हैं, हम यशस्वी हैं, हमारा संसारमें मान है—इस प्रकार 'हम भी कुछ हैं' ऐसा मानकर भगवान्की शरण होना शरणागति नहीं है। भगवान्की शरण होनेके बाद

---

* अहो बकी यं स्तनकालकूटं जिघांसयापाययदप्यसाध्वी।
लेभे गतिं धात्र्युचितां ततोऽन्यं कं वा दयालुं शरणं व्रजेम॥
(श्रीमद्भा० ३ । २ । २३)

'अहो! इस पापिनी पूतनाने जिसे मार डालनेकी इच्छासे अपने स्तनोंपर लगाया हुआ कालकूट विष पिलाकर भी वह गति प्राप्त की, जो धायको मिलनी चाहिये, उसके अतिरिक्त और कौन दयालु है, जिसकी शरणमें जायँ!'

ऐसी ही बात गोपियोंने भी उद्धवजीसे कही थी—

ऊधौ ! मन माने की बात ।
दाख छोहारा छाड़ि अमृतफल, विषकीरा विष खात ॥
जो चकोर को दै कपूर कोउ, तजि अंगार अघात ।
मधुप करत घर कोरे काठ में, बँधत कमल के पात ॥
ज्यों पतंग हित जान आपनो, दीपक सों लपटात ।
'सूरदास' जाको मन जासों, ताको सोइ, सुहात ॥

भगवान्के प्रभाव आदिकी तरफ देखनेवालेको, उससे प्रेम करनेवालेको मुक्ति, ऐश्वर्य आदि तो मिल जायगा, पर भगवान् नहीं मिल सकते। भगवान्के प्रभावकी तरफ न देखनेवाला भगवत्प्रेमी भक्त ही भगवान्को पा सकता है। इतना ही नहीं, वह प्रेमी भक्त भगवान्को बाँध सकता है, उनकी भी बिक्री कर सकता है! भगवान् देखते हैं कि वह मेरेसे प्रेम करता है, मेरे प्रभावकी तरफ देखतातक नहीं तो भगवान्के मनमें उसका बड़ा आदर होता है।

प्रभावकी तरफ देखना यह सिद्ध करता है कि हमारेमें कु[illegible] पानेकी कामना है। हमारे मनमें उस कामनावाले पदार्थका आ[illegible] है। जबतक हमारेमें कामना है, तबतक हम प्रभावको देखते [illegible] अगर हमारे मनमें कोई कामना न रहे तो भगवान्के प्रभाव, ऐश्व[illegible] तरफ हमारी दृष्टि नहीं जायगी। केवल भगवान्की तरफ [illegible] होगी तो हम भगवान्की शरण हो जायँगे, भगवान्के [illegible] हो जायँगे।

विचार करें, पूतना राक्षसी जहर लगाकर स्तन मुख[illegible]

है। उसको भगवान्‌ने माताकी गति दे दी*—'जसुमति की गति पाई' अर्थात् जो मुक्ति यशोदा मैयाको मिले, वह मुक्ति पूतनाको मिल गयी। जो मुखमें जहर देती है, उसे तो भगवान्‌ने मुक्ति दे दी। अब जो रोजाना दूध पिलाती है, उस मैयाको भगवान् क्या दें? तो अनन्त जीवोंको मुक्ति देनेवाले भगवान् मैयाके अधीन हो गये, उन्हें अपने-आपको ही दे दिया। मैयाके इतने वशीभूत हो गये कि मैया छड़ी दिखाती है तो वे डरकर रोने लग जाते हैं। कारण कि मैयाकी भगवान्‌के प्रभाव, ऐश्वर्यकी तरफ दृष्टि ही नहीं है। इस प्रकार जो भगवान्‌से मुक्ति चाहते हैं, उन्हें भगवान् मुक्ति दे देते हैं, पर जो कुछ भी नहीं चाहता, उसे भगवान् अपने-आपको ही दे देते हैं।

सर्वभावसे भगवान्‌की शरण होनेका रहस्य यह है कि हमारा शरीर अच्छा है, इन्द्रियाँ वशमें हैं, मन शुद्ध निर्मल है, बुद्धिसे हम ठीक जानते हैं, हम पढ़े-लिखे हैं, हम पवित्र हैं, हमारा संसारमें मान है—इस प्रकार 'हम भी कुछ हैं' ऐसा मानकर भगवान्‌की शरण होना शरणागति नहीं है। भगवान्‌की शरण होनेके बाद

---

* अहो बकी यं स्तनकालकूटं जिघांसयापाययदप्यसाध्वी।
लेभे गतिं धात्र्युचितां ततोऽन्यं कं वा दयालुं शरणं व्रजेम॥
(श्रीमद्भा० ३।२।२३)

'अहो! इस पापिनी पूतनाने जिसे मार डालनेकी इच्छासे अपने स्तनोंपर लगाया हुआ कालकूट विष पिलाकर भी वह गति प्राप्त की, जो धायको मिलनी चाहिये, उसके अतिरिक्त और कौन दयालु है, जिसकी शरणमें जायँ!'

शरणागतको ऐसा विचार भी नहीं करना चाहिये कि हमारा शरीर ऐसा होना चाहिये; हमारी बुद्धि ऐसी होनी चाहिये; हमारा मन ऐसा होना चाहिये; हमारा ऐसा ध्यान लगना चाहिये; हमारी ऐसी भावना होनी चाहिये; हमारे जीवनमें ऐसे-ऐसे लक्षण आने चाहिये; हमारे ऐसे आचरण होने चाहिये; हमारेमें ऐसा प्रेम होना चाहिये कि कथा-कीर्तन सुननेपर आँसू बहने लगें, कण्ठ गद्गद हो जाय; पर ऐसा हमारे जीवनमें हुआ ही नहीं तो हम भगवान्‌की शरण कैसे हुए ? आदि-आदि। ये बातें अनन्य शरणागतिकी कसौटी नहीं हैं। जो अनन्य शरण हो जाता है, वह यह देखता ही नहीं कि शरीर बीमार है कि स्वस्थ है ? मन चंचल है कि स्थिर है ? बुद्धिमें जानकारी है कि अनजानपना है ? अपनेमें मूर्खता है कि विद्वत्ता है ? योग्यता है कि अयोग्यता है ? आदि इन सबकी तरफ वह स्वप्नमें भी नहीं देखता; क्योंकि उसकी दृष्टिमें ये सब चीजें कूड़ा-करकट हैं, जिन्हें अपने साथ नहीं लेता है। यदि इन चीजोंकी तरफ देखेगा तो अभिमान ही बढ़ेगा कि मैं भगवान्‌का शरणागत भक्त हूँ अथवा निराश होना पड़ेगा कि मैं भगवान्‌की शरण तो हो गया, पर भक्तोंके गुण (**अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च। निर्ममो निरहंकारः समदुःखसुखः क्षमी॥** इत्यादि, गीता १२। १३—१९) तो मेरेमें आये ही नहीं ! तात्पर्य यह हुआ कि अगर अपनेमें भक्तोंके गुण दिखायी देंगे तो उनका अभिमान हो जायगा और अगर नहीं दिखायी देंगे तो निराशा हो जायगी। इस वास्ते यही अच्छा है कि भगवान्‌की

शरण होनेके बाद इन गुणोंकी तरफ भूलकर भी नहीं देखे। इसका यह उल्टा अर्थ न लगा लें कि हम चाहे वैर-विरोध करें, चाहे द्वेष करें, चाहे ममता करें, चाहे जो कुछ करें! यह अर्थ बिल्कुल नहीं है। तात्पर्य है कि इन गुणोंकी तरफ ख्याल ही नहीं होना चाहिये। भगवान्‌की शरण होनेवाले भक्तमें ये सब-के-सब गुण अपने-आप ही आयेंगे, पर इनके आने या न आनेसे उसको कोई मतलब नहीं रखना चाहिये। अपनेमें ऐसी कसौटी नहीं लगानी चाहिये कि अपनेमें ये गुण या लक्षण हैं या नहीं।

सच्चा शरणागत भक्त तो भगवान्‌के गुणोंकी तरफ भी नहीं देखता और अपने गुणोंकी तरफ भी नहीं देखता। वह भगवान्‌के ऊँचे-ऊँचे प्रेमियोंकी तरफ भी नहीं देखता कि ऊँचे प्रेमी ऐसे-ऐसे होते हैं; तत्त्वको जाननेवाले जीवन्मुक्त ऐसे-ऐसे होते हैं।

प्रायः लोग ऐसी कसौटी लगाते हैं कि यह भगवान्‌का भजन करता है तो बीमार कैसे हो गया! भगवान्‌का भक्त हो गया तो उसको बुखार क्यों आ गया! उसपर दुःख क्यों आ गया! उसका बेटा क्यों मर गया! उसका धन क्यों चला गया! उसका संसारमें अपयश क्यों हो गया! उसका निरादर क्यों हो गया! आदि-आदि। ऐसी कसौटी कसना बिल्कुल फालतू बात है, बड़े नीचे दर्जेकी बात है। ऐसे लोगोंको क्या समझायें! वे सत्सङ्गके नजदीक ही नहीं आये, इसी वास्ते उनको इस बातका पता ही नहीं है कि भक्ति क्या होती है! शरणागति क्या होती है! वे इन बातोंको समझ ही नहीं सकते, परंतु इसका अर्थ

भी नहीं है कि भगवान्‌का भक्त दरिद्र होता ही है, उसका संसारमें अपमान होता ही है, उसकी निन्दा होती ही है। शरणागत भक्तको तो निन्दा-प्रशंसा, रोग-नीरोगता आदिसे कोई मतलब ही नहीं होता। इनकी तरफ वह देखता ही नहीं। वह यही देखता है कि मैं हूँ और भगवान् हैं, बस। अब संसारमें क्या है, क्या नहीं है? त्रिलोकीमें क्या है, क्या नहीं है? प्रभु ऐसे हैं, वे उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय करनेवाले हैं—इन बातोंकी तरफ उसकी दृष्टि जाती ही नहीं।

किसीने एक सन्तसे पूछा—'आप किस भगवान्‌के भक्त हो? जो उत्पत्ति, स्थिति, प्रलय करते हैं, उनके भक्त हो क्या?' तो उस सन्तने उत्तर दिया—'हमारे भगवान्‌का तो उत्पत्ति, स्थिति, प्रलयके साथ कोई सम्बन्ध है ही नहीं। यह तो हमारे प्रभुका एक ऐश्वर्य है। यह कोई विशेष बात नहीं है।' शरणागत भक्तको ऐसा होना चाहिये। ऐश्वर्य आदिकी तरफ उसकी दृष्टि ही नहीं होनी चाहिये।

ऋषिकेशमें गङ्गाजीके किनारे टीबड़ीपर शामको सत्सङ्ग हो रहा था। गरमी पड़ रही थी। उधरसे गङ्गाजीकी ठण्डी हवाकी लहर आयी तो एक सज्जनने कहा—'कैसी ठण्डी हवाकी लहर आ रही है!' पास बैठे दूसरे सज्जनने उनसे कहा—'हवाको देखनेके लिये तुम्हें वक्त कैसे मिल गया? यह ठण्डी हवा आयी, यह गरम हवा आयी—इस तरफ तुम्हारा ख्याल कैसे चला गया?' भगवान्‌के भजनमें लगे हो तो हवा ठण्डी आयी या गरम आयी

सुख आया या दुःख आया—इस तरफ जबतक ख्याल है, तब-तक भगवान्‌की तरफ ख्याल कहाँ ! इसी विषयमें हमने एक कहानी सुनी है। कहानी तो नीचे दर्जेकी है, पर उसका निष्कर्ष बड़ा अच्छा है।

एक कुल्टा स्त्री थी। उसको किसी पुरुषसे संकेत मिला कि इस समय अमुक स्थानपर तुम आ जाना। तो वह समयपर अपने प्रेमीके पास जा रही थी। रास्तेमें एक मस्जिद पड़ती थी। मस्जिदकी दीवारें छोटी-छोटी थीं। दीवारके पास ही वहाँका मौलवी झुककर नमाज पढ़ रहा था। वह कुल्टा अनजानेमें उसके ऊपर पैर रखकर निकल गयी। मौलवीको बड़ा गुस्सा आया कि कैसी औरत है यह ! इसने मेरेपर जूतीसहित पैर रखकर हमको नापाक (अशुद्ध) बना दिया ! वह वहीं बैठकर उसको देखता रहा कि कब आयेगी। जब वह कुल्टा पीछे लौटकर आयी तो मौलवीने उसको धमकाया कि 'कैसी बेअक्ल हो तुम ! हम परवरदिगारकी बंदगीमें बैठे थे, नमाज पढ़ रहे थे और तुम हमारेपर पैर रखकर चली गयी !' तब वह बोली—

मैं नर-राची ना लखी, तुम कस लख्यो सुजान।
पढ़ि कुरान बौरा भया, राच्यो नहिं रहमान॥

एक पुरुषके ध्यानमें रहनेके कारण मेरेको इसका पता ही नहीं लगा कि सामने दीवार है या कोई मनुष्य है, पर तू तो भगवान्‌के ध्यानमें था, फिर तूने मेरेको कैसे पहचान लिया कि वह यही थी ! तू केवल कुरान पढ़-पढ़कर बावला हो गया है। अगर

तू भगवान्‌के ध्यानमें रचा हुआ होता तो मुझे पहचान लेता ? कौन आया, कैसे आया, मनुष्य था कि पशु-पक्षी था, क्या था, क्या नहीं था, कौन ऊपर आया, कौन नीचे आया, किसने पैर रखा—इधर तेरा ख्याल ही क्यों जाता ? तात्पर्य है कि एक भगवान्‌को छोड़कर किसीकी तरफ ध्यान ही कैसे जाय ? दूसरी बातोंका पता ही कैसे लगे ? जबतक दूसरी बातोंका पता लगता है, तबतक वह शरण कहाँ हुआ ?

कौरव-पाण्डव जब लड़के थे तो वे अस्त्र-शस्त्र सीख रहे थे । सीखकर जब तैयार हो गये तो उनकी परीक्षा ली गयी । एक वृक्षपर एक बनावटी चिड़िया बैठा दी गयी और सबसे कहा गया कि उस चिड़ियाके कण्ठपर तीर मारकर दिखाओ । एक-एक करके सभी आने लगे । गुरुजी पहले सबसे अलग-अलग पूछते कि बताओ, तुम्हें वहाँ क्या दीख रहा है ? तो कोई कहता कि हमें तो वृक्ष दीखता है; कोई कहता कि हमें तो टहनी दीखती है; कोई कहता कि हमें तो चिड़िया दीखती है, चोंच भी दीखती है, पंख भी दीखते हैं । ऐसा कहनेवालोंको वहाँसे हटा दिया गया । जब अर्जुनकी बारी आयी तो उनसे पूछा गया कि तुमको क्या दीखता है, तो अर्जुनने कहा कि मेरेको तो केवल कण्ठ ही दीखता है और कुछ भी नहीं दीखता । तब अर्जुनसे बाण मारनेके लिये कहा गया । अर्जुनने अपने बाणसे उस चिड़ियाका कण्ठ बेध दिया; क्योंकि उसकी लक्ष्यपर दृष्टि ठीक थी । अगर चिड़िया दीखती है, वृक्ष, टहनी आदि दीखते हैं तो लक्ष्य कहाँ सँधा है ? अभी तो

दृष्टि फैली हुई है। लक्ष्य होनेपर तो वही दीखेगा, जो लक्ष्य होगा। लक्ष्यके सिवाय दूसरा कुछ दीखेगा ही नहीं। इसी प्रकार जबतक मनुष्यका लक्ष्य एक नहीं हुआ है, तबतक वह अनन्य कैसे हुआ? अव्यभिचारी 'अनन्ययोग' होना चाहिये—'मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी' (गीता १३। १०)। 'अन्ययोग' नहीं होना चाहिये अर्थात् शरीर, मन, बुद्धि, अहं आदिकी सहायता नहीं होनी चाहिये। वहाँ तो केवल एक भगवान् ही होने चाहिये।

गोस्वामी तुलसीदासजी महाराजसे किसीने कहा— 'तुम जिन रामल्लाकी भक्ति करते हो, वे तो बारह कलाके अवतार हैं, पर सूरदासजी जिन भगवान् कृष्णकी भक्ति करते हैं, वे सोलह कलाके अवतार हैं!' यह सुनते ही गोस्वामीजी महाराज उसके चरणोंमें गिर पड़े और बोले—'अहो! आपने बड़ी भारी कृपा कर दी! मैं तो रामको दशरथजीके लाडले कुँवर समझकर ही भक्ति करता था। अब पता लगा कि वे बारह कलाके अवतार हैं! इतने बड़े हैं वे! आपने आज नयी बात बताकर बड़ा उपकार किया।' अब कृष्ण सोलह कलाके अवतार हैं—यह बात उन्होंने सुनी ही नहीं, इस तरफ उनका ध्यान ही नहीं गया।

भगवान्‌के प्रति भक्तोंके अलग-अलग भाव होते हैं। कोई कहता है कि दशरथजीकी गोदमें खेलनेवाले जो रामलला हैं, वे ही हमारे इष्ट हैं—'इष्टदेव मम बालक रामा' (मानस ७। ७४। ३); राजाधिराज रामचन्द्रजी नहीं, छोटा-सा रामलला। कोई भक्त कहता है कि हमारे इष्ट तो लड्डूगोपाल हैं, नन्दके लाला हैं। वे भक्त

दृष्टि फैली हुई है। लक्ष्य होनेपर तो वही दीखेगा, जो लक्ष्य होगा। लक्ष्यके सिवाय दूसरा कुछ दीखेगा ही नहीं। इसी प्रकार जबतक मनुष्यका लक्ष्य एक नहीं हुआ है, तबतक वह अनन्य कैसे हुआ? अव्यभिचारी 'अनन्ययोग' होना चाहिये—'मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी' (गीता १३। १०)। 'अन्ययोग' नहीं होना चाहिये अर्थात् शरीर, मन, बुद्धि, अहं आदिकी सहायता नहीं होनी चाहिये। वहाँ तो केवल एक भगवान् ही होने चाहिये।

अपने रामलल्लाको, नन्दलालाको सन्तोंसे आशीर्वाद दिलाते हैं तो भगवान्‌को यह बहुत प्यारा लगता है। तात्पर्य है कि भक्तोंकी दृष्टि भगवान्‌के ऐश्वर्यकी तरफ जाती ही नहीं।

या व्रजरज की परस से, मुकति मिलत है चार।
वा रज को नित गोपिका, डारत डगर बुहार॥

आँगनकी जिस रजमें कन्हैया खेलते हैं, वह रज कोई ले ले तो उसको चारों प्रकारकी मुक्ति मिल जाय। पर यशोदा मैया उसी रजको बुहारकर बाहर फेंक देती है। मैयाके लिये तो वह कूड़ा-करकट है। अब मुक्ति किसको चाहिये? मैयाका केवल कन्हैयाकी तरफ ही ख्याल है। न तो कन्हैयाके ऐश्वर्यकी तरफ ख्याल है और न योग्यताकी तरफ ही ख्याल है।

सन्तोंने कहा है कि अगर भगवान्‌से मिलना हो तो साथमें साथी नहीं होना चाहिये और सामान भी नहीं होना चाहिये अर्थात् साथी और सामानके बिना उनसे मिलो। जब साथी, सहारा साथमें है तो तुम क्या मिले भगवान्‌से? और मन, बुद्धि, विद्या, धन आदि सामान साथमें बँधा रहेगा तो उसका परदा (व्यवधान) रहेगा। परदेमें मिलन थोड़े ही होता है! वहाँ तो कपड़ेका भी व्यवधान होता है। कपड़ा ही नहीं, माला भी आड़में आ जाय तो मिलन क्या हुआ? इस वास्ते साथमें कोई साथी और सामान न हो तो भगवान्‌से जो मिलन होगा, वह बड़ा विलक्षण और दिव्य होगा।

एक महात्माजीको खेतमें काम करनेवाला एक व्रजवासी ग्वाला मिल गया। वह भगवान्‌का भक्त था। महात्माजीने उससे

पूछा—'तुम क्या करते हो ?' उसने कहा—'हम तो अपने लाला कन्हैयाका काम करते हैं।' महात्माजीने कहा—'हम भगवान्‌के अनन्य भक्त हैं, तुम क्या हो ?' उसने कहा—'हम अनन्य भक्त हैं।' महात्माजीने पूछा—'अनन्य भक्त क्या होता है ?' तो उसने भी पूछा—'अनन्य भक्त क्या होता है ?' महात्माजीने कहा—'अनन्य भक्त वह होता है जो सूर्य, शक्ति, गणेश, ब्रह्म आदि किसीको भी न माने, केवल हमारे कन्हैयाको ही माने।' उसने कहा—बाबाजी, हम तो इन सबोंका नाम भी नहीं जानते कि ये क्या होते हैं, क्या नहीं होते; हमें इनका पता ही नहीं है; तो हम अनन्य हो गये कि नहीं ?' इस प्रकार ब्रह्म क्या होता है ? आत्मा क्या होती है ? सगुण और निर्गुण क्या होता है ? साकार और निराकार क्या होता है ? इत्यादि बातोंकी तरफ शरणागत भक्तका ख्याल ही नहीं होना चाहिये।

ब्रजकी एक बात है। एक सन्त कुएँपर किसीसे बात कर रहे थे कि ब्रह्म है, परमात्मा है, ईश्वर है आदि। वहाँ एक गोपी जल भरने आयी। उसने कान लगाया कि बाबाजी क्या बात कर रहे हैं। जब वह गोपी दूसरी गोपीसे मिली तो उससे पूछा—'अरी सखी ! यह ब्रह्म क्या होता है ?' उसने कहा—'हमारे लालाका ही कोई छोटो-मोटो, नात-सम्बन्धी होगो। हमलोग तो जानतीं नहीं सखी ! वे और [illegible] पूछने [illegible] न ! हम जाने सब करते हैं, [illegible] ही है। कोई काम हो तो नन्दलालासे कह देंगे, [illegible] कह देंगे

अपने रामलल्लाको, नन्दलालाको सन्तोंसे आशीर्वाद दिलाते हैं तो भगवान्‌को यह बहुत प्यारा लगता है। तात्पर्य है कि भक्तोंकी दृष्टि भगवान्‌के ऐश्वर्यकी तरफ जाती ही नहीं।

या ब्रजरज की परस से, मुकति मिलत है चार।
वा रज को नित गोपिका, डारत डगर बुहार॥

आँगनकी जिस रजमें कन्हैया खेलते हैं, वह रज कोई ले ले तो उसको चारों प्रकारकी मुक्ति मिल जाय। पर यशोदा मैया उसी रजको बुहारकर बाहर फेंक देती है। मैयाके लिये तो वह कूड़ा-करकट है। अब मुक्ति किसको चाहिये? मैयाका केवल कन्हैयाकी तरफ ही ख्याल है। न तो कन्हैयाके ऐश्वर्यकी तरफ ख्याल है और न योग्यताकी तरफ ही ख्याल है।

सन्तोंने कहा है कि अगर भगवान्‌से मिलना हो तो साथमें साथी नहीं होना चाहिये और सामान भी नहीं होना चाहिये अर्थात् साथी और सामानके बिना उनसे मिलो। जब साथी, सहारा साथमें है तो तुम क्या मिले भगवान्‌से? और मन, बुद्धि, विद्या, धन आदि सामान साथमें बँधा रहेगा तो उसका परदा (व्यवधान) रहेगा। परदेमें मिलन थोड़े ही होता है! वहाँ तो कपड़ेका भी व्यवधान होता है। कपड़ा ही नहीं, माला भी आड़में आ जाय तो मिलन क्या हुआ? इस वास्ते साथमें कोई साथी और सामान न हो तो भगवान्‌से जो मिलन होगा, वह बड़ा विलक्षण और दिव्य होगा।

एक महात्माजीको खेतमें काम करनेवाला एक ब्रजवासी ग्वाला मिल गया। वह भगवान्‌का भक्त था। महात्माजीने उससे

पूछा—'तुम क्या करते हो ?' उसने कहा—'हम तो अपने लाला कन्हैयाका काम करते हैं।' महात्माजीने कहा—'हम भगवान्‌के अनन्य भक्त हैं, तुम क्या हो ?' उसने कहा—'हम फनन्य भक्त हैं।' महात्माजीने पूछा—'फनन्य भक्त क्या होता है ?' तो उसने भी पूछा—'अनन्य भक्त क्या होता है ?' महात्माजीने कहा—'अनन्य भक्त वह होता है जो सूर्य, शक्ति, गणेश, ब्रह्मा आदि किसीको भी न माने, केवल हमारे कन्हैयाको ही माने।' उसने कहा—बाबाजी, हम तो इन सबुरोंका नाम भी नहीं जानते कि ये क्या होते हैं, क्या नहीं होते; हमें इनका पता ही नहीं है; तो हम फनन्य हो गये कि नहीं ?' इस प्रकार ब्रह्म क्या होता है ? आत्मा क्या होती है ? सगुण और निर्गुण क्या होता है ? साकार और निराकार क्या होता है ? इत्यादि बातोंकी तरफ शरणागत भक्तका ख्याल ही नहीं होना चाहिये।

व्रजकी एक बात है। एक सन्त कुएँपर किसीसे बात कर रहे थे कि ब्रह्म है, परमात्मा है, जीवात्मा है आदि। वहाँ एक गोपी जल भरने आयी। उसने कान लगाया कि बाबाजी क्या बात कर रहे हैं। जब वह गोपी दूसरी गोपीसे मिली तो उससे पूछा—'अरी सखी ! यह ब्रह्म क्या होता है ?' उसने कहा—'हमारे लालाका ही कोई अड़ोसी-पड़ोसी, सगा-सम्बन्धी होगा। हमलोग तो जानती नहीं सखी ! ये लोग उसीकी धुनमें लगे हैं न ! इस वास्ते सब जानते हैं। हमारे तो एक नन्दके लाला ही हैं। कोई काम हो तो नन्दबाबासे कह देंगे, गिरिराजसे कह देंगे

अपने रामलल्लाको, नन्दलालाको सन्तोंसे आशीर्वाद दिलाते हैं तो भगवान्‌को यह बहुत प्यारा लगता है। तात्पर्य है कि भक्तोंकी दृष्टि भगवान्‌के ऐश्वर्यकी तरफ जाती ही नहीं।

या ब्रजरज की परस से, मुक्ति मिलत है चार।
वा रज को नित गोपिका, डारत डगर बुहार॥

आँगनकी जिस रजमें कन्हैया खेलते हैं, वह रज कोई ले ले तो उसको चारों प्रकारकी मुक्ति मिल जाय। पर यशोदा मैया उसी रजको बुहारकर बाहर फेंक देती है। मैयाके लिये तो वह कूड़ा-करकट है। अब मुक्ति किसको चाहिये? मैयाका केवल कन्हैयाकी तरफ ही ख्याल है। न तो कन्हैयाके ऐश्वर्यकी तरफ ख्याल है और न योग्यताकी तरफ ही ख्याल है।

सन्तोंने कहा है कि अगर भगवान्‌से मिलना हो तो साथमें साथी नहीं होना चाहिये और सामान भी नहीं होना चाहिये अर्थात् साथी और सामानके बिना उनसे मिलो। जब साथी, सहारा साथमें है तो तुम क्या मिले भगवान्‌से? और मन, बुद्धि, विद्या, धन आदि सामान साथमें बँधा रहेगा तो उसका परदा (व्यवधान) रहेगा। परदेमें मिलन थोड़े ही होता है! वहाँ तो कपड़ेका भी व्यवधान होता है। कपड़ा ही नहीं, माला भी आड़में आ जाय तो मिलन क्या हुआ? इस वास्ते साथमें कोई साथी और सामान न हो तो भगवान्‌से जो मिलन होगा, वह बड़ा विलक्षण और दिव्य होगा।

एक महात्माजीको खेतमें काम करनेवाला एक ब्रजवासी ग्वाला मिल गया। वह भगवान्‌का भक्त था। महात्माजीने उससे

पूछा—'तुम क्या करते हो ?' उसने कहा—'हम तो अपने लाला कन्हैयाका काम करते हैं ।' महात्माजीने कहा—'हम भगवान्‌के अनन्य भक्त हैं, तुम क्या हो ?' उसने कहा—'हम फनन्य भक्त हैं ।' महात्माजीने पूछा—'फनन्य भक्त क्या होता है ?' तो उसने भी पूछा—'अनन्य भक्त क्या होता है ?' महात्माजीने कहा—'अनन्य भक्त वह होता है जो सूर्य, शक्ति, गणेश, ब्रह्मा आदि किसीको भी न माने, केवल हमारे कन्हैयाको ही माने ।' उसने कहा—बाबाजी, हम तो इन सबोंका नाम भी नहीं जानते कि ये क्या होते हैं, क्या नहीं होते; हमें इनका पता ही नहीं है; तो हम फनन्य हो गये कि नहीं ?' इस प्रकार ब्रह्म क्या होता है ? आत्मा क्या होती है ? सगुण और निर्गुण क्या होता है ? साकार और निराकार क्या होता है ? इत्यादि बातोंकी तरफ शरणागत भक्तका ख्याल ही नहीं होना चाहिये ।

व्रजकी एक बात है । एक सन्त कुएँपर किसीसे बात कर रहे थे कि ब्रह्म है, परमात्मा है, जीवात्मा है आदि । वहाँ एक गोपी जल भरने आयी । उसने कान लगाया कि बाबाजी क्या बात कर रहे हैं । जब वह गोपी दूसरी गोपीसे मिली तो उससे पूछा—'अरी सखी ! यह ब्रह्म क्या होता है ?' उसने कहा—'हमारे लालाका ही कोई अड़ोसी-पड़ोसी, सगा-सम्बन्धी होगा ! हमलोग तो जानती नहीं सखी ! ये लोग तीर्थोंमें घूमते रहते हैं न ? इस कारणे सब जानते हैं । हमारे तो एक नन्दके लाला ही हैं । कोई काम हो तो नन्दबाबासे कह देंगे, किशोरीसे कह देंगे

अपने रामलल्लाको, नन्दलालाको सन्तोंसे आशीर्वाद दिलाते हैं तो भगवान्‌को यह बहुत प्यारा लगता है। तात्पर्य है कि भक्तोंकी दृष्टि भगवान्‌के ऐश्वर्यकी तरफ जाती ही नहीं।

या ब्रजरज की परस से, मुकति मिलत है चार।
वा रज को नित गोपिका, डारत डगर बुहार॥

आँगनकी जिस रजमें कन्हैया खेलते हैं, वह रज कोई ले ले तो उसको चारों प्रकारकी मुक्ति मिल जाय। पर यशोदा मैया उसी रजको बुहारकर बाहर फेंक देती है। मैयाके लिये तो वह कूड़ा-करकट है। अब मुक्ति किसको चाहिये? मैयाका केवल कन्हैयाकी तरफ ही ख्याल है। न तो कन्हैयाके ऐश्वर्यकी तरफ ख्याल है और न योग्यताकी तरफ ही ख्याल है।

सन्तोंने कहा है कि अगर भगवान्‌से मिलना हो तो साथमें साथी नहीं होना चाहिये और सामान भी नहीं होना चाहिये अर्थात् साथी और सामानके बिना उनसे मिलो। जब साथी, सहारा साथमें है तो तुम क्या मिले भगवान्‌से? और मन, बुद्धि, विद्या, धन आदि सामान साथमें बँधा रहेगा तो उसका परदा (व्यवधान) रहेगा। परदेमें मिलन थोड़े ही होता है! वहाँ तो कपड़ेका भी व्यवधान होता है। कपड़ा ही नहीं, माला भी आड़में आ जाय तो मिलन क्या हुआ? इस वास्ते साथमें कोई साथी और सामान न हो तो भगवान्‌से जो मिलन होगा, वह बड़ा विलक्षण और दिव्य होगा।

एक महात्माजीको खेतमें काम करनेवाला एक ब्रजवासी ग्वाला मिल गया। वह भगवान्‌का भक्त था। महात्माजीने उससे

पूछा—'तुम क्या करते हो?' उसने कहा—'हम तो अपने लाला कन्हैयाका काम करते हैं।' महात्माजीने कहा—'हम भगवान्‌के अनन्य भक्त हैं, तुम क्या हो?' उसने कहा—'हम फनन्य भक्त हैं।' महात्माजीने पूछा—'फनन्य भक्त क्या होता है?' तो उसने भी पूछा—'अनन्य भक्त क्या होता है?' महात्माजीने कहा—'अनन्य भक्त वह होता है जो सूर्य, शक्ति, गणेश, ब्रह्मा आदि किसीको भी न माने, केवल हमारे कन्हैयाको ही माने।' उसने कहा—बाबाजी, हम तो इन सबुरोंका नाम भी नहीं जानते कि ये क्या होते हैं, क्या नहीं होते; हमें इनका पता ही नहीं है; तो हम फनन्य हो गये कि नहीं?' इस प्रकार ब्रह्म क्या होता है? आत्मा क्या होती है? सगुण और निर्गुण क्या होता है? साकार और निराकार क्या होता है? इत्यादि बातोंकी तरफ शरणागत भक्तका ख्याल ही नहीं होना चाहिये।

व्रजकी एक बात है। एक सन्त कुएँपर किसीसे बात कर रहे थे कि ब्रह्म है, परमात्मा है, जीवात्मा है आदि। वहाँ एक गोपी जल भरने आयी। उसने कान लगाया कि बाबाजी क्या बात कर रहे हैं। जब वह गोपी दूसरी गोपीसे मिली तो उससे पूछा—'अरी सखी! यह ब्रह्म क्या होता है?' उसने कहा—'हमारे लालाका ही कोई अड़ोसी-पड़ोसी, सगा-सम्बन्धी होगा! हमलोग तो जानती नहीं सखी! ये लोग उसीकी धुनमें लगे हैं न? इस वास्ते सब जानते हैं। हमारे तो एक नन्दके लाला ही हैं। कोई काम हो तो नन्दबाबासे कह देंगे, गिरिराजसे कह देंगे

इतना माधुर्य है, उनके पास ऐश्वर्यका इतना खजाना है आदि। तो गोपियाँ कहने लगीं—महाराज ! उस खजानेकी चाबी तो हमारे पास है ! कन्हैयाके पास क्या है ? उसके पास तो कुछ भी नहीं है। कोई उससे माँगेगा तो वह कहाँसे देगा ? इस वास्ते किसीको कुछ चाहिये तो कन्हैयाके पास न जाये। कन्हैयाके पास, उसकी शरणमें तो वही जाये, जिसको कभी कुछ नहीं चाहिये। किसी भी अवस्थामें कुछ भी नहीं चाहिये अर्थात् विपत्ति, मौत आदिकी अवस्थामें भी 'मेरी थोड़ी सहायता कर दो, रक्षा कर दो' ऐसा भाव नहीं हो।

भगवान् श्रीरामसे वाल्मीकिजी कहते हैं—

जाहि न चाहिअ कबहुँ कछु तुम्ह सन सहज सनेहु।
बसहु निरंतर तासु मन सो राउर निज गेहु॥
(मानस २। १३१)

कुछ भी चाहनेका भाव न होनेसे भगवान् स्वाभाविक ही प्यारे लगते हैं, मीठे लगते हैं—'तुम्ह सन सहज सनेहु'। जिसमें चाह नहीं है, वह भगवान्‌का खास घर है—'सो राउर निज गेहु।' यदि चाहना भी साथमें रखे और भगवान्‌को भी साथमें रखे तो वह भगवान्‌का खास घर नहीं है। भगवान्‌के साथ 'सहज' स्नेह हो, स्नेहमें कोई मिलावट न हो अर्थात् कुछ भी चाहना न हो। जहाँ कुछ भी चाहना हो जाय, वहाँ प्रेम कैसा ? वहाँ तो आसक्ति, वासना, मोह, ममता ही होते हैं। इस वास्ते गोपियाँ सावधान करती हुई कहती हैं—

मा यात पान्थाः पथि भीमरथ्या दिगम्बरः कोऽपि तमालनीलः ।
विन्यस्तहस्तोऽपि नितम्बबिम्बे धूतः समाकर्षति चित्तवित्तम् ॥

'अरे पथिको ! उस गलीसे मत जाना, वह बड़ी भयावनी है । वहाँ अपने नितम्बबिम्बपर दोनों हाथ रखे जो तमालके समान नीले रंगका एक नंग-धड़ंग बालक खड़ा है, वह केवल देखनेमात्रका अवधूत है । वास्तवमें तो वह अपने पाससेंसे होकर निकलनेवाले किसी भी पथिकके चित्तरूपी धनको लूटे बिना नहीं रहता ।'

वह जो काला-काला नंग-धड़ंग बालक खड़ा है न ? उससे तुम लुट जाओगे, रीते रह जाओगे ! वह ऐसा चोर है कि सब खतम कर देगा । उधर जाना ही मत, पहले ही ख्याल रखना । अगर चले गये तो फिर सदाके लिये ही चले गये ! इस वास्ते कोई अच्छी तरहसे जीना चाहे तो उधर मत जाय । उसका नाम कृष्ण है न ? कृष्ण कहते हैं खींचनेवालेको । एक बार खींच ले तो फिर छोड़े ही नहीं । उससे पहचान न हो, तबतक तो ठीक है । अगर उससे पहचान हो गयी तो फिर मामला खतम । फिर किसी कामके नहीं रहोगे, त्रिलोकीभरमें निकम्मे हो जाओगे !

'नारायन' बौरी भई डोलै, रही न काहू काम की ॥
जाहि लगन लगी घनस्याम की ।

हाँ, जो किसी कामका नहीं होता, वह सबके लिये कामका होता है । परंतु उसको किसी कामसे कोई मत नहीं होता ।

शरणागत भक्तको भजन भी करना नहीं पड़ता। उसके द्वारा स्वतः स्वाभाविक भजन होता है। भगवान्‌का नाम उसे स्वाभाविक ही बड़ा मीठा, प्यारा लगता है। अगर कोई पूछे कि तुम श्वास क्यों लेते हो? यह श्वासको भीतर-बाहर करनेका क्या धंधा शुरू कर रखा है? तो यही कहेंगे कि भाई! यह धंधा नहीं है, इसके बिना हम जी ही नहीं सकते। ऐसे ही शरणागत भक्त भजनके बिना रह ही नहीं सकता। जिसको सब कुछ अर्पित कर दिया, उसके विस्मरणमें परम व्याकुलता, महान् छटपटाहट होने लगती है—'तद्विस्मरणे परमव्याकुलतेति' (नारदभक्तिसूत्र १९)। ऐसे भक्तसे अगर कोई कहे कि आधे क्षणके लिये भगवान्‌को भूल जाओ तो त्रिलोकीका राज्य मिलेगा तो वह इसे भी ठुकरा देगा। भागवतमें आया है—

त्रिभुवनविभवहेतवेऽप्यकुण्ठस्मृतिरजितात्मसुरादिभिर्विमृग्यात्।
न चलति भगवत्पदारविन्दाल्लवनिमिषार्धमपि यः स वैष्णवाग्र्यः॥
(श्रीमद्भा० ११। २। ५३)

'तीनों लोकोंके समस्त ऐश्वर्यके लिये भी उन देवदुर्लभ भगवच्चरणकमलोंको जो आधे निमेषके लिये भी नहीं त्याग सकते, वे ही श्रेष्ठ भगवद्भक्त हैं।'

न पारमेष्ठ्यं न महेन्द्रधिष्ण्यं न सार्वभौमं न रसाधिपत्यम्।
न योगसिद्धीरपुनर्भवं वा मय्यर्पितात्मेच्छति मद् विनान्यत्॥
(श्रीमद्भा० ११। १४। १४)

'भगवान् कहते हैं कि स्वयंको मेरे अर्पित करनेवाला भक्त मुझे छोड़कर ब्रह्माका पद, इन्द्रका पद, सम्पूर्ण पृथ्वीका राज्य,

पातालादि लोकोंका राज्य, योगकी समस्त सिद्धियाँ और मोक्षको भी नहीं चाहता ।'

भरतजी कहते हैं—

अरथ न धरम न काम रुचि गति न चहउँ निरवान ।
जनम जनम रति राम पद यह बरदानु न आन ॥
(मानस २ । २०४)

सम्बन्ध—

इस अत्यन्त गोपनीय रहस्यको अनधिकारियोंके सामने कहनेका निषेध करनेके लिये कृपालु भगवान् अगला श्लोक कहते हैं ।

श्लोक—

इदं ते नातपस्काय नाभक्ताय कदाचन ।
न चाशुश्रूषवे वाच्यं न च मां योऽभ्यसूयति ॥ ६७ ॥

व्याख्या—

'इदम्'—पिछले (छाछठवें) श्लोकमें आये 'सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज'—इस सर्वगुह्यतम रहस्यके लिये यहाँ 'इदम्' पद आया है ।

'नातपस्काय'—जो सहिष्णु अर्थात् सहनशील नहीं है, उसको यह सर्वगुह्यतम रहस्य नहीं कहना चाहिये । यह सहिष्णुता चार प्रकारकी होती है—

(१) द्वन्द्वसहिष्णुता—राग-द्वेष, हर्ष-शोक, सुख-दुःख, मान-अपमान, निन्दा-स्तुति आदि द्वन्द्वोंसे रहित हो जाना—'ते

द्वन्द्वमोहनिर्मुक्ताः' (गीता ७ । २८); 'द्वन्द्वैर्विमुक्ताः सुखदुःखसंज्ञैः' (गीता १५ । ५)।

(२) वेगसहिष्णुता—काम, क्रोध, लोभ, द्वेष आदिके वेगोंको उत्पन्न न होने देना—'कामक्रोधोद्भवं वेगम्' (गीता ५ । २३)।

(३) परमतसहिष्णुता—दूसरोंके मतकी युक्ति, प्रमाण आदिकी महिमा सुनकर अपने मतमें सन्देह न होना और उनके मतसे उद्विग्न न होना*—'एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति' (गीता ५ । ५)।

(४) परोत्कर्षसहिष्णुता—अपनेमें योग्यता, अधिकार, पद, त्याग, तपस्या आदिकी कमी है, तो भी दूसरोंकी योग्यता, अधिकार आदिकी प्रशंसा सुनकर अपनेमें कुछ भी विकार न होना—'विमत्सरः' (गीता ४ । २२); 'हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तः' (गीता १२ । १५)।

ये चारों सहिष्णुताएँ सिद्धोंमें हैं। ये सहिष्णुताएँ जिसका लक्ष्य हों, वही तपस्वी है और जिसका लक्ष्य न हो, वही अतपस्वी है।

ऐसे अतपस्वी अर्थात् असहिष्णु† को सर्वगुह्यतम रहस्य न सुनानेका मतलब है कि 'सम्पूर्ण धर्मोंको मेरेमें अर्पण करके ए

* आपसमें मतभेद होना और अपने मतके अनुसार साधन करके जीवन बनाना दोषी नहीं है, प्रत्युत दूसरोंके मतको बुरा समझना, उनके मतसे घृणा होना ही दोषी है।

† असहिष्णुता और असूयामें थोड़ा अन्तर है। दूसरोंकी विशेषताको न सहना 'असहिष्णुता' है और दूसरोंके गुणोंमें दोष देखना 'असूया' है।

अनन्यभावसे मेरी शरण आ जा'—इस बातको सुनकर उसके मनमें कोई विपरीत भावना या दोष आ जाय तो वह मेरी इस सर्वगुह्यतम बातको सह नहीं सकेगा और इसका निरादर करेगा, जिससे उसक पतन हो जायगा ।

दूसरा भाव यह है कि जिसका अपनी वृत्तियों, आचरणों भावों आदिको शुद्ध करनेका उद्देश्य नहीं है, वह यदि मेरी 'तू मेरी शरणमें आ जा, मैं तुझे सम्पूर्ण पापोंसे मुक्त कर दूँगा, तू चिन्त मत कर'—इन बातोंको सुनेगा तो 'मैं चिन्ता क्यों करूँ ? चिन्त भगवान् करेंगे' ऐसा उलटा समझकर दुर्गुण-दुराचारोंमें लग जायग और अपना अहित कर लेगा । इससे मेरी सर्वगुह्यतम बातव दुरुपयोग होगा । इस वास्ते इसे कुपात्रको कभी मत सुनाना ।

'नाभक्ताय'—जो भक्तिसे रहित है, जिसका भगवान्प भरोसा, श्रद्धा-विश्वास नहीं है, उसको भी यह बात मत कहना क्योंकि श्रद्धा-विश्वास और भक्ति न होनेसे उसकी यह विपरी धारणा (गीता १८ । ३२) हो सकती है कि भगवान् त आत्मश्लाघी है, स्वार्थी है और दूसरोंको वशमें करना चाहता है; दूसरोंको अपनी आज्ञामें चलाना चाहता है, वह दूसरोंको क्या निहा करेगा ? उसके शरण होनेसे क्या फायदा ? आदि-आदि । इ प्रकार दुर्भाव करके वह अपना पतन कर लेगा । इस वास्ते ऐ अभक्तको कभी मत कहना ।

'न चाशुश्रूषवे वाच्यम्'—जो इस रहस्यको सुनना नह चाहता, इसकी उपेक्षा करता है, उसको भी कभी मत सुनाना

क्योंकि बिना रुचिके, जबर्दस्ती सुनानेसे वह इस बातका तिरस्कार करेगा, उसको सुनना अच्छा नहीं लगेगा; उसका मन इस बातको फेंकेगा। यह भी उसका एक अपराध होगा। अपराध करनेवालेका भला नहीं होता। इस वास्ते जो सुनना नहीं चाहता, उसको मत सुनाना।

'न च मां योऽभ्यसूयति'—जो गुणोंमें दोषारोपण करता है, उसको भी मत सुनाना; क्योंकि उसका अन्तःकरण अत्यधिक मलिन होनेके कारण वह भगवान्‌की बात सुनकर उल्टे उनमें दोषारोपण ही करेगा।

मनुष्यमें यह एक दोषदृष्टि रहनेसे वह कितने महान् लाभसे वंचित हो जाता है और अपना पतन कर लेता है। इस वास्ते दोषदृष्टि करना बड़ा भारी दोष है। यह दोष श्रद्धालुओंमें भी रहता है। अतः साधकको सावधान होकर इस भयंकर दोषसे बचते रहना चाहिये। भगवान्‌ने भी इसीलिये (गीता ३। ३१ में) जहाँ अपना मत बताया, वहाँ 'श्रद्धावन्तोऽनसूयन्तः' पदोंसे यह बात कही कि श्रद्धायुक्त और दोषदृष्टिसे रहित पुरुष कर्मोंसे छूट जाता है। ऐसे ही गीताके माहात्म्य (गीता १८। ७१) में भी 'श्रद्धावाननसूयश्च' पदोंसे यह बताया कि श्रद्धावान् और दोषदृष्टिसे रहित मनुष्य केवल गीताको सुननेमात्रसे वैकुण्ठ आदि लोकोंको चला जाता है।

इस गोपनीय रहस्यको लोगोंसे मत कहना—यह कहनेका तात्पर्य दूसरोंको इस गोपनीय तत्त्वसे वंचित रखन

प्रत्युत जिसकी भगवान् और उनके वचनोंपर श्रद्धा-भक्ति नहीं है, वह भगवान्‌को स्वार्थी समझकर (जैसे साधारण मनुष्य अपने स्वार्थके लिये ही किसीको स्वीकार करते हैं), भगवान्‌पर दोषारोपण करके महान् पतनकी तरफ न चला जाय, इस वास्ते उसको कहनेका निषेध किया है ।

सम्बन्ध—

गीताजीका यह प्रभाव है कि जो इसका प्रचार करेगा, उससे बढ़कर मेरा प्यारा कोई नहीं होगा—यह बतानेके लिये भगवान् अगले दो श्लोक कहते हैं ।

श्लोक—

य इमं परमं गुह्यं मद्भक्तेष्वभिधास्यति ।
भक्तिं मयि परां कृत्वा मामेवैष्यत्यसंशयः ॥ ६८ ॥

व्याख्या—

'य इमं परमं गुह्यम्'—इन पदोंसे पूरी गीताका परमगुह्य संवाद लेना चाहिये, जो कि गीता-ग्रन्थ कहलाता है । **'परमं गुह्यम्'** पदोंमें ही गुह्य, गुह्यतर, गुह्यतम और सर्वगुह्यतम—ये सब बातें आ जाती हैं । भगवान् कहते हैं कि जो मेरेमें पराभक्ति करके इस परम गुह्य संवादको मेरे भक्तोंमें कहेगा, वह मेरेको प्राप्त होगा, इसमें कोई सन्देह नहीं है ।

'मद्भक्तेष्वभिधास्यति'—जिनकी भगवान् और उनके वचनोंमें पूज्यबुद्धि है, आदर बुद्धि है, श्रद्धा-विश्वास है और सुनना चाहता है, वह भक्त हो गया । ऐसे मेरे भक्तोंमें जो इस संवादको कहेगा, वह मेरेको प्राप्त होगा ।

पिछले श्लोकमें 'नाभक्ताय' पदमें एकवचन दिया और यहाँ 'मद्भक्तेषु' पदमें बहुवचन दिया। इसका तात्पर्य है कि जहाँ बहुत-से श्रोता सुनते हों, वहाँ पहले बताये दोषोंवाला कोई व्यक्ति बैठा हो तो वक्ताके लिये पहले वह निषेध लागू नहीं पड़ेगा; क्योंकि वक्ता केवल उस (दोषी) व्यक्तिको गीता सुनाता ही नहीं। जैसे कोई कबूतरोंको अनाजके दाने डालता है और कबूतर दाने चुगते हैं। यदि उनमें कोई कौआ आकर दाने चुगने लग जाय तो उसको उड़ाया थोड़े ही जा सकता है। क्योंकि दाना डालनेवालेका लक्ष्य कबूतरोंको दाना डालना ही रहता है, कौओंको नहीं। ऐसे ही कोई गीताका प्रवचन कर रहा है और उस प्रवचनको सुननेके लिये कोई नया व्यक्ति आ जाय अथवा कोई उठकर चल दे तो वक्ताका ध्यान उसकी तरफ नहीं रहता। वक्ताका ध्यान तो सुननेवाले लोगोंकी तरफ होता है और उन्हींको वह सुनाता है।

'भक्तिं मयि परां कृत्वा'—मेरेमें पराभक्ति करके इस गीताको कहता है। इसका तात्पर्य है कि जो रुपये, मान-बड़ाई, भेंट-पूजा, आदर-सत्कार आदि किसी भी कामके लिये नहीं कहता, प्रत्युत भगवान्‌में भक्ति हो जाय, भगवान्‌का चिन्तन हो जाय, इन भावोंका प्रचार हो जाय, इनकी जागृति हो जाय, दुनियाके लोगोंका दुःख, जलन, सन्ताप आदि दूर हो जाय, इनका कल्याण हो जाय—ऐसे उद्देश्यसे कहता है। इस प्रकार भगवान्‌की भक्तिका उद्देश्य रखकर कहना ही पराभक्ति करके कहना है।

इसी अध्यायके चौवनवें श्लोकमें कही गयी और इस श्लोकमें कही गयी पराभक्तिमें अन्तर है। वहाँ 'मद्भक्तिं लभते पराम्' पदोंसे कहा गया है कि ब्रह्मभूत होनेके बाद सांख्ययोगी पराभक्तिको प्राप्त हो जाता है अर्थात् भगवान्‌से जो अनादिकालका सम्बन्ध है, उसकी स्मृति हो जाती है। परंतु यहाँ सांसारिक मान-बड़ाई आदि किसीकी भी किञ्चिन्मात्र कामना न रखकर केवल भगवद्भक्तिकी, भगवत्प्रेमकी अभिलाषा रखना पराभक्ति है, इस वास्ते यहाँ 'भक्तिं मयि परां कृत्वा' 'मेरेमें पराभक्ति करके'—ऐसा कहा गया है।

'मामेवैष्यत्यसंशयः'—जब गीता सुनानेवालेका केवल मेरा ही उद्देश्य होगा तो वह मेरेको प्राप्त हो जायगा, इसमें कोई सन्देहकी बात नहीं है। कारण कि गीताकी यह एक विचित्र कला है कि मनुष्य अपने स्वाभाविक कर्मोंसे भी परमात्माका निष्कामभावपूर्वक पूजन करता हुआ परमात्माको प्राप्त हो जाता है (१८। ४६), और जो खाना-पीना, शौच-स्नान आदि शारीरिक कार्योंको भी भगवान्‌के अर्पण कर देता है, वह भी शुभ-अशुभ फलरूप कर्मबन्धन-से मुक्त होकर भगवान्‌को प्राप्त हो जाता है*। तो फिर जो केवल

---

* यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्॥
शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः।
संन्यासयोगयुक्तात्मा विमुक्तो मामुपैष्यसि॥
(गीता ९। २७-२८)

भगवान्‌की भक्तिका लक्ष्य करके गीताका प्रचार करता है, वह भगवान्‌को प्राप्त हो जाय, इसमें कहना ही क्या है!

श्लोक—

न च तस्मान्मनुष्येषु कश्चिन्मे प्रियकृत्तमः ।
भविता न च मे तस्मादन्यः प्रियतरो भुवि ॥ ६९ ॥

व्याख्या—

'न च तस्मान्मनुष्येषु कश्चिन्मे प्रियकृत्तमः'—जो अपनेमें लौकिक-पारलौकिक प्राकृत पदार्थोंकी महत्ता, इच्छा, आवश्यकता रखता है और रखना चाहता है, वह पराभक्ति (१८ । ६८)के अन्तर्गत नहीं आ सकता। पराभक्तिके अन्तर्गत वही आ सकता है, जिसका प्राकृत पदार्थोंको प्राप्त करनेका किञ्चिन्मात्र भी उद्देश्य नहीं है और जो भगवत्प्राप्ति, भगवद्दर्शन, भगवत्प्रेम आदि पारमार्थिक उद्देश्य रखकर गीताके अनुसार ही अपना जीवन बनाना चाहता है। ऐसा पुरुष ही भगवद्गीताके प्रचारका अधिकारी होता है। यदि उसमें कभी मान-बड़ाई आदिकी इच्छा भी आ जाय तो वह टिकेगी नहीं; क्योंकि मान-बड़ाई आदि प्राप्त करना उसका उद्देश्य नहीं है।

भगवान्‌के भक्तोंमें गीताका प्रचार करनेवाले उपर्युक्त अधिकारी पुरुषके लिये ही 'तस्मात्' पद देकर भगवान् कहते हैं कि उसके समान मनुष्योंमें मेरा प्रियकृत्तम अर्थात् अत्यन्त प्रिय कार्य करनेवाला कोई भी नहीं होगा; क्योंकि गीता-प्रचारके समान दूसरा मेरा कोई प्रिय कार्य है ही नहीं।

'प्रियकृत्तमः' पदमें जो 'कृत्' पद आया है, उसका तात्पर्य है कि गीताका प्रचार करनेमें उसका अपना कोई स्वार्थ नहीं है

मान-बड़ाई, आदर-सत्कार आदिकी कोई कामना नहीं है; केवल भगवत्प्रीत्यर्थ गीताके भावोंका प्रचार करता है। इस वास्ते वह प्रियकृत्तम—भगवान्‌का अत्यन्त प्रिय कार्य करनेवाला है।

मनुष्योंमें प्रियकृत्तम कहनेका तात्पर्य है कि भगवान्‌का अत्यन्त प्यारा बननेके लिये मनुष्योंको ही अधिकार है। संसारमें कामनाओंकी पूर्ति कर लेना कोई महत्त्वकी, बहादुरीकी बात नहीं है। देवता, पशु-पक्षी, नारकीय जीव, कीट-पतङ्ग, वृक्ष-लता आदि सभी योनियोंमें कामनाकी पूर्ति करनेका अवसर मिलता है; परंतु कामनाका त्याग करके परमात्माकी प्राप्ति करनेका अवसर तो केवल मनुष्ययोनिमें ही मिलता है। इस मनुष्ययोनिको प्राप्त करके परमात्माकी प्राप्ति करनेसे, परमात्माका अत्यन्त प्यारा बननेसे ही मनुष्यजन्मकी सफलता है।

'भविता न च मे तस्मादन्यः प्रियतरो भुवि'—जिसमें अपनी मान-बड़ाईकी वासना है, कुछ स्वार्थभाव भी है और जिसका अपना उद्धार करनेका तथा गीताके अनुसार जीवन बनानेका उद्देश्य वैसा (प्रियकृत्तमके समान) नहीं बना है; परंतु उसके हृदयमें गीताका विशेष आदर है और गीताका पाठ करवाना, गीता कण्ठस्थ करवाना, गीता मुद्रित करके उसकी सस्ती बिक्री करना आदि किसी तरहसे गीताका प्रचार करता है और लोगोंको गीतामें लगाता है, उसके समान पृथ्वीमण्डलपर मेरा दूसरा कोई प्रियतर नहीं होगा।

अपने धर्म, सम्प्रदाय, सिद्धान्त आदिका प्रचार करनेवाला व्यक्ति भगवान्‌का प्रिय तो हो सकता है, पर प्रियतर नहीं होगा। प्रियतर तो किसी तरहसे गीताका प्रचार करनेवाला ही होगा।

भगवद्गीतामें अपना उद्धार करनेकी ऐसी-ऐसी विलक्षण, सुगम और सरल युक्तियाँ बतायी गयी हैं, जिनको मनुष्यमात्र अपने आचरणोंमें ला सकता है। तात्पर्य यह है कि जो गीताका आदर करता है, ऐसा मनुष्य हिंदू, मुसलमान, ईसाई, यहूदी, पारसी, बौद्ध आदि किसी भी धर्मको माननेवाला क्यों न हो; किसी भी देश, वेष, वर्ण, आश्रम, सम्प्रदाय आदिका क्यों न हो; अपनी रुचिके अनुसार किसी भी शैली, उपाय, सिद्धान्त, साधनको माननेवाला क्यों न हो, वह यदि अपना किसी तरहका आग्रह न रखकर, पक्षपात-विषमताको त्यागकर, किसी भी प्राणीको दुःख पहुँचानेवाली चेष्टाको त्यागकर, मनमें किसी भी लौकिक-पारलौकिक उत्पन्न और नष्ट होनेवाली वस्तुकी कामना न रखकर, अपना सम्प्रदाय, अपनी टोली बनानेका उद्देश्य न रखकर, केवल अपने कल्याणका उद्देश्य रखकर गीताके अनुसार चलता है (अकर्तव्यका सर्वथा त्याग करके प्राप्त परिस्थितिके अनुसार अपने-अपने कर्तव्यका लोकहितार्थ, निष्कामभावपूर्वक पालन करता है), तो वह भी जीविका-सम्बन्धी और खाना-पीना, सोना-जगना आदि शरीर-सम्बन्धी सब काम करते हुए परमात्माकी प्राप्ति कर सकता है, महान् आनन्द, महान् सुखको प्राप्त कर सकता है, जिसका वर्णन छठे अध्यायके बाईसवें श्लोकमें आया है*।

---

* यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः।
यस्मिन्स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते॥
(गीता ६।२२)

भावार्थ यह है कि जिस लाभको प्राप्त होकर उससे अधिक कोई लाभ हो सकता है—ऐसी मान्यता मनमें भी नहीं [illegible] उस

मान-बड़ाई, आदर-सत्कार आदिकी कोई कामना नहीं है; केवल भगवत्प्रीत्यर्थ गीताके भावोंका प्रचार करता है। इस वास्ते वह प्रियकृत्तम—भगवान्‌का अत्यन्त प्रिय कार्य करनेवाला है।

मनुष्योंमें प्रियकृत्तम कहनेका तात्पर्य है कि भगवान्‌का अत्यन्त प्यारा बननेके लिये मनुष्योंको ही अधिकार है। संसारमें कामनाओंकी पूर्ति कर लेना कोई महत्त्वकी, बहादुरीकी बात नहीं है। देवता, पशु-पक्षी, नारकीय जीव, कीट-पतङ्ग, वृक्ष-लता आदि सभी योनियोंमें कामनाकी पूर्ति करनेका अवसर मिलता है; परंतु कामनाका त्याग करके परमात्माकी प्राप्ति करनेका अवसर तो केवल मनुष्ययोनिमें ही मिलता है। इस मनुष्ययोनिको प्राप्त करके परमात्माकी प्राप्ति करनेसे, परमात्माका अत्यन्त प्यारा बननेसे ही मनुष्यजन्मकी सफलता है।

'भविता न च मे तस्मादन्यः प्रियतरो भुवि'—जिसमें अपनी मान-बड़ाईकी वासना है, कुछ स्वार्थभाव भी है और जिसका अपना उद्धार करनेका तथा गीताके अनुसार जीवन बनानेका उद्देश्य वैसा (प्रियकृत्तमके समान) नहीं बना है; परंतु उसके हृदयमें गीताका विशेष आदर है और गीताका पाठ करवाना, गीता कण्ठस्थ करवाना, गीता मुद्रित करके उसकी सस्ती बिक्री करना आदि किसी तरह गीताका प्रचार करता है और लोगोंको गीतामें लगाता है, उस समान पृथ्वीमण्डलपर मेरा दूसरा कोई प्रियतर नहीं होगा।

अपने धर्म, सम्प्रदाय, सिद्धान्त आदिका प्रचार करनेव व्यक्ति भगवान्‌का प्रिय तो हो सकता है, पर प्रियतर नहीं हो प्रियतर तो किसी तरहसे गीताका प्रचार करनेवाला ही होगा।

भगवद्गीतामें अपना उद्धार करनेकी ऐसी-ऐसी विलक्षण, सुगम और सरल युक्तियाँ बतायी गयी हैं, जिनको मनुष्यमात्र अपने आचरणोंमें ला सकता है। तात्पर्य यह है कि जो गीताका आदर करता है, ऐसा मनुष्य हिंदू, मुसलमान, ईसाई, यहूदी, पारसी, बौद्ध आदि किसी भी धर्मको माननेवाला क्यों न हो; किसी भी देश, वेश, वर्ण, आश्रम, सम्प्रदाय आदिका क्यों न हो; अपनी रुचिके अनुसार किसी भी शैली, उपाय, सिद्धान्त, साधनको माननेवाला क्यों न हो, वह यदि अपना किसी तरहका आग्रह न रखकर, पक्षपात-विषमताको त्यागकर, किसी भी प्राणीको दुःख पहुँचानेवाली चेष्टाको त्यागकर, मनमें किसी भी लौकिक-पारलौकिक उत्पन्न और नष्ट होनेवाली वस्तुकी कामना न रखकर, अपना सम्प्रदाय, अपनी टोली बनानेका उद्देश्य न रखकर, केवल अपने कल्याणका उद्देश्य रखकर गीताके अनुसार चलता है (अकर्तव्यका सर्वथा त्याग करके प्राप्त परिस्थितिके अनुसार अपने-अपने कर्तव्यका लोकहितार्थ, निष्कामभावपूर्वक पालन करता है), तो वह भी जीविका-सम्बन्धी और खाना-पीना, सोना-जगना आदि शरीर-सम्बन्धी सब काम करते हुए परमात्माकी प्राप्ति कर सकता है, महान् आनन्द, महान् सुखको प्राप्त कर सकता है, जिसका वर्णन छठे अध्यायके बाईसवें श्लोकमें आया है*।

---

* यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः।
यस्मिन्स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते॥

(गीता ६।२२)

भावार्थ यह है कि जिस लाभको प्राप्त करके उससे अधिक कोई लाभ हो सकता है—ऐसी मान्यता स्वप्नमें भी नहीं होती, उस

गीता वेष, आश्रम, अवस्था, क्रिया आदिका परिवर्तन करनेके लिये नहीं कहती, प्रत्युत परिमार्जन करनेके लिये कहती है अर्थात् केवल अपने भाव और उद्देश्यको शुद्ध बनानेके लिये कहती है। गीताकी ऐसी युक्तियोंको जो भगवान्‌की तरफ चलनेवाले भक्तोंमें कहेगा, तो उन भक्तोंको पारमार्थिक मार्गमें बढ़नेकी युक्तियाँ मिलेंगी, शंकाओंका समाधान होगा, साधनकी उलझनें सुलझेंगी, पारमार्थिक मार्गकी बाधाएँ दूर होंगी, जिससे वे उत्साहसे सुगमतापूर्वक बहुत ही जल्दी अपने लक्ष्यको प्राप्त कर सकेंगे। इस वास्ते वह भगवान्‌को सबसे अत्यधिक प्यारा होगा; क्योंकि भगवान् जीवके उद्धारसे बड़े राजी होते हैं, बड़े प्रसन्न होते हैं।

विशेष बात

कामना दो तरहकी होती है—पारमार्थिक और लौकिक।

(१) **पारमार्थिक कामना**—पारमार्थिक कामना दो तरहकी होती है—मुक्ति (कल्याण) की और भक्ति (भगवत्प्रेम) की।

जो मुक्तिकी कामना है, उसमें तत्त्वको जाननेकी इच्छा होती है, जिसे जिज्ञासा कहते हैं। वह जिज्ञासा जिसमें होती है, वह जिज्ञासु होता है। गहरा विचार किया जाय तो जिज्ञासा कामना

स्वाभाविकतामें अटल स्थित होनेपर मनुष्य बड़े भारी दुःखसे भी विचलित नहीं होता अर्थात् जीते-जी शरीरके टुकड़े-टुकड़े कर दिये जायँ, दो पहाड़ोंके बीचमें शरीर दबकर पिस जाय, शरीरमें तरह-तरहके छेद किये जायँ, शरीरकी चमड़ी उतारी जाय, उबलते हुए तेलमें शरीरको डाला जाय आदि-आदि भयंकर-से-भयंकर दुःखद परिस्थितिके प्राप्त हो जानेपर भी वह अपने स्वरूपसे कभी विचलित नहीं हो सकता।

नहीं है; क्योंकि वह अपने स्वरूपको अर्थात् तत्त्वको जानना चाहता है, जो वास्तवमें उसकी आवश्यकता है। आवश्यकता उसको कहते हैं, जो जरूर पूरी होती है और पूरी होनेपर फिर दूसरी आवश्यकता पैदा नहीं होती*। यह आवश्यकता सत्-विषयकी होती है।

दूसरी कामना प्रभु-प्रेमप्राप्तिकी होती है। उसको प्राप्ति तो कहते हैं, पर वास्तवमें वह प्राप्ति अपने लिये नहीं होती, प्रत्युत प्रभुके लिये ही होती है। उसमें अपना किंचिन्मात्र प्रयोजन नहीं रहता; प्रभुके समर्पित करना ही प्रयोजन रहता है। प्रेमी तो अपने-आपको प्रभुके समर्पित कर देता है, जो कि उसीका अंश है।†

---

* कामना वह होती है, जो कभी पूरी नहीं होती। एक कामना पूरी होनेपर फिर दूसरी कामना पैदा हो जाती है। जैसे, धनकी कामना हुई। जितना धन चाहता है, उतना धन मिल जाय तो फिर और अधिक धनकी कामना होती है। धनकी तरह ही मान-बड़ाईकी, जीनेकी, भोगकी, नीरोगताकी, यश-कीर्तिकी, स्त्री-पुत्रकी आदि-आदि उत्पत्ति-विनाशशील वस्तुओंकी कामना होती है। ये धनादि वस्तुएँ अपनी नहीं हैं; क्योंकि इनमेंसे कोई भी वस्तु स्वयंतक पहुँचती ही नहीं। इनकी कामनापूर्ति केवल शरीर और नामतक ही पहुँचती है। कामना असत्-विषयकी होती है। कामनापूर्तिके बाद फिर और कामना जाग्रत् हो जाती है, तो अपूर्ति ही बाकी रहती है। इस वास्ते कामना त्याज्य है; क्योंकि ये चीजें तो रहेंगी नहीं और उनकी पूर्तिके लिये की हुई कामना और प्रयत्न—ये दोनों ही निष्फल होंगे।

† मुक्तिकी अपेक्षा भक्तिकी कामना श्रेष्ठ है; क्योंकि मुक्त होना चाहता है और भक्तिमें भगवान्‌के समर्पित

ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति' (गीता ५ । २९) । यह तो सर्वसमर्थ और सर्वज्ञ परमात्माकी बात है । परन्तु जो न तो भगवान्‌के समान समर्थ है और न प्राणिमात्रके दुःखको जानता है, अर्थात् सर्वज्ञ है, फिर भी उसके हृदयमें केवल जीवोंके कल्याणकी उत्कट अभिलाषा जाग्रत हो गयी है और प्राणियोंके कल्याणके लिये भगवद्गीताका कथन करता है—प्रचार करता है । ऐसे उदार भाववाले भक्तको भगवान् अपनी प्राप्ति कराके भी सन्तोष नहीं करते । इस वास्ते भगवान्‌ने उस गीता-प्रचारककी महिमा गायी है ।

सम्बन्ध—

जिसमें गीताका प्रचार करनेकी योग्यता नहीं है, वह क्या करे ? इसको भगवान् अगले श्लोकमें बताते हैं ।

श्लोक—

अध्येष्यते च य इमं धर्म्यं संवादमावयोः ।
ज्ञानयज्ञेन तेनाहमिष्टः स्यामिति मे मतिः ॥७०॥

व्याख्या—

'अध्येष्यते च य इमं धर्म्यं संवादमावयोः'—'तुम्हारा और हमारा यह धर्ममय अर्थात् धर्मसे परिपूर्ण संवाद' कहनेका तात्पर्य है कि यह बहुत विचित्र बात है कि परस्पर साथ रहते हुए तुम्हारे-हमारे बहुत वर्ष बीत गये; परन्तु हम दोनोंका ऐसा संवाद कभी नहीं हुआ । ऐसा संवाद तो कोई विलक्षण अलौकिक अवसर आनेपर ही होता है ।

जबतक प्राणीकी संसारसे उकताहट न हो, वैराग्य या उपरति न हो और हृदयमें जोरदार हलचल न मची हो, तबतक उसकी

असली जिज्ञासा जाग्रत् नहीं होती । किसी कारणवश जब यह प्राणी अपने कर्तव्यका निर्णय करनेके लिये व्याकुल हो जाता है, जब अपने कल्याणके लिये कोई रास्ता नहीं दीखता, बिना समाधानके और कोई सांसारिक वस्तु, व्यक्ति, घटना, परिस्थिति आदि किञ्चिन्मात्र भी अच्छी नहीं लगती, एकमात्र हृदयका सन्देह दूर करनेकी धुन चटपटी लग जाती है, एक जोरदार जिज्ञासा होती है और दूसरी तरफसे मन सर्वथा हट जाता है; तब यह प्राणी, जहाँसे प्रकाश और समाधान मिलनेकी सम्भावना होती है, वहाँ अपना हृदय खोलकर बात पूछता है, प्रार्थना करता है, शरण हो जाता है, शिष्य हो जाता है ।

पूछनेवालेके मनमें जैसी-जैसी उत्कण्ठा बढ़ती है, कहनेवालेके मनमें वैसे-वैसे बड़े विचित्रता और विलक्षणतासे समाधान करनेवाली बातें पैदा होती हैं । जैसे दूध पीनेके समय बछड़ा गायके थनोंपर मुँहसे बार-बार धक्का मारता है और थनोंसे दूध खींचता है तो गोमाताके शरीरमें रहनेवाला दूध थनोंमें एकदम उतर आता है । ऐसे ही मनमें जोरदार जिज्ञासा होनेसे जब जिज्ञासु बार-बार प्रश्न करता है तो कहनेवालेके मनमें नये-नये उत्तर पैदा होते है । सुननेवालेको ज्यों-ज्यों नई बातें मिलती हैं, त्यों-त्यो उसमें सुननेकी नई-नई [illegible] पैदा होती रहती है । तभी वक्ता और श्रोता—इन दोनोंका [illegible] बढ़िया होता है ।

अर्जुनने ऐसी उत्कण्ठासे पहले [illegible] भगवान्के मनमें भी ऐसी बातें कहनेकी [illegible]

अर्जुनने जिज्ञासापूर्वक 'स्थितप्रज्ञस्य का भाषा.........'(२ । ५४) —यहाँसे पूछना प्रारम्भ किया, वहाँसे उन दोनोंका संवाद प्रारम्भ हुआ है*। इसमें वेदों तथा उपनिषदोंका सार और भगवान्‌के हृदयका असली भाव है, जिसको धारण करनेसे मनुष्य भयंकर-से-भयंकर परिस्थितिमें भी अपने मनुष्यजन्मके ध्येयको सुगमतापूर्वक सिद्ध कर सकता है। प्रतिकूल-से-प्रतिकूल परिस्थिति आनेपर भी घबराये नहीं, प्रत्युत प्रतिकूल परिस्थितिका आदर करते हुए उसका सदुपयोग करे अर्थात् अनुकूलताकी इच्छाका त्याग करे; क्योंकि प्रतिकूलता पहले किये पापोंका नाश करने और आगे अनुकूलताकी इच्छाका त्याग करनेके लिये ही आती है। अनुकूलताकी इच्छा जितनी ज्यादा होगी, उतनी ही प्रतिकूल अवस्था भयंकर होगी। अनुकूलताकी इच्छाका ज्यों-ज्यों त्याग होता जायगा, त्यों-त्यों अनुकूलताका राग और प्रतिकूलताका भय मिटता जायगा। राग और भय—दोनोंके मिटनेसे समता आ जायगी। समता परमात्माका साक्षात् स्वरूप है। गीतामें समताकी बात विशेषतासे बतायी गयी है और गीताने इसीको योग कहा है। इस प्रकार कर्मयोग, ज्ञानयोग, भक्तियोग, ध्यानयोग,

---

* यद्यपि भगवान्‌का उपदेश दूसरे अध्यायके ग्यारहवें श्लोकसे प्रारम्भ हुआ है, तथापि भगवान् और अर्जुनका संवाद चौवनवें श्लोकसे ही प्रारम्भ हुआ है। उपदेशके आरम्भमें भगवान्‌ने पहले सांख्ययोगका वर्णन किया, जिसका उपसंहार 'एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धिः' (२ । ३९) पदोंमें किया। फिर 'योगे त्विमां शृणु' (२ । ३९) पदोंसे कर्मयोगका वर्णन आरम्भ किया, जिसका उपसंहार 'तदा योगमवाप्स्यसि' (२ । ५३) पदोंमें किया। इसके बाद अर्जुनने पूछना आरम्भ किया।

प्राणायाम आदिकी विलक्षण-विलक्षण बातोंका इसमें वर्णन हुआ है।

'अध्येष्यते' का तात्पर्य है कि ऐसा तेरा-मेरा संवाद कोई ज्यों-ज्यों पढ़ेगा, पाठ करेगा, याद करेगा, उसके भावोंको समझनेका प्रयास करेगा, त्यों-ही-त्यों उसके हृदयमें तेरी तरह उत्कण्ठा बढ़ेगी। वह ज्यों-ज्यों समझेगा, त्यों-त्यों उसकी शङ्काका समाधान होगा। ज्यों-ज्यों समाधान होगा, त्यों-त्यों इसमें अधिक रुचि पैदा होगी। ज्यों-ज्यों रुचि अधिक पैदा होगी, त्यों-त्यों गहरेभाव उसकी समझमें आयेंगे और फिर वे भाव उसके आचरणोंमें, क्रियाओंमें, बर्तावमें आने लगेंगे। आदरपूर्वक आचरण करनेसे वह गीताकी मूर्ति बन जायगा, उसका जीवन गीतारूपी साँचेमें ढल जायगा अर्थात् वह चलती-फिरती भगवद्गीता हो जायगी। उसको देखकर लोगोंको गीताकी याद आने लगेगी, वैसे ही जैसे निषादराज गुहको देखकर माताओंको और दूसरे लोगोंको लखनलालकी याद आती है*।

'ज्ञानयज्ञेन तेनाहमिष्टः स्याम्'—यज्ञ दो प्रकारके होते हैं—द्रव्ययज्ञ और ज्ञानयज्ञ। जो यज्ञ पदार्थ और क्रियाओंकी प्रधानतासे किया जाता है, वह 'द्रव्ययज्ञ' कहलाता है; और उत्कण्ठासे केवल अपनी आवश्यक वास्तविकताको जाननेके लिये जो प्रश्न किये जाते हैं, विज्ञ पुरुषोंद्वारा उनका समाधान किया

* जानि लखन सम देहिं असीसा। जिअहु सुखी सय लाख बरीसा॥
निरखि निषादु नगर नर नारी। भए सुखी जनु लखनु निहारी॥
(मानस २। १९९। २)

जाता है, उनपर गहरा विचार किया जाता है, विचारके अनुसार अपनी वास्तविक स्थिति बनायी जाती है तथा वास्तविक तत्त्वको जानकर कृतकृत्य हो जाता है, वह 'ज्ञानयज्ञ' कहलाता है। परंतु यहाँ भगवान् अर्जुनसे कहते हैं कि तुम्हारे-हमारे संवादका कोई पाठ करेगा तो मैं उसके द्वारा भी ज्ञानयज्ञसे पूजित हो जाऊँगा। इसमें कारण यह है कि जैसे प्रेमी भक्तको कोई भगवान्‌की बात सुनाये, उसकी याद दिलाये तो वह बड़ा प्रसन्न होता है, ऐसे ही कोई गीताका पाठ करे, अभ्यास करे तो भगवान्‌को अपने अनन्य भक्तकी, उसकी उत्कण्ठापूर्वक जिज्ञासाकी और उसे दिये हुए उपदेशकी याद आ जाती है और वे बड़े प्रसन्न होते हैं। उस पाठ, अभ्यास आदिको ज्ञानयज्ञ मानकर उससे पूजित होते हैं। कारण कि पाठ, अभ्यास आदि करनेवालेके हृदयमें उसके भावोंके अनुसार भगवान्‌का नित्यज्ञान विशेषतासे स्फुरित होने लगता है।

'इति मे मतिः'—ऐसी मेरी मति है—यह कहनेका तात्पर्य है कि जब कोई गीताका पाठ करता है तो मैं उसको सुनता हूँ; क्योंकि मैं सब जगह रहता हूँ—**'मया ततमिदं सर्वम्'** (गीता ९ । ४) और सब जगह ही मेरे कान हैं—**'सर्वतःश्रुतिमल्लोके'** (गीता १३ । १३)। अतः उस पाठको सुनते ही मेरे हृदयमें विशेषतासे ज्ञान, प्रेम, दया आदिका समुद्र लहराने लगता है और उसकी यादमें मेरी बुद्धि सराबोर हो जाती है। वह पूजन करता है—ऐसी बात नहीं है, वह तो पाठ करता है। परंतु मैं उससे पूजित हो जाता हूँ अर्थात् उसको ज्ञानयज्ञका फल मिल जाता है।

दूसरा भाव यह है कि पाठ करनेवाला यदि उतने गहरे भावोंमें नहीं उतरता, केवल पाठमात्र या यादमात्र करता है, तो भी उससे मेरे हृदयमें तेरे और मेरे सारे संवादकी (उत्कण्ठापूर्वक किये गये तेरे प्रश्नोंकी और मेरे दिये हुए गहरे वास्तविक उत्तरोंकी) एक गहरी मीठी-मीठी स्मृति बार-बार आने लगती है। इस प्रकार गीताका अध्ययन करनेवाला मेरी बड़ी भारी सेवा करता है, ऐसा मैं मान लेता हूँ और मेरी बुद्धि तत्क्षण वैसी हो जाती है।

विदेशमें किसी जगह एक जलसा हो रहा था। उसमें बहुत-से लोग इकट्ठे हुए थे। एक पादरी उस जलसेमें एक लड़केको ले आया। वह लड़का पहले नाटकमें काम करता था। पादरीने उसके घरवालोंको पैसे देकर उसको मोल ले लिया था। पादरीने उस लड़केको दस-पन्द्रह मिनटका एक बहुत बढ़िया व्याख्यान सिखाया। साथ ही ढंगसे उठना, बैठना, खड़े होना, इधर-उधर ऐसा-ऐसा देखना आदि व्याख्यानकी कला भी सिखायी। व्याख्यानमें बड़े ऊँचे दर्जेकी अंग्रेजीका प्रयोग किया गया था। व्याख्यानका विषय भी बहुत गहरा था। पादरीने व्याख्यान देनेके लिये उस बालकको टेबुलपर खड़ा कर दिया। बच्चा खड़ा हो गया और बड़े मिजाजसे दायें-बायें देखने लगा और बोलनेकी जैसी-जैसी रिवाज है, वैसे-वैसे सम्बोधन देकर बोलने लगा। वह नाटकमें रहा हुआ था, उसको बोलना आता ही था। इस वास्ते वह गम्भीरतासे, मानो अर्थोंको समझते हुएकी मुद्रामें ऐसा [illegible] बोला कि जितने सदस्य बैठे थे, वे [illegible]

उछलने लगे। सदस्य इतने प्रसन्न हुए कि व्याख्यान पूरा होते ही वे रुपयोंकी बौछार करने लगे। अब वह बालक सभाके ऊपर-ऊपर ही घुमाया जाने लगा। उसको सब लोग अपने-अपने कन्धेपर लेने लगे। परन्तु उस बालकको यह पता ही नहीं था कि मैंने क्या कहा है! वह तो बेचारा ज्यादा पढ़ा-लिखा नहीं था और अंग्रेजीके भावोंको भी पूरा नहीं समझता था, पर सभावाले सभी लोग समझते थे। इसी प्रकार कोई गीताका अध्ययन करता है, पाठ करता है, तो वह भले ही उसके अर्थको, भावोंको न समझे, पर भगवान् तो उसके अर्थको, भावोंको समझते हैं। इस वास्ते भगवान् कहते हैं कि मैं उसके अध्ययनरूप, पाठरूप ज्ञानयज्ञसे पूजित हो जाता हूँ। सभामें जैसे बालकके व्याख्यानसे सभापति तो खुश हुआ ही, पर उसके साथ-साथ सभासद् भी बड़े खुश हुए और उत्साहपूर्वक बच्चेका आदर करने लगे, ऐसे ही गीतापाठ करनेवालेसे भगवान् ज्ञानयज्ञसे पूजित होते हैं तथा स्वयं वहाँ निवास करते हैं, साथ-ही-साथ प्रयाग आदि तीर्थ, देवता, ऋषि, योगी, दिव्य नाग, गोपाल, गोपिकाएँ, नारद, उद्धव आदि भी वहाँ निवास करते हैं *।

* गीतायाः पुस्तकं यत्र यत्र पाठः प्रवर्तते।
तत्र सर्वाणि तीर्थानि प्रयागादीनि तत्र वै॥
सर्वे देवाश्च ऋषयो योगिनः पन्नगाश्च ये।
गोपाला गोपिका वापि नारदोद्धवपार्षदैः।
सहायो जायते शीघ्रं यत्र गीता प्रवर्तते॥
यत्र गीताविचारश्च पठनं पाठनं श्रुतम्।
तत्राहं निश्चितं पृथ्वि निवसामि सदैव हि॥

सम्बन्ध—

जो गीताका प्रचार और अध्ययन भी न कर सके, तो वह क्या करे ? इसके लिये अगले श्लोकमें उपाय बताते हैं ।

श्लोक—

श्रद्धावाननसूयश्च शृणुयादपि यो नरः।
सोऽपि मुक्तः शुभाँल्लोकान्प्राप्नुयात्पुण्यकर्मणाम् ॥ ७१ ॥

व्याख्या—

'*श्रद्धावाननसूयश्च शृणुयादपि यो नरः*'—गीताकी बातोंको जैसा सुन ले, उसको प्रत्यक्षसे भी बढ़कर पूज्यभावसहित वैसा-का-वैसा माननेवालेका नाम 'श्रद्धावान्' है, और उन बातोंमें कहीं भी किसी भी विषयमें किञ्चिन्मात्र भी कमी न देखनेवालेका नाम 'अनसूयः' है । ऐसा श्रद्धावान् और दोषदृष्टिसे रहित पुरुष गीताको केवल सुन भी ले, तो वह भी सम्पूर्ण पापोंसे मुक्त होकर पुण्य-कारियोंके शुभ लोकोंको प्राप्त कर लेता है—'सोऽपि मुक्तः शुभाँल्लोकान् प्राप्नुयात् पुण्यकर्मणाम्' ।

यहाँ दो बार 'अपि' पद देनेका तात्पर्य है कि जो गीताका प्रचार करता है, अध्ययन करता है, उसके लिये तो कहना ही क्या है ! पर जो सुन भी लेता है, वह पुरुष भी पापोंसे छूटकर शुभ लोकोंको प्राप्त हो जाता है ।

मनुष्यकी वाणीमें प्रायः भ्रम, प्रमाद, लिप्सा और करणा-पाटव—ये चार दोष होते हैं* । अतः मनुष्यकी वाणी सर्वथा

* (१) वक्ता जिस विषयका प्रतिपादन करते हैं, उस विषयमें वह बिल्कुल निःसन्देह न हो, उसे 'भ्रम' कहते हैं; (२) वक्ता विषयमें

निर्भ्रान्त (भ्रान्तिरहित) नहीं हो सकती। परंतु भगवान्‌की दिव्य वाणीमें इन चारोंमेंसे कोई भी दोष नहीं रह सकता; क्योंकि भगवान् निर्दोषताकी परावधि हैं अर्थात् भगवान्‌से बढ़कर निर्दोषता किसीमें कभी होती ही नहीं। इस वास्ते भगवान्‌के वचनोंमें किसी प्रकारके संशयकी सम्भावना ही नहीं है। अतः गीता सुननेवालेको कोई विषय समझमें कम आये, विचारद्वारा कोई बात न जँचे, तो समझना चाहिये कि इस विषयको समझनेमें मेरी बुद्धिकी कमी है, मैं समझ नहीं पा रहा हूँ—इस भावको दृढ़तासे धारण करनेपर असूया दोष मिट जाता है। भगवान्‌में अत्यधिक श्रद्धा-विश्वासपूर्वक भक्ति होनेपर भी असूया दोष नहीं रहता।

चैतन्य महाप्रभुका एक भक्त था। वह रोज गीताका पाठ करते हुए मस्त हो जाता था, गद्‌गद हो जाता था और रोने लगता था। वह शुद्ध पाठ नहीं करता था, उसके पाठमें अशुद्धियाँ आती थीं। उसके विषयमें किसीने चैतन्य महाप्रभुसे शिकायत कर दी कि 'देखिये प्रभु, वह बड़ा पाखण्ड करता है; पाठ तो शुद्ध करता नहीं और रोता रहता है।' चैतन्य महाप्रभुने उसको अपने पास बुलाकर

आलस्य, उपेक्षा, उदासीनता, तत्परताकी कमी, लोग समझें या न समझें—इसकी बेपरवाह करता है, उसे 'प्रमाद' कहते हैं; (३) वक्ताकी रुपये-पैसे, मान-बड़ाई, आदर-सत्कार, सुख-आराम आदि लौकिक-पारलौकिक कुछ भी पानेकी इच्छा है, उसे 'लिप्सा' कहते हैं; और (४) वक्ता जिन इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, वाणी आदिसे अपने भाव प्रकट करता है, उन करणोंमें पटुता, कुशलता नहीं है और वह श्रोताकी भाषा, भाव, योग्यताको नहीं जानता, उसे 'करणापाटव' कहते हैं।

पूछा—'तुम गीताका पाठ करते हो, तो क्या उसका अर्थ जानते हो?' उसने कहा—'नहीं प्रभु!' फिर पूछा—'तो फिर तुम रोते क्यों हो?' उसने कहा—'मैं जब 'अर्जुन उवाच' पढ़ता हूँ, तो अर्जुन भगवान्‌से पूछ रहे हैं—ऐसा मेरेको प्रत्यक्ष दीखता है और जब मैं 'श्रीभगवानुवाच' पढ़ता हूँ, तो भगवान् अर्जुनके प्रश्नोंका उत्तर दे रहे हैं—ऐसा मेरेको प्रत्यक्ष दीखता है। इस प्रकार भगवान् श्रीकृष्ण और अर्जुनका आपसमें संवाद हो रहा है—ऐसा प्रत्यक्ष दीखता है; परन्तु अर्जुन क्या पूछते हैं और भगवान् क्या उत्तर देते हैं, यह मेरी समझमें नहीं आता। मैं तो उन दोनोंके दर्शन कर-करके राजी होता हूँ।' उसकी ऐसी श्रद्धा-भक्ति देखकर चैतन्य महाप्रभु बहुत राजी हुए। इस प्रकारकी श्रद्धा-भक्तिवाला पुरुष गीताको केवल सुन भी लेता है, तो उसकी मुक्तिमें कोई सन्देह नहीं है। वह सम्पूर्ण पापोंसे मुक्त होकर पुण्यकारियोंके शुभ लोकोंको प्राप्त हो जाता है।

यहाँ 'पुण्यकर्मणाम्' पदसे सकामभावपूर्वक यज्ञ, अनुष्ठान आदि पुण्य-कर्म करनेवालोंको नहीं लेना चाहिये; क्योंकि भगवान्‌ने उनको ऊँचा नहीं माना है, प्रत्युत उनके बारेमें कहा है कि वे बार-बार आवागमनको प्राप्त होते हैं।* यहाँ उन पुण्यकर्मा भक्तोंको लेना चाहिये, जिनको भगवान्‌का प्रेम, दर्शन आदिकी प्राप्ति होती है।

* त्रैविद्या मां सोमपाः पूतपापा यज्ञैरिष्ट्वा स्वर्गतिं प्रार्थयन्ते।
ते पुण्यमासाद्य सुरेन्द्रलोकमश्नन्ति दिव्यान्दिवि देवभोगान्॥
ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति।
एवं त्रयीधर्ममनुप्रपन्ना गतागतं कामकामा लभन्ते॥
(गीता ९। २०-२१

निर्भ्रान्त (भ्रान्तिरहित) नहीं हो सकती। परंतु भगवान्‌की दिव्य वाणीमें इन चारोंमेंसे कोई भी दोष नहीं रह सकता; क्योंकि भगवान् निर्दोषताकी परावधि हैं अर्थात् भगवान्‌से बढ़कर निर्दोषता किसीमें कभी होती ही नहीं। इस वास्ते भगवान्‌के वचनोंमें किसी प्रकारके संशयकी सम्भावना ही नहीं है। अतः गीता सुननेवालेको कोई विषय समझमें कम आये, विचारद्वारा कोई बात न जँचे, तो समझना चाहिये कि इस विषयको समझनेमें मेरी बुद्धिकी कमी है, मैं समझ नहीं पा रहा हूँ—इस भावको दृढ़तासे धारण करनेपर असूया दोष मिट जाता है। भगवान्‌में अत्यधिक श्रद्धा-विश्वासपूर्वक भक्ति होनेपर भी असूया दोष नहीं रहता।

चैतन्य महाप्रभुका एक भक्त था। वह रोज गीताका पाठ करते हुए मस्त हो जाता था, गद्‌गद हो जाता था और रोने लगता था। वह शुद्ध पाठ नहीं करता था, उसके पाठमें अशुद्धियाँ आती थीं। उसके विषयमें किसीने चैतन्य महाप्रभुसे शिकायत कर दी कि 'देखिये प्रभु, वह बड़ा पाखण्ड करता है; पाठ तो शुद्ध करता नहीं और रोता रहता है।' चैतन्य महाप्रभुने उसको अपने पास बुलाकर

आलस्य, उपेक्षा, उदासीनता, तत्परताकी कमी, लोग समझें या न समझें—इसकी बेपरवाह करता है, उसे 'प्रमाद' कहते हैं; (३) वक्ताकी रुपये-पैसे, मान-बड़ाई, आदर-सत्कार, सुख-आराम आदि लौकिक-पारलौकिक कुछ भी पानेकी इच्छा है, उसे 'लिप्सा' कहते हैं; और (४) वक्ता जिन इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, वाणी आदिसे अपने भाव प्रकट करता है, उन करणोंमें पटुता, कुशलता नहीं है और वह श्रोताकी भाषा, भाव, योग्यताको नहीं जानता, उसे 'करणापाटव' कहते हैं।

पूछा—'तुम गीताका पाठ करते हो, तो क्या उसका अर्थ जानते हो?' उसने कहा—'नहीं प्रभु!' फिर पूछा—'तो फिर तुम रोते क्यों हो?' उसने कहा—'मैं जब 'अर्जुन उवाच' पढ़ता हूँ, तो अर्जुन भगवान्‌से पूछ रहे हैं—ऐसा मेरेको प्रत्यक्ष दीखता है और जब मैं 'श्रीभगवानुवाच' पढ़ता हूँ, तो भगवान् अर्जुनके प्रश्नोंका उत्तर दे रहे हैं—ऐसा मेरेको प्रत्यक्ष दीखता है। इस प्रकार भगवान् श्रीकृष्ण और अर्जुनका आपसमें संवाद हो रहा है—ऐसा प्रत्यक्ष दीखता है; परन्तु अर्जुन क्या पूछते हैं और भगवान् क्या उत्तर देते हैं, यह मेरी समझमें नहीं आता। मैं तो उन दोनोंके दर्शन कर-करके राजी होता हूँ।' उसकी ऐसी श्रद्धा-भक्ति देखकर चैतन्य महाप्रभु बहुत राजी हुए। इस प्रकारकी श्रद्धा-भक्तिवाला पुरुष गीताको केवल सुन भी लेता है, तो उसकी मुक्तिमें कोई सन्देह नहीं है। वह सम्पूर्ण पापोंसे मुक्त होकर पुण्यकारियोंके शुभ लोकोंको प्राप्त हो जाता है।

यहाँ 'पुण्यकर्मणाम्' पदसे सकामभावपूर्वक यज्ञ, अनुष्ठान आदि पुण्य-कर्म करनेवालोंको नहीं लेना चाहिये; क्योंकि भगवान्‌ने उनको ऊँचा नहीं माना है, प्रत्युत उनके बारेमें कहा है कि वे बार-बार आवागमनको प्राप्त होते हैं।* यहाँ उन पुण्यकर्मा भक्तोंको लेना चाहिये, जिनको भगवान्‌का प्रेम, दर्शन आदिकी प्राप्ति होती है।

* त्रैविद्या मां सोमपाः पूतपापा यज्ञैरिष्ट्वा स्वर्गतिं प्रार्थयन्ते।
ते पुण्यमासाद्य सुरेन्द्रलोकमश्नन्ति दिव्यान्दिवि देवभोगान्॥
ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति।
एवं त्रयीधर्ममनुप्रपन्ना गतागतं कामकामा लभन्ते॥
(गीता ९। २०-२१)

ऐसे पुण्यकर्मा भक्तोंको अपने-अपने इष्टके अनुसार वैकुण्ठ, साकेत, गोलोक, कैलास आदि जिन दिव्य लोकोंकी प्राप्ति होती है, असूया दोषरहित श्रद्धावान् पुरुषको गीता सुननेमात्रसे उन लोकोंकी प्राप्ति हो जाती है ।

सम्बन्ध—

पिछले श्लोकमें गीता सुननेका माहात्म्य बताकर अब अर्जुनकी क्या स्थिति है, क्या दशा है आदि सब कुछ जानते हुए भी भगवान् भगवद्गीता-श्रवणके माहात्म्यको सबके सामने प्रकट करनेके उद्देश्यसे अगले श्लोकमें अर्जुनसे प्रश्न करते हैं ।

श्लोक—

कच्चिदेतच्छ्रुतं पार्थ त्वयैकाग्रेण चेतसा ।
कच्चिदज्ञानसंमोहः प्रनष्टस्ते धनंजय ॥ ७२ ॥

व्याख्या—

'कच्चिदेतच्छ्रुतं पार्थ त्वयैकाग्रेण चेतसा'—'एतत्' शब्द अत्यन्त समीपका वाचक होता है और यहाँ अत्यन्त समीप इकहत्तरवाँ श्लोक है । उनहत्तरवें-सत्तरवें श्लोकोंमें जो गीताका प्रचार और अध्ययन करनेवालेकी महिमा कही है, उस प्रचार और अध्ययनका तो अर्जुनके सामने कोई प्रश्न ही नहीं था । इस वास्ते पिछले (इकहत्तरवें) श्लोकका लक्ष्य करके भगवान् अर्जुनसे मानो कह रहे हैं कि श्रद्धापूर्वक और दोषदृष्टिरहित होकर गीता सुने—यह बात तुमने ध्यानपूर्वक सुनी कि नहीं ? अर्थात् तुमने श्रद्धापूर्वक और दोषदृष्टिरहित होकर गीता सुनी कि नहीं ?

'एकाग्रेण चेतसा' कहनेका तात्पर्य है कि गीतामें भी जिस अत्यन्त गोपनीय रहस्यको अभी पहले चौंसठवें श्लोकमें कहनेकी प्रतिज्ञा की, सड़सठवें श्लोकमें **'इदं ते नातपस्काय'** कहकर निषेध किया और मेरे वचनोंमें जिसको मैंने परम वचन कहा, उस सर्वगुह्यतम शरणागतिकी बात (१८ । ६६) को तुमने ध्यानपूर्वक सुना कि नहीं ? उसपर ख्याल किया कि नहीं ? अश्रद्धा और दोषदृष्टिसे रहित होकर गीता सुननेसे स्वतः शरणागतिपर लक्ष्य जाता है।

'कच्चिदज्ञानसंमोहः प्रनष्टस्ते धनंजय'—भगवान् दूसरा प्रश्न करते हैं कि तुम्हारा अज्ञानसे उत्पन्न हुआ मोह नष्ट हुआ कि नहीं ? अगर मोह नष्ट हो गया तो तुमने मेरा उपदेश सुन लिया, और अगर मोह नष्ट नहीं हुआ तो तुमने मेरा यह रहस्यमय उपदेश एकाग्रतासे सुना ही नहीं; क्योंकि यह एकदम पक्का नियम है कि जो दोषदृष्टिसे रहित होकर श्रद्धापूर्वक गीताके उपदेशको सुनता है, उसका मोह नष्ट हो ही जाता है।

'पार्थ' सम्बोधन देकर भगवान् अपनेपनसे, बहुत प्यारसे पूछ रहे हैं कि तुम्हारा मोह नष्ट हुआ कि नहीं ? पहले अध्यायके पचीसवें श्लोकमें भी भगवान्ने अर्जुनको सुननेके उत्सुक करनेके लिये 'पार्थ' (पृथा यानी कुन्तीका पुत्र) सम्बोधन देकर सबसे प्रथम अपनी जबान खोली और कहा कि हे पार्थ ! युद्धके लिये इकट्ठे हुए इन कुटुम्बियोंको देखो—

उवाच पार्थ पश्यैतान्समवेतान्कुरूनिति ॥

ऐसा कहनेका तात्पर्य यह था कि अर्जुनके अन्तःकरणमें छिपा हुआ जो कौटुम्बिक मोह है, वह जाग्रत् हो जाय और उस मोहसे छूटनेके लिये उसको चटपटी लग जाय, जिससे वह केवल मेरे सम्मुख होकर सुननेके लिये तत्पर हो जाय। अब यहाँ उसी मोहके दूर होनेकी बातका उपसंहार करते हुए भगवान् **'पार्थ'** सम्बोधन देते हैं।

'धनंजय' सम्बोधन देकर भगवान् कहते हैं कि तुम लौकिक धनको लेकर धनंजय (राजाओंके धनको जीतनेवाले) बने हो। अब इस वास्तविक तत्त्वरूप धनको प्राप्त करके अपने मोहका नाश कर लो और सच्चे अर्थमें 'धनंजय' बन जाओ।

सम्बन्ध—

साधक जब भगवान्‌के सर्वथा शरण हो जाता है, तब वह शरण्यसे अभिन्न होकर उसीका स्वरूप हो जाता है। ऐसे शरणागतके जीवनमें जो कुछ भी होता है, वह सब शरण्यका किया हुआ ही होता है—इस बातको अब प्रकटरूपसे भगवत्स्वरूप अर्जुनके मुखसे कहलानेके लिये अगला श्लोक कहलाते हैं।

श्लोक—

अर्जुन उवाच

नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत।
स्थितोऽस्मि गतसन्देहः करिष्ये वचनं तव ॥७३

व्याख्या—

दूसरे अध्यायमें अर्जुनने 'शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्' (२ । ७) कहकर भगवान्‌की शरणागति स्वीकार की थी। यहाँ (उपर्युक्त श्लोकमें) उस शरणागतिकी पूर्णता होती है।*

दसवें अध्यायके अन्तमें भगवान्‌ने अर्जुनसे यह कहा कि 'तेरेको बहुत जाननेकी क्या जरूरत है, मैं सम्पूर्ण संसारको एक अंशमें व्याप्त करके स्थित हूँ!' भगवान्‌की इस बातको सुनते ही अर्जुनके मनमें एक विशेष भाव पैदा हुआ कि भगवान् कितने विलक्षण हैं। भगवान्‌की विलक्षणताकी ओर खयाल जानेसे अर्जुनको एक प्रकाश मिला। उस प्रकाशकी प्रसन्नतामें अर्जुनके मुखसे यह बात निकली कि 'मेरा मोह चला गया'—'मोहोऽयं विगतो मम' (११ । १)। परन्तु भगवान्‌के विराट्‌रूपको देखकर जब अर्जुनके हृदयमें भयके कारण हलचल पैदा हो गयी, तब भगवान्‌ने कहा कि यह तुम्हारा मूढ़भाव है, तुम व्यथित और मोहित मत होओ—'मा ते व्यथा मा च विमूढभावः' (११ । ४९)। इससे सिद्ध होता है कि अर्जुनका मोह तब नष्ट नहीं हुआ था। अब यहाँ अन्तमें भगवान्‌के पूछनेपर भगवान्‌से सर्वथा अभिन्न हुए अर्जुन कह रहे हैं कि मेरा मोह नष्ट हो गया है और मुझे स्मृति प्राप्त हो गयी है—'नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा।'

---

* इसका विस्तृत विवेचन इसी पुस्तकके अन्तमें 'गीतामें शरणागति और पूर्ण शरणागति' शीर्षकके अन्तर्गत देखना चाहिये।

उवाच पार्थ पश्यैतान्समवेतान्कुरूनिति ॥

ऐसा कहनेका तात्पर्य यह था कि अर्जुनके अन्तःकरणमें छिपा हुआ जो कौटुम्बिक मोह है, वह जाग्रत् हो जाय और उस मोहसे छूटनेके लिये उसको चटपटी लग जाय, जिससे वह केवल मेरे सम्मुख होकर सुननेके लिये तत्पर हो जाय। अब यहाँ उसी मोहके दूर होनेकी बातका उपसंहार करते हुए भगवान् **'पार्थ'** सम्बोधन देते हैं।

'धनंजय' सम्बोधन देकर भगवान् कहते हैं कि तुम लौकिक धनको लेकर धनंजय (राजाओंके धनको जीतनेवाले) बने हो। अब इस वास्तविक तत्त्वरूप धनको प्राप्त करके अपने मोहका नाश कर लो और सच्चे अर्थमें 'धनंजय' बन जाओ।

सम्बन्ध—

साधक जब भगवान्‌के सर्वथा शरण हो जाता है, तब वह शरण्यसे अभिन्न होकर उसीका स्वरूप हो जाता है। ऐसे शरणागतके जीवनमें जो कुछ भी होता है, वह सब शरण्यका किया हुआ ही होता है—इस बातको अब प्रकटरूपसे भगवत्स्वरूप अर्जुनके मुखसे कहलानेके लिये अगला श्लोक कहलाते हैं।

श्लोक—

अर्जुन उवाच

नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत।
स्थितोऽस्मि गतसन्देहः करिष्ये वचनं तव ॥७३॥

व्याख्या—

दूसरे अध्यायमें अर्जुनने **'शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्'** (२ । ७) कहकर भगवान्‌की शरणागति स्वीकार की थी । यहाँ (उपर्युक्त श्लोकमें) उस शरणागतिकी पूर्णता होती है ।*

दसवें अध्यायके अन्तमें भगवान्‌ने अर्जुनसे यह कहा कि 'तेरेको बहुत जाननेकी क्या जरूरत है, मैं सम्पूर्ण संसारको एक अंशमें व्याप्त करके स्थित हूँ !' भगवान्‌की इस बातको सुनते ही अर्जुनके मनमें एक विशेष भाव पैदा हुआ कि भगवान् कितने विलक्षण हैं । भगवान्‌की विलक्षणताकी ओर लक्ष्य जानेसे अर्जुनको एक प्रकाश मिला । उस प्रकाशकी प्रसन्नतामें अर्जुनके मुखसे यह बात निकली कि 'मेरा मोह चला गया'—**'मोहोऽयं विगतो मम'** (११ । १) । परन्तु भगवान्‌के विराट्‌रूपको देखकर जब अर्जुनके हृदयमें भयके कारण हलचल पैदा हो गयी, तब भगवान्‌ने कहा कि यह तुम्हारा मूढ़भाव है, तुम व्यथित और मोहित मत होओ—**'मा ते व्यथा मा च विमूढभावः'** (११ । ४९) । इससे सिद्ध होता है कि अर्जुनका मोह तब नष्ट नहीं हुआ था । अब यहाँ सर्वज्ञ भगवान्‌के पूछनेपर भगवान्‌से सर्वथा अभिन्न हुए अर्जुन कह रहे हैं कि मेरा मोह नष्ट हो गया है और मुझे तत्त्वकी स्मृति प्राप्त हो गयी है— **'नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा ।'**

---

* इसका विस्तृत विवेचन इसी पुस्तकके अन्तमें 'गीता-परिमाण और पूर्ण शरणागति' शीर्षकके अन्तर्गत देखना चाहिये ।

अन्तःकरणकी स्मृति और तत्त्वकी स्मृतिमें बड़ा अन्तर है। प्रमाणसे प्रमेयका ज्ञान होता है*; परन्तु परमात्मतत्त्व अप्रमेय है। इस वास्ते प्रमाण परमात्माको व्याप्त नहीं करता अर्थात् परमात्मा प्रमाणके अन्तर्गत आनेवाला तत्त्व नहीं है। परन्तु संसार सब-का-सब प्रमाणके अन्तर्गत आनेवाला है और प्रमाण प्रमाताके अन्तर्गत आनेवाला है।†

---

* हमें जो संसारका ज्ञान होता है, वह प्रत्यक्ष आदि प्रमाणोंके द्वारा ही होता है; क्योंकि संसार विवेक-विचारका विषय है। परन्तु जो विवेक-विचारका विषय नहीं है, प्रत्युत विवेक-विचारका प्रकाशक है, उसको विवेक-विचारद्वारा नहीं जान सकते। कारण कि जो वस्तु प्रकाश्य होती है, वह प्रकाशकको प्रकाशित करनेमें असमर्थ होती है। इस वास्ते जो सबका प्रकाशक और आश्रय है, वह परमात्मतत्त्व श्रद्धा-विश्वासका विषय है, विचारका नहीं।

जिन लोगोंकी शास्त्रोंपर श्रद्धा होती है, वे शास्त्रोंसे परमात्माको मान लेते हैं अथवा जिनकी तत्त्वज्ञ जीवन्मुक्त अनुभवी भगवत्प्रेमी सन्त-महापुरुषोंपर श्रद्धा होती है, वे उनके वचनोंसे परमात्माको मान लेते हैं, स्वीकार कर लेते हैं। इसमें उनका अन्तःकरण और इन्द्रियाँ प्रमाण नहीं हैं। इसमें तो शास्त्र और सन्त-महापुरुष ही प्रमाण हैं। जो श्रद्धालु और आस्तिक हैं, उनके लिये तो शास्त्र और सन्त-महापुरुष प्रमाण हो सकते हैं, पर जो अश्रद्धालु और नास्तिक हैं, उनके लिये शास्त्र और सन्त-महापुरुष प्रमाण कैसे हो सकते हैं? तात्पर्य यह हुआ कि इन्द्रियों और अन्तःकरणका जो विषय है, वह तो प्रत्यक्ष प्रमाण है और अनुमान आदि जो प्रमाण हैं, वे प्रत्यक्षमूलक युक्ति-प्रमाण हैं। परन्तु संत-महापुरुष और शास्त्र-प्रमाणमें तो केवल श्रद्धा ही मुख्य हेतु है।

† जिससे जाना जाता है, वह 'प्रमाण' होता है; जिसका ज्ञान होता है, वह 'प्रमेय' होता है; और जो जाननेवाला है, वह 'प्रमाता' होता है अर्थात् इन्द्रियाँ एवं अन्तःकरण 'प्रमाण' हैं, संसार 'प्रमेय' है और स्वयं (चेतन) 'प्रमाता' है।

प्रमाता एक होता है और प्रमाण अनेक होते हैं। प्रमाणोंके बारेमें कई प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम—ये तीन मुख्य प्रमाण मानते हैं; कई प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द—ये चार प्रमाण मानते हैं; और कई इन चारोंके सिवाय अर्थापत्ति, अनुपलब्धि और ऐतिह्य—ये तीन प्रमाण और भी मानते हैं। इस प्रकार प्रमाणोंके माननेमें अनेक मतभेद हैं; परन्तु प्रमाताके विषयमें किसीका कोई मतभेद नहीं है। ये प्रत्यक्ष, अनुमान आदि प्रमाण वृत्तिरूप होते हैं; परन्तु प्रमाता वृत्तिरूप नहीं होता, वह तो स्वयं अनुभवरूप होता है।

अब इस 'स्मृति' शब्दकी जहाँ व्याख्या की गयी है, वहाँ उसके ये लक्षण बताये हैं—

(१) अनुभूतविषयासम्प्रमोषः स्मृतिः। (योगदर्शन १। ११)

'अनुभूत विषयका न छिपना अर्थात् प्रकट हो जाना स्मृति है।'

(२) संस्कारमात्रजन्यं ज्ञानं स्मृतिः। (तर्कसंग्रह)

'संस्कारमात्रसे जन्य हो और ज्ञान हो, उसको स्मृति कहते हैं।'

यह स्मृति अन्तःकरणकी एक 'वृत्ति' है। यह वृत्ति प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा और स्मृति—पाँच प्रकारकी होती है, तथा हर प्रकारकी वृत्तिके दो भेद होते हैं—क्लिष्ट और अक्लिष्ट। संसारकी वृत्तिरूप स्मृति 'क्लिष्ट' होती है अर्थात् बाँधनेवाली होती है, और भगवत्सम्बन्धी वृत्तिरूप स्मृति 'अक्लिष्ट' होती है अर्थात् क्लेशको दूर करनेवाली होती है। इन सब वृत्तियोंका कारण

'अविद्या' होती है। परंतु परमात्मा अविद्यासे रहित है। इस वास्ते परमात्माकी स्मृति 'स्वयं' से ही होती है, वृत्ति या करणसे नहीं। जब परमात्माकी स्मृति जाग्रत् होती है, तो फिर उसकी कभी विस्मृति नहीं होती, जब कि अन्तःकरणकी वृत्तिमें स्मृति और विस्मृति—दोनों होती हैं।

परमात्मतत्त्वकी विस्मृति या भूल तो असत् संसारको सत्ता और महत्ता देनेसे ही हुई है। यह विस्मृति अनादिकालसे है। अनादिकालसे होनेपर भी इसका अन्त हो जाता है। जब इसका अन्त हो जाता है और अपने स्वरूपकी स्मृति जगती है तो इसको **'स्मृतिर्लब्धा'** कहते हैं अर्थात् असत्‌के सम्बन्धके कारण जो स्मृति सुषुप्तिरूपसे थी, वह जाग्रत् हो गयी। जैसे एक आदमी सोया हुआ है और एक मुर्दा पड़ा हुआ है—इन दोनोंमें महान् अन्तर है, ऐसे ही अन्तःकरणकी स्मृति-विस्मृति दोनों ही मुर्देकी तरह जड़ हैं, पर स्वरूपकी स्मृति सुषुप्त है, जड़ नहीं। केवल जड़का आदर करनेसे सोये हुएकी तरह ऊपरसे वह स्मृति लुप्त रहती है अर्थात् आवृत रहती है। उस आवरणके न रहनेपर उस स्मृतिका प्राकट्य हो जाता है तो उसे **'स्मृतिर्लब्धा'** कहते हैं अर्थात् पहलेसे जो तत्त्व मौजूद है, उसका प्रकट होना **'स्मृति'** है, और आवरण हटनेका नाम **'लब्धा'** है।

साधकोंकी रुचिके अनुसार उसी स्मृतिके तीन भेद हो जाते हैं—(१) कर्मयोग अर्थात् निष्कामभावकी स्मृति, (२) ज्ञानयोग अर्थात् अपने स्वरूपकी स्मृति और (३) भक्तियोग अर्थात् भगवान्-

के सम्बन्धकी स्मृति । इस प्रकार इन तीनों योगोंकी स्मृति जाग्रत् हो जाती है; क्योंकि ये तीनों योग स्वतःसिद्ध और नित्य हैं । ये तीनों योग जब वृत्तिके विषय होते हैं, तब ये साधन कहलाते हैं; परंतु स्वरूपसे ये तीनों नित्य हैं । इस वास्ते नित्यकी प्राप्तिको स्मृति कहते हैं । तात्पर्य यह हुआ कि इन साधनोंकी विस्मृति हुई है, अभाव नहीं हुआ है ।

असत् संसारके पदार्थोंको आदर देनेसे अर्थात् इनको सत्ता और महत्ता देनेसे राग पैदा हुआ—यह 'कर्मयोग'की विस्मृति (आवरण) है । असत् पदार्थोंके सम्बन्धसे अपने स्वरूपकी विमुखता हुई अर्थात् अज्ञान हुआ—यह 'ज्ञानयोग'की विस्मृति है । अपना स्वरूप साक्षात् परमात्माका अंश है । इस परमात्मासे विमुख होकर संसारके सम्मुख हो गया, जिससे संसारमें आसक्ति हो गयी । उस आसक्तिसे प्रेम ढक गया—यह 'भक्तियोग'की विस्मृति है ।

स्वरूपकी विस्मृति अर्थात् विमुखताका नाश होना यहाँ 'स्मृति' है । उस स्मृतिका प्राप्त होना अप्राप्तका प्राप्त होना नहीं है, प्रत्युत नित्यप्राप्तका प्राप्त होना है । नित्य स्वरूपकी प्राप्ति होनेपर फिर उसकी विस्मृति होना सम्भव नहीं है; क्योंकि स्वरूपमें कभी परिवर्तन हुआ नहीं । वह सदा निर्विकार और एकरस रहता है । परन्तु वृत्तिरूप स्मृतिकी विस्मृति हो सकती है; क्योंकि वह प्रकृतिका कार्य होनेसे परिवर्तनशील है ।

इन सबका तात्पर्य यह हुआ कि संसार तथा शरीरके साथ अपने स्वरूपको मिला हुआ समझना 'विस्मृति' है और संसार तथा शरीरसे —

अलग होकर अपने स्वरूपका अनुभव करना 'स्मृति, है । अपने
स्वरूपकी स्मृति स्वयंसे होती है । इसमें करण आदिकी अपेक्षा नहीं
होती; जैसे—मनुष्यको अपने होनेपनका जो ज्ञान होता है, उसमें
किसी प्रमाणकी आवश्यकता नहीं होती । जिसमें करण आदिकी
अपेक्षा होती है, वह स्मृति अन्तःकरणकी एक वृत्ति ही है ।

स्मृति तत्काल प्राप्त होती है । इसकी प्राप्तिमें देरी अथवा
परिश्रम नहीं है । कर्ण कुन्तीके पुत्र थे । परंतु जन्मके बाद जब
कुन्तीने उनका त्याग कर दिया, तब अधिरथ नामक सूतकी पत्नी
राधाने उनका पालन-पोषण किया । इससे वे राधाको ही अपनी माँ
मानने लगे । जब सूर्यदेवसे उनको यह पता लगा कि वास्तवमें
मेरी माँ कुन्ती है, तो उनको स्मृति प्राप्त हो गयी । अब 'मैं कुन्तीका
पुत्र हूँ'—ऐसी स्मृति प्राप्त होनेमें कितना समय लगा ? कितना
परिश्रम या अभ्यास करना पड़ा ? कितना जोर आया ? पहले उधर
लक्ष्य नहीं था, अब उधर लक्ष्य हो गया—केवल इतनी ही बात है ।

स्वरूप निष्काम है, शुद्ध-बुद्ध-मुक्त है और भगवान्का है ।
स्वरूपकी विस्मृति अर्थात् विमुखतासे ही जीव सकाम, बद्ध और
सांसारिक होता है । ऐसे स्वरूपकी स्मृति वृत्तिकी अपेक्षा नहीं
रखती अर्थात् अन्तःकरणकी वृत्तिसे स्वरूपकी स्मृति जाग्रत् होना
सम्भव नहीं है । स्मृति तभी जगेगी, जब अन्तःकरणसे सर्वथा
सम्बन्ध-विच्छेद होगा । स्मृति अपने ही द्वारा अपने-आपमें जाग्रत्
होती है । इस वास्ते स्मृतिकी प्राप्तिके लिये किसीके सहयोगकी
अभ्यासकी जरूरत नहीं है । कारण कि जड़ताकी सहायताके

अभ्यास नहीं होता, जबकि स्वरूपके साथ जड़ताका लेशमात्र भी सम्बन्ध नहीं है। स्मृति अनुभवसिद्ध है, अभ्याससाध्य नहीं है। इस वास्ते एक बार स्मृति जाग्रत् होनेपर फिर उसकी पुनरावृत्ति नहीं करनी पड़ती।

स्मृति भगवान्‌की कृपासे जाग्रत् होती है। कृपा होती है भगवान्‌के सम्मुख होनेसे, और भगवान्‌की सम्मुखता होती है संसारमात्रसे विमुख होनेपर। जैसे अर्जुनने कहा कि मैं केवल आपकी आज्ञाका ही पालन करूँगा—'करिष्ये वचनं तव', ऐसे ही संसारका आश्रय छोड़कर केवल भगवान्‌के शरण होकर कह दे कि हे नाथ! अब मैं केवल आपकी आज्ञाका ही पालन करूँगा।

'त्वत्प्रसादात् मयाच्युत'—अर्जुन कह रहे हैं कि आपने विशेषतासे जो सर्वगुह्यतम तत्त्व बतलाया, उसकी मुझे विशेषतासे स्मृति आ गयी कि मैं आपका ही था, आपका ही हूँ और आपका ही रहूँगा। यह जो स्मृति आ गयी है, यह मेरी एकाग्रतासे सुननेकी प्रवृत्तिसे नहीं आयी है अर्थात् यह मेरे एकाग्रतासे सुननेका फल नहीं है, प्रत्युत यह स्मृति तो आपकी कृपासे ही आयी है।

तात्पर्य है कि इस स्मृतिकी लब्धिमें साधककी सम्मुखता और भगवान्‌की कृपा ही कारण है। इस वास्ते अर्जुनने स्मृति प्राप्त होनेमें केवल भगवान्‌की कृपाको ही माना है।
कृपा तो मात्र प्राणियोंपर अपार-अटूट-अखण्डरूपसे
प्राणी भगवान्‌के सम्मुख हो जाता है, तब उसको
अनुभव हो जाता है—

सनमुख होइ जीव मोहि जबहीं । जन्म कोटि अघ नासहिं तबहीं ॥
(मानस ५ । ४३ । १)

'त्वत्प्रसादात्' का तात्पर्य है कि मैंने एकाग्रतासे गीता सुनी और उससे मेरा मोह नष्ट हुआ—ऐसा मैं नहीं मानता हूँ। मैं तो केवल आपकी कृपा ही मानता हूँ; क्योंकि पहले मैंने शरण होकर शिक्षा देनेकी प्रार्थना की थी, और फिर यह कहा था कि मैं युद्ध नहीं करूँगा। परंतु मेरेको जबतक वास्तविकताका बोध नहीं हुआ, तबतक आप मेरे पीछे पड़े ही रहे। इसमें तो आपकी कृपा ही कारण है। मेरेको जैसा सम्मुख होना चाहिये, वैसा मैं सम्मुख नहीं हुआ हूँ; परंतु आपने बिना कारणके मेरेपर कृपा की अर्थात् मेरेपर कृपा करनेके लिये आप अपनी कृपाके परवश हो गये, वशीभूत हो गये और बिना पूछे ही आपने शरणागतिकी सर्वगुह्यतम बात कह दी (१८ । ६४—६६)। उसी अहैतुकी कृपासे मेरा मोह नष्ट हुआ है।

अर्जुनने यहाँ भगवान्‌के लिये 'अच्युत' सम्बोधनका प्रयोग किया है। इसका तात्पर्य है कि जीव तो च्युत हो जाता है अर्थात् अपने स्वरूपसे विमुख हो जाता है तथा पतनकी तरफ चला जाता है; परंतु भगवान् कभी भी च्युत नहीं होते। वे सदा एकरस रहते हैं। इसी बातका द्योतन करनेके लिये गीतामें अर्जुनने कुल तीन बार 'अच्युत' सम्बोधन दिया है। पहली बार (गीता १ । २१ में) 'अच्युत' सम्बोधनसे अर्जुनने भगवान्‌से कहा कि दोनों सेनाओंके बीचमें मेरा रथ खड़ा करो। ऐसी आज्ञा देनेपर भी

भगवान्‌के कोई फरक नहीं पड़ा। दूसरी बार (११। ४२में) इस सम्बोधनसे अर्जुनने भगवान्‌के विश्वरूपकी स्तुति-प्रार्थना की, तो भगवान्‌के कोई फरक नहीं पड़ा। अन्तिम बार यहाँ (१८। ७३ में) इस सम्बोधनसे अर्जुन सन्देहरहित होकर कहते हैं कि अब मैं आपकी आज्ञाका पालन करूँगा, तो भगवान्‌के कोई फरक नहीं पड़ा। तात्पर्य यह हुआ कि अर्जुनकी तो आदि, मध्य और अन्तमें तीन प्रकारकी अवस्था हुई, पर भगवान् आदि, मध्य और अन्तमें एकरस ही बने रहे।

कामना, कामनासे क्रोध, क्रोधसे मोह, मोहसे स्मृतिभ्रंश, स्मृतिभ्रंशसे बुद्धिनाश और बुद्धिनाशसे पतन होता है* । अर्जुन भी यहाँ उसी प्रक्रियाको याद दिलाते हुए कहते हैं कि मेरा मोह नष्ट हो गया है, और मोहसे जो स्मृति भ्रष्ट होती है, वह स्मृति मिल गयी है—**'नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा'** । स्मृति नष्ट होनेसे बुद्धिनाश हो जाता है, इसके उत्तरमें अर्जुन कहते हैं कि मेरा सन्देह चला गया है—**'गतसन्देहः'** । बुद्धिनाशसे पतन होता है, उसके उत्तरमें कहते हैं कि *मैं अपनी स्वाभाविक स्थितिमें स्थित हूँ*—**'स्थितोऽस्मि'** । इस प्रकार उस प्रक्रियाको बतानेमें अर्जुनका तात्पर्य है कि मैंने आपके मुखसे ध्यानपूर्वक गीता सुनी है, तभी तो आपने सम्मोहका कहाँ प्रयोग किया है और सम्मोहकी परम्परा कहाँ कही है, वह भी मेरेको याद है । परंतु मेरे मोहका नाश होनेमें तो आपकी कृपा ही कारण है ।

यद्यपि वहाँका और यहाँका—दोनों विषय भिन्न-भिन्न प्रतीत होते हैं; क्योंकि वहाँ विषयोंके चिन्तन करने आदि क्रमसे सम्मोह होनेकी बात है और यहाँ सम्मोह मूल अज्ञानका वाचक है, फिर भी गहरा विचार किया जाय तो भिन्नता नहीं दीखेगी । वहाँका विषय ही यहाँ है ।

---

* ध्यायतो विषयान्पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते ।
सङ्गात्संजायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते ॥
क्रोधाद्भवति संमोहः संमोहात्स्मृतिविभ्रमः ।
स्मृतिभ्रंशाद्बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति ॥
(गीता २ । ६२-६३)

दो तरहके प्राणी होते हैं—(१) आसुरी-सम्पत्तिवाले और (२) दैवी-सम्पत्तिवाले। भोग और ऐश्वर्यको चाहनेवाले आसुरी-सम्पत्तिवाले कहलाते हैं और परमात्माकी तरफ चलनेवाले दैवी-सम्पत्तिवाले कहलाते हैं। आसुरी-सम्पत्ति बन्धनके लिये और दैवी-सम्पत्ति मुक्तिके लिये होती है—'दैवी संपद्विमोक्षाय निबन्धायासुरी मता' (गीता १६। ५)।

दूसरे अध्यायके इकसठवेंसे तिरसठवें श्लोकतक भगवान्‌ने यह बात बतायी कि इन्द्रियोंको वशमें करके अर्थात् संसारसे सर्वथा विमुख होकर केवल मेरे परायण होनेसे बुद्धि स्थिर हो जाती है। परंतु मेरे परायण न होनेसे मनसे स्वाभाविक ही विषयोंका चिन्तन होता है। विषयोंका चिन्तन होनेसे सङ्ग, काम, क्रोध, सम्मोह आदिकी प्रक्रिया बतायी। इससे तो पतन ही होता है, क्योंकि यह आसुरी-सम्पत्ति है। परंतु यहाँ उपसंहारमें यह बताया है कि संसारसे विमुख होकर भगवान्‌के सम्मुख होनेसे मोह नष्ट हो जाता है; क्योंकि यह दैवी-सम्पत्ति है। तात्पर्य यह हुआ कि वहाँ भगवान्‌से विमुख होकर इन्द्रियों और विषयोंके परायण होना पतनमें हेतु है, और यहाँ भगवान्‌के सम्मुख होनेसे भगवान्‌के साथ वास्तविक सम्बन्धकी स्मृति आनेमें भगवत्कृपा ही हेतु है।

भगवत्कृपासे जो काम होता है, वह श्रवण, मनन, निदिध्यासन, ध्यान, समाधि आदि साधनोंसे नहीं होता। कारण कि अपना पुरुषार्थ मानकर जो भी साधन किया जाता है, उस साधनमें [illegible] सूक्ष्म व्यक्तित्व अर्थात् अहंभाव रहता है। यह [illegible] अपना पुरुषार्थ न मानकर केवल भगवत्

मार्मिक बात

अर्जुनने कहा कि मुझे स्मृति मिल गयी—'स्मृतिर्लब्धा' तो विस्मृति किसी कारणसे हुई थी ? जीवने असत्‌के साथ तादात्म्य मानकर असत्‌की मुख्यता मान ली। इसीसे अपने सत्-स्वरूपकी विस्मृति हो गयी। विस्मृति होनेसे इसने असत्‌की कमीको अपनी कमी मान ली, अपनेको शरीर मानने (मैं-पन) तथा शरीरको अपना मानने (मेरापन) के कारण इसने असत् शरीरकी उत्पत्ति और विनाशको अपनी उत्पत्ति और विनाश मान लिया, एवं जिससे शरीर पैदा हुआ, उसीको अपना उत्पादक मान लिया।

अब कोई प्रश्न करे कि भूल पहले हुई कि असत्‌का सम्बन्ध पहले हुआ ? अर्थात् भूलसे असत्‌का सम्बन्ध हुआ कि असत्‌के सम्बन्धसे भूल हुई ? तो इसका उत्तर है कि अनादिकालसे जन्म-मरणके चक्करमें पड़े हुए जीवको जन्म-मरणसे छुड़ाकर सदाके लिये महान् सुखी करनेके लिये अर्थात् केवल अपनी प्राप्ति करानेके लिये भगवान्‌ने जीवको मनुष्यशरीर दिया। संसारकी रचना भगवान्‌ने भले ही मनुष्यके लिये की हो, पर मनुष्यकी रचना केवल अपने लिये की।

भगवान्‌का अकेलेमें मन नहीं लगा—'एकाकी न रमते' (बृहदारण्यक १।४।३)। इस वास्ते उन्होंने अपने साथ खेलनेके लिये मनुष्यशरीरकी रचना की। खेल तभी होता है, जब दोनों तरफके खिलाड़ी स्वतंत्र होते हैं। इस वास्ते भगवान्‌ने मनुष्यशरीर देनेके साथ-साथ इसे स्वतंत्रता भी दी, और विवे

(सत्-असत्का ज्ञान) भी दिया । दूसरी बात, अगर इसे स्वतंत्रता और विवेक न मिलता, तो यह पशुकी तरह ही होता, इसमें मनुष्यताकी किञ्चिन्मात्र भी कोई विशेषता नहीं होती ।

इस विवेकके कारण असत्को असत् जानकर भी मनुष्यने मिली हुई स्वतंत्रताका दुरुपयोग किया और असत्में (संसारके संयोग और संग्रहके सुखमें) आसक्त हो गया । असत्में आसक्त होनेसे ही भूल हुई है । तो असत्को असत् जानकर भी यह उसमें आसक्त क्यों होता है ? क्योंकि असत्के सम्बन्धसे प्रतीत होनेवाले तात्कालिक सुखकी तरफ तो यह दृष्टि रखता है, पर उसका परिणाम क्या होगा, उस तरफ अपनी दृष्टि रखता ही नहीं । (जो परिणामकी तरफ दृष्टि रखते हैं, वे साधक होते हैं, और जो परिणामकी तरफ दृष्टि नहीं रखते, वे संसारी होते हैं ।)

इस वास्ते असत्के सम्बन्धसे ही भूल पैदा हुई है । इसका पता कैसे लगता है ? जब यह अपने अनुभवमें आनेवाले असत्की आसक्तिका त्याग करके परमात्माके सम्मुख हो जाता है, तो यह भूल मिट करके स्मृति जाग्रत् हो जाती है । इससे सिद्ध हुआ कि परमात्मासे विमुख होकर जाने हुए असत्में आसक्ति होनेसे ही यह भूल हुई है ।

असत्को महत्त्व देनेसे होनेवाली भूल स्वाभाविक नहीं है । इसको प्राणीने खुद पैदा किया है । जो चीज स्वाभाविक होती है, उसमें परिवर्तन भले ही हो, पर उसका अत्यन्त अभाव नहीं होता

परन्तु भूलका अत्यन्त अभाव होता है। इससे यह सिद्ध होता है कि इस भूलको मनुष्यने खुद उत्पन्न किया है; क्योंकि जो वस्तु मिटनेवाली होती है, वह उत्पन्न होनेवाली ही होती है। इस वास्ते इस भूलको मिटानेका दायित्व भी मनुष्यपर है, जिसको वह सुगमतापूर्वक निभा सकता है। तात्पर्य है कि अपने ही द्वारा उत्पन्न की हुई इस भूलको मिटानेमें मनुष्यमात्र समर्थ और सबल है। भूलको मिटानेकी शक्ति भगवान्‌ने पूरी दे रखी है। भूल मिटते ही अपने वास्तविक स्वरूपकी स्मृति अपने-आपमें ही जाग्रत् हो जाती है और मनुष्य सदाके लिये कृतकृत्य, ज्ञात-ज्ञातव्य और प्राप्त-प्राप्तव्य हो जाता है।

अबतक हमने अनेक बार जन्म लिया है और अनेक बार कई वस्तुओं, व्यक्तियों, परिस्थितियों, अवस्थाओं, घटनाओं आदिका हमारेसे संयोग हुआ है; परन्तु उन सभीका हमारेसे वियोग हो गया और हम वही रहे। कारण कि वियोगका संयोग अवश्यम्भावी नहीं है, पर संयोगका वियोग अवश्यम्भावी है। इससे सिद्ध हुआ कि संसारसे वियोग-ही-वियोग है, संयोग है ही नहीं। अनादिकालसे वस्तुओं आदिका निरन्तर वियोग ही होता चला आ रहा है, इस वास्ते वियोग ही सच्चा है। इस प्रकार संसारसे सर्वथा वियोगका अनुभव हो जाना ही 'योग' है—**'तं विद्याद् दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम्'** (गीता ६ । २३)। यह योग नित्यसिद्ध है। स्वरूप अथवा परमात्माके साथ हमारा नित्ययोग है* और शरीर-संसारके साथ

* कर्मयोग तथा ज्ञानयोगसे स्वरूपके साथ नित्ययोग है, और भक्तियोगसे भगवान्‌के साथ नित्ययोग है।

नित्यवियोग है। संसारके संयोगकी सद्भावना होनेसे ही वास्तवमें नित्ययोग अनुभवमें नहीं आता। सद्भावना मिटते ही नित्ययोगका अनुभव हो जाता है, जिसका कभी वियोग हुआ ही नहीं।

संसारसे संयोग मानना ही 'विस्मृति' है और संसारसे नित्य-वियोगका अनुभव होना अर्थात् वास्तवमें संसारके साथ मेरा संयोग था नहीं, है नहीं, होगा नहीं और हो सकता भी नहीं—ऐसा अनुभव होना ही 'स्मृति' है।

सम्बन्ध—

पहले अध्यायके बीसवें श्लोकमें 'अथ' पदसे गीताका आरम्भ हुआ था, अब अगले श्लोकमें 'इति' पदसे उसकी समाप्ति करते हुए संजय इस संवादकी महिमा गाते हैं।

श्लोक—

संजय उवाच

इत्यहं वासुदेवस्य पार्थस्य च महात्मनः।
संवादमिममश्रौषमद्भुतं रोमहर्षणम्॥७४॥

व्याख्या—

'इत्यहं वासुदेवस्य पार्थस्य च महात्मनः'—संजय कहते हैं कि ऐसा मैंने भगवान् वासुदेव और महात्मा पृथानन्दन अर्जुनका यह संवाद सुना, जो कि अत्यन्त अद्भुत, विलक्षण है, और इसको याद करनेमात्र हर्षके मारे रोमाञ्चित करनेवाला है।

यहाँ 'इति' पदका तात्पर्य है कि पहले अध्यायके बीसवें श्लोकमें 'अथ व्यवस्थितान्दृष्ट्वा धार्तराष्ट्रान् कपिध्वजः' पदोंसे

परन्तु भूलका अत्यन्त अभाव होता है। इससे यह सिद्ध होता है कि इस भूलको मनुष्यने खुद उत्पन्न किया है; क्योंकि जो वस्तु मिटनेवाली होती है, वह उत्पन्न होनेवाली ही होती है। इस वास्ते इस भूलको मिटानेका दायित्व भी मनुष्यपर है, जिसको वह सुगमतापूर्वक निभा सकता है। तात्पर्य है कि अपने ही द्वारा उत्पन्न की हुई इस भूलको मिटानेमें मनुष्यमात्र समर्थ और सबल है। भूलको मिटानेकी शक्ति भगवान्‌ने पूरी दे रखी है। भूल मिटते ही अपने वास्तविक स्वरूपकी स्मृति अपने-आपमें ही जाग्रत् हो जाती है और मनुष्य सदाके लिये कृतकृत्य, ज्ञात-ज्ञातव्य और प्राप्त-प्राप्तव्य हो जाता है।

अबतक हमने अनेक बार जन्म लिया है और अनेक बार कई वस्तुओं, व्यक्तियों, परिस्थितियों, अवस्थाओं, घटनाओं आदिका हमारेसे संयोग हुआ है; परन्तु उन सभीका हमारेसे वियोग हो गया और हम वही रहे। कारण कि वियोगका संयोग अवश्यम्भावी नहीं है, पर संयोगका वियोग अवश्यम्भावी है। इससे सिद्ध हुआ कि संसारसे वियोग-ही-वियोग है, संयोग है ही नहीं। अनादिकालसे वस्तुओं आदिका निरन्तर वियोग ही होता चला आ रहा है, इस वास्ते वियोग ही सच्चा है। इस प्रकार संसारसे सर्वथा वियोगका अनुभव हो जाना ही 'योग' है—**'तं विद्याद् दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम्'** (गीता ६। २३)। यह योग नित्यसिद्ध है। स्वरूप अथवा परमात्माके साथ हमारा नित्ययोग है* और शरीर-संसारके साथ

* कर्मयोग तथा ज्ञानयोगसे स्वरूपके साथ नित्ययोग है, और भक्तियोगसे भगवान्‌के साथ नित्ययोग है।

नित्यवियोग है। संसारके संयोगकी सद्भावना होनेसे ही वास्तवमें नित्ययोग अनुभवमें नहीं आता। सद्भावना मिटते ही नित्ययोगका अनुभव हो जाता है, जिसका कभी वियोग हुआ ही नहीं।

संसारसे संयोग मानना ही 'विस्मृति' है और संसारसे नित्य-वियोगका अनुभव होना अर्थात् वास्तवमें संसारके साथ मेरा संयोग था नहीं, है नहीं, होगा नहीं और हो सकता भी नहीं—ऐसा अनुभव होना ही 'स्मृति' है।

सम्बन्ध—

पहले अध्यायके बीसवें श्लोकमें 'अथ' पदसे गीताका आरम्भ हुआ था, अब अगले श्लोकमें 'इति' पदसे उसकी समाप्ति करते हुए संजय इस संवादकी महिमा गाते हैं।

श्लोक—

संजय उवाच

इत्यहं वासुदेवस्य पार्थस्य च महात्मनः।
संवादमिममश्रौषमद्भुतं रोमहर्षणम् ॥७४॥

व्याख्या—

'इत्यहं वासुदेवस्य पार्थस्य च महात्मनः'—संजय कहते हैं कि ऐसा मैंने भगवान् वासुदेव और महात्मा पृथानन्दन अर्जुनका यह संवाद सुना, जो कि अत्यन्त अद्भुत, विलक्षण है, और इसको याद करनामात्र हर्षके मारे रोमाञ्चित करनेवाला है।

यहाँ 'इति' पदका तात्पर्य है कि पहले अध्यायके बीसवें श्लोकमें 'अथ व्यवस्थितान्दृष्ट्वा धार्तराष्ट्रान् कपिध्वजः' पदोंसे

कहा*; परंतु अर्जुनको कुछ [illegible] नहीं। अर्जुन देखनेका खूब उद्योग करते हैं, आँखें [illegible] हैं, पर कुछ दीखा नहीं तो भगवान्‌ने कहा कि [illegible] चर्मचक्षुओंसे मेरे विश्वरूपको नहीं देख सकता। कारण [illegible] जैसे एक सूर्यके सामने ही मिच जाते हैं, सुखे [illegible] सकते, तो फिर हजारों सूर्योंके एक साथ उदित होनेसे [illegible] प्रकाशसे भी बढ़कर प्रकाशवाले भगवान्‌के विराट्‌रूपको कैसे [illegible] है! [illegible] भगवान्‌ने अर्जुनको दिव्यचक्षु दिये। अर्जुन उस रूपको [illegible] स्तुति करने लगे। उनके विश्वरूपको देख-देखकर अर्जुन [illegible] गये और भगवान्‌से चतुर्भुज-रूप दिखानेकी प्रार्थना करने लगे तो भगवान्‌ने [illegible] कि मैंने प्रसन्न होकर अपने योगसे अर्थात् अपने महान् प्रभावसे [illegible] तेजोमय रूप दिखाया है। इस तेजोमय, अनादि, अनन्त [illegible] तुम्हारे सिवा और किसीने नहीं देखा है (११ । ४७)।

यद्यपि भगवान्‌ने रामावतारमें [illegible] दिखाया और कृष्णावतारमें यशोदा [illegible] आदिको विराट्‌रूप दिखाया, तथापि [illegible] कि जिसकी दाढ़ोंमें भीष्म, द्रोण, कर्ण [illegible] और दोनों सेनाओंके महान् [illegible]

अत्यन्त अद्भुत रूपको याद करके संजय कहते हैं कि राजन् ! यह तो सब व्यासजी महाराजकी कृपासे मेरेको देखनेको मिला है। नहीं तो ऐसा रूप मेरे-जैसेको कहाँ देखनेको मिलना !

सम्बन्ध—

गीताके आरम्भमें धृतराष्ट्रका गूढाभिसन्धिरूप प्रश्न था कि युद्धका नतीजा क्या होगा ? अर्थात् मेरे पुत्रोंकी विजय होगी या पाण्डुपुत्रोंकी ? अगले श्लोकमें संजय धृतराष्ट्रके उसी प्रश्नका उत्तर देते हैं।

श्लोक—

यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः।
तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम ॥ ७८ ॥

व्याख्या—

'यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः'—संजय कहते हैं कि राजन् ! जहाँ अर्जुनका संरक्षण करनेवाले, उनको सम्मति देनेवाले, सम्पूर्ण योगोंके महान् ईश्वर, महान् बलशाली, महान् ऐश्वर्यवान्, महान् विद्यावान्, महान् चतुर भगवान् कृष्ण हैं और भगवान्की आज्ञा पालन करनेवाले, भगवान्के प्रिय सखा तथा ... अर्जुन हैं, उसी पक्षमें श्री, विजय, विभूति ... होंगे; और मेरी सम्मति भी उधर

... दृष्टि दी, उस समय संजयने उसी महायोगेश्वरको याद

... होना तो सरल बात है; पर ... काष्ठा सा परा गतिः।

दिखाते हुए यहाँ 'योगेश्वरः' कहते हैं। वे सम्पूर्ण योगोंके ईश्वर—मालिक भगवान् कृष्ण प्रेरक हैं और उनकी आज्ञा पालन करनेवाले धनुर्धारी अर्जुन प्रेर्य हैं।

योगी दो तरहके होते हैं—युक्तयोगी और युञ्जानयोगी। जो बिना ध्यान किये ही सब बातोंको जानता है, वह 'युक्तयोगी' होता है। ऐसे युक्तयोगी केवल भगवान् ही हैं; क्योंकि भगवान्का ज्ञान स्वतःसिद्ध है। इस वास्ते गीतामें भगवान्के लिये 'महायोगेश्वर', 'योगेश्वर' आदि शब्दोंका प्रयोग हुआ है। इसका तात्पर्य है कि भगवान् सब योगियोंको सिखानेवाले हैं। उनको युद्धकी सीखना नहीं पड़ता; क्योंकि उनका योग स्वतःसिद्ध है। सर्वज्ञता, ऐश्वर्य, सौन्दर्य, माधुर्य आदि जितने भी वैभवशाली गुण हैं, वे सब-के-सब भगवान्में स्वतः रहते हैं। वे गुण भगवान्में नित्य रहते हैं, असीम रहते हैं। जैसे पिताका पिता, फिर पिताका पिता—यह परम्परा अन्तमें जाकर परम-पिता परमात्मामें समाप्त होती है*, ऐसे ही जितने भी गुण हैं, उन सबकी समाप्ति परमात्मामें होती है।

पहले अध्यायमें जब युद्धकी घोषणाका प्रसङ्ग आया तो कौरवपक्षमें सबसे पहले भीष्मजीने शङ्ख बजाया। भीष्मजी कौरव-सेनाके

* पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्। (योगदर्शन १। २६)
यह ईश्वर सबके पूर्वजोंका भी गुरु है; क्योंकि इसका कालसे अवच्छेद नहीं है।

गीता-परिमाण और पूर्ण शरणागति

महर्षि श्रीवेदव्यास-रचित महाभारतमें ऋषिवर वैशम्पायनने गीताके परिमाणमें कुल ७४५ श्लोक बताये हैं—

षट्शतानि सविंशानि श्लोकानां प्राह केशवः।
अर्जुनः सप्तपञ्चाशत् सप्तषष्टिं तु संजयः।
धृतराष्ट्रः श्लोकमेकं गीताया मानमुच्यते॥
(भीष्म० ४३।४-५)

गीतामें भगवान् श्रीकृष्णने ६२० श्लोक कहे हैं, ५७ श्लोक अर्जुनने कहे हैं, ६७ श्लोक संजयने कहे हैं और एक श्लोक धृतराष्ट्रने कहा है। यह गीताका परिमाण कहा जाता है।*

---

* महाभारत, आदिपर्व १।७४-८३में आता है कि महाभारतके कहनेमें महर्षि वेदव्यासजीने गणेशजीसे महाभारत-ग्रन्थका लेखक बननेकी प्रार्थना की। इसपर गणेशजीने एक शर्त रखी कि यदि लिखते समय क्षणभरके लिये भी मेरी लेखनी न रुके तो मैं इस ग्रन्थका लेखक बन सकता हूँ। वेदव्यासजीने भी गणेशजीके सामने यह शर्त रखी कि आप भी बिना समझे किसी भी प्रसङ्गमें एक अक्षर भी न लिखें। गणेशजीने इसे स्वीकार कर लिया और महाभारत लिखने बैठ गये। लिखते समय बीच-बीचमें वेदव्यासजी ऐसे-ऐसे (गूढ़ अर्थवाले) कूटश्लोक बोल देते थे, जिनको समझनेके लिये गणेशजीको थोड़ा रुकना पड़ता था। उतने समयमें वेदव्यासजी और बहुत-से श्लोकोंकी रचना कर लेते थे। गीता-परिमाण-सम्बन्धी श्लोक भी ऐसे ही कूटश्लोक प्रतीत होते हैं। इसलिये कोई-कोई टीकाकार गीता-परिमाणकी सङ्गति बैठानेमें असमर्थ होकर इन श्लोकोंको प्रक्षिप्त (क्षेपक) मान लेते हैं। किंतु वास्तवमें ये महाभारतके ही श्लोक प्रतीत होते हैं; क्योंकि एक तो ये महाभारतकी पुरानी से पुरानी

१५ । ३) पैंतालीस अक्षरोंके हैं, और एक श्लोक (२ । ६) छियालीस अक्षरोंका है । इस प्रकार गीताके श्लोकोंके सम्पूर्ण अक्षर २३०६६ हैं । पुष्पिकाओंके कुल ८७३ अक्षर हैं । उवाचोंके कुल २८३ अक्षर हैं । 'अथ श्रीमद्भगवद्गीता', 'अथ प्रथमोऽध्यायः' आदिके कुल १२७ अक्षर हैं । इस प्रकार गीतामें कुल २४४५९ अक्षर हैं ।

प्राचीन कालसे ऐसी परम्परा है कि ३२ अक्षरोंका एक श्लोक मानकर किसी भी पुराण आदि ग्रन्थके श्लोकोंका परिमाण निर्धारित किया जाता है * । इसके अनुसार यदि गीताके श्लोकोंके सम्पूर्ण अक्षरोंका परिमाण निकाला जाय तो ७२०$\frac{२६}{३२}$ श्लोक होते हैं । यदि इनके साथ 'उवाच'के २८३ अक्षर जोड़ दिये जायँ तो ७३२ $\frac{३१}{३२}$ श्लोक होते हैं, और यदि इनके (श्लोकाक्षरोंके) साथ केवल 'पुष्पिका'के ८७३ अक्षर जोड़ दिये जायं तो ४७८ $\frac{३}{३२}$ श्लोक होते हैं । यदि श्लोकोंके सम्पूर्ण अक्षरोंके साथ 'उवाच', 'पुष्पिका' और 'अथ प्रथमोऽध्यायः' आदिके कुल १३९३ अक्षर और जोड़ें तो ७६४$\frac{११}{३२}$ श्लोक होते हैं । इस तरह किसी

* श्रीमद्भागवतमहापुराणकी 'अन्वितार्थप्रकाशिका' टीकाके लेखक पं० श्रीगङ्गासहायजी शर्माने भी श्रीमद्भागवतके श्लोकोंकी गणनाके लिये इसी अक्षर-गणनाकी (सम्पूर्ण अक्षरोंमें ३२का भाग देनेवाली) पद्धतिको अपनाया है और प्रत्येक अध्यायके अन्तमें उसके श्लोकोंकी गणनाको श्लोकबद्ध करके लिखा है । उन्होंने इस पद्धतिसे दो बार श्रीमद्भागवतके श्लोकोंकी गणना की है । यह बात दूसरी है कि उनकी गणनाके अनुसार श्रीमद्भागवतके अठारह हजार श्लोकोंमेंसे केवल डेढ़ श्लोक ही कम हैं ।

इसी अक्षर-गणनाके आधारपर किसी ग्रन्थके लेखकको पारिश्रमिक देनेकी परम्परा भी प्राचीन कालसे है ।

भी प्रकार महाभारतकथित गीताके परिमाणकी संगति नहीं बैठती। फिर भी परिमाण-सूचक श्लोक उपलब्ध होनेके कारण परिमाणकी संगति बैठाना आवश्यक समझकर एक संतके द्वारा प्राप्त संकेतके अनुसार चेष्टा की गयी है। विद्वानोंसे निवेदन है कि वे इसपर गम्भीरतासे विचार करके अपनी सम्मति देनेकी कृपा करें।

श्रीमद्भगवद्गीता

श्रीमद्भगवद्गीताके प्रथम अध्यायको देखनेसे पता चलता है कि अर्जुन युद्धके लिये पूर्णरूपसे तैयार हैं। वे स्वयं रथी बने हैं और सारथि बने भगवान्‌को दोनों सेनाओंके बीच रथ खड़ा करनेकी आज्ञा देते हैं—**'सेनयोरुभयोर्मध्ये रथं स्थापय मेऽच्युत'** (१ । २१)। सारथि बने भगवान् भी रथको दोनों सेनाओंके बीच, पितामह भीष्म और आचार्य द्रोणके रथोंके ठीक सामने एक विशेष ढंगसे खड़ा करते हैं। भगवान्‌की यह कला युद्धोन्मुख अर्जुनको श्रेयोन्मुख करनेके लिये मानो शक्तिपात थी (जिसकी सिद्धि अठारहवें अध्यायके ७३वें श्लोकमें हो गयी)। भगवान्‌को जीवोंके कल्याणार्थ अर्जुनको निमित्त बनाकर दिव्य गीताज्ञान कहना था और इसके लिये अर्जुनको वैसा ही पात्र बनाना था। अतः युद्धस्थलमें पितामह भीष्म और आचार्य द्रोणको अपने सामने विपक्षमें देखकर अर्जुनका छिपा मोह जग गया। इतना ही नहीं, भगवान्‌ने स्वयं कहा भी कि युद्धके लिये एकत्र कुरुवंशियोंको देख—

उवाच पार्थ पश्यैतान् समवेतान् कुरूनिति । (१ । २५)

यहाँ भगवान्‌ने 'धृतराष्ट्रके पुत्रोंको देख' यह न कह करके कुरुवंशियोंको देखनेके लिये कहा। इन वचनोंके प्रयोगमें भी स्पष्ट

ही अर्जुनका मोह जाग्रत करनेका भाव मालूम देता है। यदि 'कुरून् पश्य' की जगह 'धार्तराष्ट्रान् पश्य' कह देते तो शायद अर्जुनका मोह जाग्रत न होकर उनको युद्ध करनेका उत्साह ही विशेष बढ़ता, क्योंकि 'धार्तराष्ट्रस्य दुर्बुद्धेर्युद्धे प्रियचिकीर्षवः' (१।२३) यह अर्जुनने पहले ही कहा था। पाण्डव और धृतराष्ट्र दोनों ही उस कुरुवंशके थे, इस वास्ते 'कुरु' शब्दसे अर्जुनका मोह जाग्रत होना स्वाभाविक ही था। पहले युद्धकी भावनासे जिन्हें अर्जुन 'धार्तराष्ट्रस्य दुर्बुद्धेः' कह रहे थे, उन्हें ही अब वे स्वजन कहने लगे—'दृष्ट्वेमं स्वजनं कृष्ण' (१।२८)। युद्धमें स्वजनोंके मरनेकी आशङ्का है। इस मोहके कारण अर्जुन किंकर्तव्यविमूढ हो जाते हैं। फिर भी भगवान्के शरण होकर श्रेय (कल्याण) की बात पूछते हैं (२।७)। उससे भगवान् दिव्य गीताज्ञान सुनाते हैं। इससे पता चलता है कि अर्जुन गीता सुननेके लिये स्वयं उत्सुक नहीं हुए, प्रत्युत भगवान्के द्वारा उत्सुक किये गये। इस वास्ते यह 'भगवद्गीता' है, 'अर्जुनगीता' या 'कृष्णार्जुनगीता' नहीं। भगवद्गीता कहनेका तात्पर्य यही है कि इसमें श्रीकृष्णार्जुनसंवाद होते हुए भी भगवत्प्रेरित होकर ही अर्जुन बोल रहे हैं अर्थात् इसमें केवल भगवान्के वचन हैं

जनमेजय । महर्षि वैशम्पायनने संजय और धृतराष्ट्रके संवादको ध्यानमें रखते हुए ही गीताके परिमाणका कथन किया है ।

गीतामें २८ बार श्रीभगवानुवाच, २१ बार अर्जुन उवाच, ९ बार संजय उवाच और १ बार धृतराष्ट्र उवाच आया है । श्रीभगवानुवाच एवं भगवत्-शरणागतिके पश्चात् भगवत्प्रेरित 'अर्जुन उवाच' (१८ । ७३) को श्लोकात्मक मान लेनेपर गीताका परिमाण (७४५श्लोक) सिद्ध हो जाता है ।

पिङ्गलाचार्य-रचित 'पिङ्गलच्छन्दः सूत्रम्' ग्रन्थके अनुसार एक अक्षरका और एक पदका भी छन्द होता है । एक गाथाछन्द भी होता है, जिसमें अक्षरों और मात्राओंका भी नियम नहीं है । 'दुर्गासप्तशती' में भी 'उवाच'को पूरा श्लोक माना गया है । इस दृष्टिसे गीता-परिमाणमें भी 'उवाच'को पूरा श्लोक माननेमें आपत्ति नहीं होनी चाहिये । कुछ स्थानोंपर कई शङ्काएँ हो सकती हैं, जिनका समाधान आगे किया जा रहा है ।

गीता-परिमाणके अनुसार भगवान्‌के ६२० श्लोक हैं, जब कि गीताकी प्रचलित प्रतिके अनुसार ५७४ श्लोक ही होते हैं । अतः अब शेष ४६ श्लोकोंपर विचार करना है ।

सम्पूर्ण गीताको देखनेसे पता चलता है कि भगवान्‌के हृदयमें २८ बार बोलनेका भाव जाग्रत् हुआ है । इन २८ उवाचोंको श्लोक-गणनामें मान लिया जाना चाहिये । ये 'श्रीभगवानुवाच' होनेसे मन्त्र-स्वरूप हैं । इन भावमय भगवत्-श्लोकोंके मन्त्र-द्रष्टा संजय हैं । इसी प्रकार भगवत्-शरणागतिके पश्चात् तत्त्व-जिज्ञासुके

रूपमें भगवत्प्रेरित अर्जुन दूसरे अध्यायके ५४ वें श्लोकसे लेकर अठारहवें अध्यायके पहले श्लोकतक १७ बार बोले हैं। अतः २८+१७=४५ उवाच अपौरुषेय मन्त्रवत् हैं। इन ४५ उवाचोंको गीताकी प्रचलित प्रतिके अनुसार भगवान्के कहे हुए ५७४ श्लोकोंके साथ जोड़ देनेपर ६१९ श्लोक भगवान्के हो जाते हैं।

गीताकी प्रचलित प्रतिमें अन्तिम 'अर्जुन उवाच' (१८ । १) के बाद अठारहवें अध्यायका ७३ वाँ श्लोक भी अर्जुनका है; किन्तु गीता-परिमाणमें 'अर्जुन उवाच' सहित एक श्लोक मानकर उसे भगवान्के श्लोकोंमें ही शामिल किया गया है। इसके कारणोंका उल्लेख आगे किया जायगा।

भगवत्प्रेरित अर्जुन

श्रीभगवान्का अथवा किसी जीवन्मुक्त महापुरुष, अधिकारी कारक पुरुषका भाव जब किसी जीवके कल्याणके प्रति हो जाता है तो उसका उसी क्षण कल्याण निश्चित समझ लेना चाहिये; यद्यपि उसे इसका उसी क्षण अनुभव नहीं होता। उसे इसका पता बादमें चलता है; क्योंकि जब उसमें रहनेवाली कमियोंको भगवान् अथवा महापुरुष उस जीवके वचनोंमें शङ्काओंद्वारा प्रस्तुत कराकर दूर कर देते हैं, तब उसे अपने कल्याण (भगवानसे सहधर्मिता)का पता चलता है।

अर्जुनने जब एक अक्षौहिणी नारायणी सेनाको छोड़कर केवल निःशस्त्र भगवान्को ही स्वीकार किया, उसी समय भगवान्के हृदयमें अर्जुनके कल्याणका भाव जाग्रत हो गया; क्योंकि साधक जब वैभव

छोड़कर केवल भगवान्‌को स्वीकार कर लेता है, तब भगवान्‌पर उसके कल्याणका उत्तरदायित्व आ जाता है। भगवान्‌का अर्जुनके प्रति कल्याणका भाव हो जानेसे अर्जुनका कल्याण तो निश्चित हो ही गया, किन्तु उनमें रहनेवाली कमियोंको दूर करानेके लिये भगवान् उनसे शङ्काएँ करवाते हैं एवं उनका समाधान करके उन्हें वैसे ही नष्ट कर देते हैं, जैसे आग ईंधनको।

गीताको देखनेसे पता चलता है कि भगवत्-शरणागतिके बाद भगवत्प्रेरित अर्जुन १७ बार बोलते हैं। शरणागतिके बाद सर्वप्रथम अर्जुन दूसरे अध्यायके ५४वें श्लोकमें स्थितप्रज्ञके लक्षण आदिकी बात पूछते हैं। यहाँ भगवत्प्रेरित अर्जुन ही बोल रहे हैं। यदि अर्जुन भगवत्प्रेरित न होते तो उनकी शङ्काएँ युद्धके विषयमें ही होतीं। वे ऐसी शङ्काएँ ही करते कि युद्ध करना चाहिये या नहीं अथवा युद्ध कैसे करें आदि; क्योंकि युद्धका उद्देश्य लेकर ही वे युद्धभूमिमें आये थे। किन्तु यहाँ अर्जुन ऊँचे-से-ऊँचे अध्यात्म-तत्त्वकी बात (स्थितप्रज्ञके विषयमें) पूछ रहे हैं। इससे सिद्ध होता है कि अध्यात्म-विषयक ये शङ्काएँ, जो अर्जुनके अन्तःकरणमें थीं भगवान्‌की प्रेरणासे जाग उठीं। उन्हें ही भगवत्प्रेरित अर्जुन पूछ रहे हैं।

श्रीभगवान्‌द्वारा अर्जुनको शरणागत स्वीकार करनेके बाद लोकोपकारके लिये भगवत्प्रेरित अर्जुनद्वारा की हुई शङ्काओंके आरम्भमें 'अर्जुन उवाच'-रूप श्लोक महर्षि वेदव्यासके द्वारा लिखे गये हैं एवं उन्होंने उन श्लोकोंको गीता-परिमाणमें श्रीभगवान्‌के ही श्लोक माने

हैं; ऐसा प्रतीत होता है। महर्षि वेदव्यासजी अधिकार लेकर आये हुए कारक महापुरुष हैं। उनके कहे श्लोकोंको इधर-उधर करनेका किसे अधिकार है? जैसे उनके किये वेदोंके चार भाग आज भी चार ही माने जाते हैं एवं गीतामें भगवान्‌के लगातार बोलते रहनेपर भी भगवान्‌के उपदेशको स्पष्टरूपसे समझानेके लिये उसे भिन्न-भिन्न अध्यायोंके रूपमें विभक्त करके चौथे, छठे, सातवें, नवें, दसवें, तेरहवें, चौदहवें, पंद्रहवें और सोलहवें अध्यायके आरम्भमें पुनः 'श्रीभगवानुवाच'-रूप श्लोक देकर परिमाणमें उन्हें श्रीभगवान्‌के श्लोकोंमें सम्मिलित किया है, वैसे ही भगवत्प्रेरित अर्जुनद्वारा की हुई शङ्काओंके श्लोकोंके आरम्भमें 'अर्जुन उवाच'-रूप श्लोकोंको भी श्रीभगवान्‌के ही श्लोकोंमें सम्मिलित किया है। परंतु उन श्लोकोंमें शङ्काएँ अर्जुनकी अपनी होनेसे उन श्लोकोंको अर्जुनके श्लोकोंके साथ ही परिमाणमें सम्मिलित किया गया है।

जिस प्रकार अपने पूर्वके गोत्रको छोड़कर पत्नी पतिके ही गोत्रवाली हो जाती है एवं शिष्य गुरुके ही गोत्रवाला हो जाता है—'मालिकको गोत, गोत होत है गुलामको', पर उसकी आन्तरिक मान्यता अपनी ही रहती है, उसी प्रकार भगवत्प्रेरित (शरणागत) अर्जुनके कहनेके भाव उठनेमें तो केवल भगवान्‌की ही प्रेरणा है और शङ्काएँ उनकी अपनी होनेसे व्यक्तिगत (अर्जुनकी) ही मानी जायँगी। यदि दूसरे अध्यायके ५४वें श्लोकसे लेकर अठारहवें अध्यायके पहले श्लोकतक आये 'अर्जुन उवाच'के बाद कहे हुए श्लोक अर्जुनके स्वयंके शङ्का-द्योतक नहीं

'हे दयामय गुरुदेव ! कृपा करके यह बताइये कि अपार संसाररूप समुद्रमें मुझ डूबते हुएका आश्रय क्या है ? (गुरुका उत्तर मिलता है—) विश्वपति परमात्माके चरणकमलरूप जहाज ।'

इसी प्रकार यहाँ भी अठारहवें अध्यायके ७२ वें श्लोकमें भगवान्‌का प्रश्न 'अर्जुनका मोह नष्ट हुआ या नहीं ?' यह जाननेके लिये नहीं है। कारण कि भगवान् सर्वज्ञ हैं। वे नाटकके सूत्रधारकी तरह संसाररूप नाटकको पूरा जानते हैं। वे जानते हैं कि अर्जुनका मोह नष्ट हो गया है। इसीलिये वे अठारहवें अध्यायके ६६ वें श्लोकमें अपने उपदेशका उपसंहार कर देते हैं और फिर गीताके अनधिकारी और अधिकारीका वर्णन करके गीताका माहात्म्य बतला देते हैं। इसका अभिप्राय यह हुआ कि भगवान्‌ने पहलेसे ही यह जान लिया है कि अर्जुनका मोह अब सर्वथा नष्ट हो गया है। तभी तो वे अपने उपदेशका उपसंहार कर देते हैं, जब कि अर्जुनने अभीतक मोह नष्ट होना स्वीकार नहीं किया है।

अन्य परीक्षक तो 'परीक्षार्थी क्या जानता है ?' इसे जाननेके लिये ही परीक्षा लेते हैं अर्थात् जानते हुए भी उनमें अज्ञान दीखता है; किंतु भगवान्‌की परीक्षा जीव (भक्त) को उसकी वास्तविक स्थिति जनानेके लिये होती है अर्थात् वे दिखाते हैं कि तू देख ले, तेरी स्थिति यहाँतक है। भगवान् तो सर्वज्ञ होनेसे सबको जानते ही हैं। इसके प्रमाणके लिये गीतामें ही देखा जाय तो पता लग जाता है। जैसे, ग्यारहवें अध्यायके पहले श्लोकमें **'मोहोऽयं विगतो मम'** कहकर अर्जुन अपने मोहका चला जाना स्वीकार

उसी प्रकार मोहनाशके बाद अर्जुनके 'भगवत्स्वरूप' होनेसे अठारहवें अध्यायका ७३ वाँ श्लोक भी भगवान्का ही माना गया है।

अठारहवें अध्यायके ७३वें श्लोकको भगवान्का माननेपर यह शङ्का हो सकती है कि भगवान् स्वयं ही 'नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादात्......' आदि पदोंको अपने प्रति कैसे कह सकते हैं? ये शब्द तो साधक (अर्जुन) के ही होने चाहिये। इसका समाधान यह है कि यदि गम्भीरतापूर्वक विचार करें तो स्पष्ट प्रतीत होगा कि मोह सर्वथा नष्ट होनेसे अर्जुनकी भगवान्के साथ एकता हो गयी। अर्जुनका अपना कुछ नहीं रहा, वे सर्वथा भगवान्के हो गये। उनके द्वारा होनेवाली सभी क्रियाएँ भगवान्की ही हुईं। इस वास्ते जीव भावविनिर्मुक्त भगवत्-साधर्म्य-प्राप्त अर्जुनका यह श्लोक तत्त्वदृष्टिसे भगवान्का ही कहा हुआ माना जा सकता है। कारण कि मोह सर्वथा नष्ट हो जानेपर भक्त और भगवान्में कोई भेद नहीं रहता—'तस्मिंस्तज्जने भेदाभावात्' (नारद-भक्तिसूत्र ४१)। स्वयं भगवान्के वचन हैं—'ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्' (गीता ७। १८) 'ज्ञानी भक्त तो मेरा स्वरूप ही है, ऐसा मेरा मत है' और 'मम साधर्म्यमागताः' (गीता १४। २) 'भक्त मेरी सधर्मिताको प्राप्त हुए हैं' *। भगवत्-

* गीतामें भगवान् और महापुरुष (भगवद्भक्त) के लक्षणोंमें सधर्मिताका वर्णन निम्नाङ्कित श्लोकोंमें इस प्रकार हुआ है—

(१) भगवान् कहते हैं कि त्रिलोकीमें मेरे लिये कुछ भी कर्तव्य नहीं है—'न मे पार्थास्ति कर्तव्यं' (३। २२), ... किञ्चित् भी प्राप्त

श्लोकमें अर्जुनने भगवान्‌से और अठारहवें अध्यायके तिहत्तरवें श्लोकमें भगवान्‌ने अर्जुनसे विशेष सम्बन्ध जोड़ा है। और दूसरे, गीता 'श्रीकृष्णार्जुनसंवाद' है। जहाँ संवाद होता है, वहाँ सम्बन्ध तो रहता ही है। भगवान्‌ने अर्जुनकी शङ्काओंका समाधान किया—यह शब्दसे होनेवाला शक्तिपात है। कृपा-दृष्टिके द्वारा प्रकट होती है। भगवान् अर्जुनको कृपापूर्वक देखते हैं—यह दृष्टिसे होनेवाला शक्तिपात है। भगवान् अर्जुनका कल्याण करना चाहते हैं—यह मनसे होनेवाला शक्तिपात है।

सभी जीव भगवान्‌के अंश होनेके नाते मानो उनके अण्डे हैं। यदि जीव सर्वथा भगवान्‌के शरण हो जाय तो उसका मोहरूप आवरण नष्ट हो जाता है और उसे भगवत्-साधर्म्यकी स्मृति प्राप्त हो जाती है। अर्जुनका मोहरूप आवरण नष्ट हो गया है—**'नष्टो मोहः'** और उन्हें स्मृति प्राप्त हो गयी है—**'स्मृतिर्लब्धा,'** इस वास्ते अब उनमें और भगवान्‌में भेद नहीं रहा है।

दूसरी बात, यदि सुननेवाला वक्तासे अभिन्न नहीं हुआ तो वास्तवमें उसने सुना ही नहीं। विद्यार्थी पण्डितसे पढ़कर खुद पण्डित नहीं बना तो वास्तवमें उसने पढ़ा ही नहीं। ऐसे ही गुरुके पास जाकर भी यदि शिष्य संसारका गुरु अर्थात् तत्त्वज्ञ, जीवन्मुक्त नहीं बना तो वास्तवमें उसने गुरुका उपदेश सुना ही नहीं अथवा उसे सच्चे गुरु मिले ही नहीं *।

---

* पारस केरा गुन किसा, पलटा नहीं लोहा।
कै तो निज पारस नहीं, कै बीच रहा बिछोहा॥

त्वत्प्रसादान्मयाच्युत'। तात्पर्य यह है कि अर्जुनने अपने सुननेके आधारपर मोहनाश होना नहीं माना, प्रत्युत केवल भगवत्कृपाको ही माना। इससे स्पष्ट है कि उनका अहंभाव सर्वथा मिट गया था। तभी तो उनकी दृष्टि केवल कृपाकी ओर है। अतएव भगवत्-साधर्म्यप्राप्त अर्जुनके ये वचन भगवान्के ही माने गये हैं।

एक शङ्का यह भी हो सकती है कि 'अर्जुन उवाच' एवं उसके बादका यह (१८। ७३ वाँ) श्लोक—दोनोंको मिलाकर एक ही श्लोक क्यों माना गया? 'उवाच'को अलग श्लोक क्यों नहीं मानते? इसके समाधानमें एक बात तो यह है कि यहाँ 'उवाच' भगवान्के वचनोंके ही अन्तर्गत है, उनसे अलग नहीं। दूसरी बात यह है कि यहाँ 'उवाच'को अलग माननेपर पुनरुक्ति होगी; क्योंकि अठारहवें अध्यायके दूसरे श्लोकसे ७२वें श्लोकतक भगवान् ही तो बोल रहे हैं। अतएव सम्पूर्ण गीतामें यह पहली पुनरुक्ति बचानेके लिये ही ऐसा किया गया है।

शरणागतिसे पूर्व 'अर्जुन उवाच'

एक प्रश्न होता है कि गीता-विभागमें भगवत्-शरणागति (२। ७) के बाद अठारह बार आये 'अर्जुन उवाच' (१७बार 'उवाच' एवं एक बार अन्तिम श्लोक) को ही भगवान्के वचनोंके अन्तर्गत क्यों शामिल किया गया? और शरणागतिसे पहले (१।२१ एवं १।२८ श्लोकके बीच और २। ३ श्लोकके बाद) आये तीन 'अर्जुन उवाच'को क्यों छोड़ा गया?

इसका उत्तर यह है कि भगवत्-शरणागतिसे पहले अर्जुन जो तीन बार बोले हैं, वे तीनों **'अर्जुन उवाच'** संजयके ही वचनोंके अन्तर्गत हैं। अतः उन्हें भगवान्‌के वचनोंमें सम्मिलित नहीं किया गया है। संजय राजा धृतराष्ट्रसे कह रहे हैं कि अर्जुन ऐसा-ऐसा बोले। पहले अध्यायके 'अर्जुन उवाच'के आरम्भ और अन्त—दोनों ही स्थलोंपर आये **'आह'**, **'उक्त्वा'**, **'अब्रवीत्'** आदि पदोंको देखनेसे यह स्पष्ट हो जाता है कि अर्जुनके वचनोंको संजय ही अपने शब्दोंमें बोल रहे हैं; जैसे—**'पाण्डवः'** (१।२०), **'इदमाह महीपते'** (१ । २१), **'एवमुक्तो हृषीकेशः'** (१।२४), **'कौन्तेयः'** (१।२७), **'इदमब्रवीत्'** (१।२८), और **'एवमुक्त्वार्जुनः'** (१ । ४७) आदि पदोंको तथा दूसरे अध्यायके 'अर्जुन उवाच'के बाद **'एवमुक्त्वा हृषीकेशं गुडाकेशः परंतप'** एवं **'न योत्स्य इति'** (२ । ९)।

दूसरे अध्यायके चौथे श्लोकमें 'अर्जुन उवाच'के आरम्भमें ऐसे पद नहीं मिलते कि आगे आनेवाले अर्जुनके वचन संजय ही बोल रहे हों। कारण कि पहले अध्यायमें अर्जुनने युद्ध न करनेके लिये भगवान्‌के सामने जो युक्तियाँ रखीं, उन सबका युक्तिसंगत उत्तर दिये बिना ही भगवान्‌ने एकाएक (२ । २-३ में) अर्जुनको कायरतारूप दोषके लिये फटकारा और युद्धके लिये खड़े हो जानेकी आज्ञा दे दी। इस आज्ञाने अर्जुनके भाव उद्वेलित कर दिये। वे कायर बनकर युद्धसे विमुख नहीं हो रहे थे, प्रत्युत धर्मके भयसे, धर्मभीरु बनकर युद्धसे उपरत हो रहे थे। वे मरनेसे नहीं, प्रत्युत

'न योत्स्ये' 'युद्ध नहीं करूँगा' पदोंसे अर्जुनके वचन स्पष्टरूपसे संजय अपने वचनोंमें कहते हैं।

अब यह प्रश्न हो सकता है कि जब अर्जुनके श्लोकोंको इस प्रकार संजयके श्लोकोंके अन्तर्गत मानते हैं तो फिर ग्यारहवें अध्यायमें संजयके वचनोंमें **'एवमुक्त्वा'**(११ । ९), **'एतच्छ्रुत्वा'** (११ । ३३) और **'इत्यर्जुनम्'** (११ । ५०) पद भगवान्-द्वारा कथित श्लोकोंके बाद हैं तथा अठारहवें अध्यायमें **'इत्यहम्'** (१८ । ७४) पद भगवत्-साधर्म्यप्राप्त अर्जुनद्वारा कथित ७३वें श्लोकके बाद है। अतः इन पदोंसे निर्दिष्ट ये भगवान्के श्लोक भी संजयके ही वचन क्यों न मान लिये जायँ ? यद्यपि इसका उत्तर सामान्य रीतिसे अन्यत्र भी दिया जा चुका है, फिर भी यहाँ कहा जा सकता है कि भगवान्के श्लोक किसी प्रकार क्यों न आयें, वे भगवान्के ही माने जा सकते हैं। दूसरी बात, संजय वेदव्यास-प्रदत्त दिव्य-दृष्टिसे सम्पन्न हैं और अर्जुनको भी भगवान्ने दिव्य-दृष्टि दी है (११ । ८)। अतः ग्यारहवें अध्यायमें संजयकी दिव्य-दृष्टि भगवत्प्रदत्त दिव्यदृष्टिसे अभिन्न हो जाती है, जिससे संजय श्रीकृष्ण और अर्जुनके वचन ही बोलते हैं न कि अपने वचन।

एक बात और है कि श्रीकृष्णार्जुनसंवादरूप गीताशास्त्र राजा धृतराष्ट्रको संजय सुना रहे हैं, जिसमें विवेचन करते हुए उन्होंने उपर्युक्त पदोंका प्रयोग किया है। संजय भगवत्-वाणीरूप मन्त्रके द्रष्टामात्र हैं। अतः भगवत्कथित श्लोक भगवान्के ही मानने चाहिये।

गीताका मूल यह इतिहास-भाग ही है, जिसके आधारपर उपदेश-भाग टिका हुआ है। इन दोनों भागोंमें इतिहास-भाग संजय-कथनके अन्तर्गत है और उपदेश-भाग श्रीकृष्णार्जुन-संवादके अन्तर्गत है। इतिहास-भागमें आया अर्जुन-कथन ही संजय-कथनमें लीन होगा न कि भगवत्कथन। कारण कि भगवान्‌की महिमा कहीं भी कम नहीं रह पाती, चाहे इतिहास हो या उपदेश।

एक प्रश्न यह भी हो सकता है कि यदि गीतामें आये सभी भगवत्-वचनोंको भगवान्‌के श्लोकोंकी गणनामें लेना आवश्यक है, तो फिर पहले अध्यायके २५वें श्लोकमें आया '**पार्थ पश्यैतान् समवेतान् कुरून्**' भी तो भगवान्‌का वचन है। अतः इसे भी परिमाणमें भगवान्‌के श्लोकोंके साथ क्यों नहीं सम्मिलित किया गया? इसके उत्तरमें पहली बात तो यह है कि पहले अध्यायका २५ वाँ श्लोक पूरा भगवान्‌द्वारा कथित नहीं है, प्रत्युत इस श्लोकके उत्तरार्धमें आये केवल ग्यारह अक्षर ही भगवान्‌के कहे हुए हैं। अतः पूरा श्लोक न होनेसे परिमाणमें सम्मिलित नहीं किया जा सकता। दूसरी बात, महर्षि वेदव्यासने ('श्रीभगवानुवाच' पद न देकर) इसे भगवान्‌का स्वतन्त्र श्लोक नहीं माना है, संजयके वचनोंमें ही माना है। अतः स्वतन्त्ररूपसे भगवत्कथित श्लोक न होनेसे भगवान्‌के श्लोकोंमें शामिल नहीं किया गया है। तीसरी बात, भगवान् इस श्लोकमें अर्जुनके निर्देशानुसार (१।२१-२२) सारथिरूपसे बोल रहे हैं। अतः यह श्लोक स्वतन्त्ररूपसे भगवद्वाणी न होनेसे भगवान्‌के श्लोकोंमें सम्मिलित नहीं किया जा सकता।

'श्रीभगवानुवाच'की पुनरुक्ति क्यों ?

गीताके परिमाणमें यह एक आवश्यक प्रश्न हो सकता है कि अध्यायोंके आरम्भमें आये 'श्रीभगवानुवाच'को परिमाणकी गणनामें दूसरी बार पुनः सम्मिलित क्यों किया गया, जबकि पहलेसे भगवान् ही तो बोलते आ रहे हैं; जैसे तीसरे अध्यायके सैंतीसवें श्लोकसे भगवान् ही बोल रहे हैं, फिर भी चौथे अध्यायके आरम्भमें 'श्रीभगवानुवाच'को परिमाणकी गणनामें श्लोकरूपसे पुनः सम्मिलित क्यों किया गया ?

इसका उत्तर यह है कि गीता साक्षात् भगवान् श्रीकृष्णके मुखारविन्दसे निकली वाणी है। कारक पुरुष महर्षि वेदव्यासजी इसके संकलनकर्ता हैं और उन्होंने ही पूरे ग्रन्थको अठारह अध्यायोंमें विभक्त किया है। श्रीभगवान्के वचन चालू रहते हुए भी उन्होंने चौथे अध्यायके आरम्भमें 'श्रीभगवानुवाच'—पद श्लोक दिया है। यही बात अन्य (६ठे, ७वें, ९वें, १०वें, १३वें, १४वें, १५वें और १६वें) अध्यायोंके विषयमें भी समझनी चाहिये। कारण कि अधिकार-प्राप्त आप्तपुरुष होनेसे महर्षि वेदव्यासजीके वचन सभीको सदा सर्वमान्य हैं। उन्होंने ही इस कारण जैसे वेदको सरलतया समझनेके लिये उसको अलग-अलग चार भागोंमें विभक्त किया है, वैसे ही गीतामें भगवान्के दिये उपदेशको जैसा अनुभव किया, वैसा स्पष्ट समझानेके लिये उसे अलग-अलग अध्यायोंमें विभक्त किया है।